पखावज और तबला

के

घरानें एवं परम्परायें

(पखावज और तबला के घरानों एवं परम्पराओं के उद्भव,
विकास तथा वादन शैलियों का शोधपूर्ण विवेचन)

लेखिका
डॉ० आवान ए० मिस्त्री
साहित्यरत्न, संगीत प्रवीण, संगीताचार्य, ताल मणि, चर्मवाद्य तबला भूषण

प्रकाशक
पं० केकी एस० जिजिना
स्वर साधना समिति, बम्बई

प्रथम संस्करण] सन् १९८४ ई० [मूल्य : १००.००

प्रकाशक
पं० केकी एस० जिजिना
स्वर साधना समिति,
वाडिया संगीत क्लास
ज़ेर एनेक्स, जम्बुलवाड़ी, धोबी तालाव,
बम्बई-४०० ००२,
दूरभाष : २५१७६५

●

[सर्वाधिकार लेखिकाधीन]

●

मूल्य : रु० १००.०० मात्र

●

पुस्तक प्राप्ति-स्थान
१—प्रकाशक (बम्बई).
२—संगीत सदन प्रकाशन
८८, साउथ मलाका, इलाहाबाद-२११००३
दूरभाष : ५४६७३

●

आवरण सज्जा—श्री एम० ओ० तलवडेकर

●

मुद्रक : जय हनुमान प्रिंटिंग प्रेस,
१-सी. बाई का बाग, इलाहाबाद

माँ – तेरा तुझको अर्पण

– आवान

लेखिका के विषय में

संगीत कला को पूर्णतः समर्पित पारसी महिला आबान ए० मिस्त्री ने केवल चार वर्ष की अल्प आयु में ही संगीत में प्रवेश किया। आपने गायन की प्रारम्भिक शिक्षा अपनी मौसी कुमारी मेहरो वकिंग बाक्सवाला से और उसमें परिपक्वता प० लक्ष्मण राव बोडस के कुशल मार्ग दर्शन मे प्राप्त किया। इसी काल मे आपने निरन्तर सात वर्षों तक गुरु प० केकी एस० जिजिना से सितार और तबले की शिक्षा प्राप्त की और अभी भी जब अवसर मिलता है पं० जिजिना जी से ज्ञानार्जन प्राप्त करती है। आबान जी को सुप्रसिद्ध तबला नवाज़ उस्ताद अमीर हुसैन खां जैसे विद्वान् से वर्षों तक तालीम प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। आपने संगीत शास्त्र का ज्ञान बम्बई के सुप्रसिद्ध विद्वान् श्री जयसुख लाल साह से प्राप्त किया है।

डा० आबान मिस्त्री ने संगीत विशारद (सितार), संगीत अलंकार एवं संगीत प्रवीण (गायन) तथा हिन्दी और संस्कृत मे साहित्य रत्न की परीक्षा ससम्मान उत्तीर्ण की है। आपने विद्वान् प्रो० बी० आर० आठवले के निर्देशन में 'पखावज और तबला के घरानें; उद्भव, विकास एवं विविध परम्परायें' विषय पर शोध प्रबन्ध लिखकर एवं प्रकाशित कर संगीत की अमूल्य सेवा की है। गान्धर्व महाविद्यालय मंडल ने आपको इसके लिये संगीताचार्य की उपाधि से अलंकृत किया है। इस शोध कार्य के लिये आपने वर्षों तक देश के कोने-कोने में भ्रमण करके दुर्लभ सूचनायें एकत्रित की हैं। मुझे दृढ़ विश्वास है कि इससे आने वाली पीढ़ी को आगे कार्य करने की दृष्टि मिलेगी।

आबान जी देश की अग्रणी महिला तबला वादिका हैं और सम्भवतः आप पहली महिला कलाकार हैं जिनका एक ग्रामोफोन रिकार्ड भी तैयार हुआ है। 'ताल मणि' एवं 'चर्म वाद्य तबला भूषण' आदि उपाधियों से अलंकृत आबान जी ने देश के अतिरिक्त यूरोपीय एवं खाड़ी के देशों में भ्रमण कर भारतीय संगीत का प्रचार किया है एव यश अर्जित की है।

बम्बई की संगीत सेवी संस्था 'स्वर साधना समिति' की आप संस्थापक व संरक्षक हैं। आपके प्रयास से ही समिति के मंच से देश के कोने-कोने के कलाकार प्रत्येक माह अपना प्रदर्शन करते हैं। संस्था के अन्तरगत संचालित 'वाडिया संगीत क्लास' में आप पिछले बीस वर्षों से संगीत शिक्षा भी दे रही हैं। आपके प्रतिभावान छात्रों में गुरुपुत्र श्री सपलजिजिना, श्री आदिल मिस्त्री एवं मास्टर सुरेश सिंगाडे का नाम उल्लेखनीय है।

संगीत जगत को डा० आबान जैसे कर्मठ संगीत सेवियों की नितान्त आवश्यकता है। अतः ईश्वर से प्रार्थना है कि आप स्वस्थ एवं दीर्घायु हों, जिससे संगीत जगत अधिक लाभान्वित होता रहे।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
दशमी, ४ अक्टूबर १९८४

गिरीश चन्द्र श्रीवास्तव

मेरी बात

माँ भगवती की असीम कृपा एवं पूज्य गुरुओं के आशीर्वाद के फलस्वरूप यह अल्प कार्य पूर्ण करने में सफल हो सकी हूँ, जो परम कृतज्ञता एवं श्रद्धा-भक्ति सहित 'माँ' के चरणों में समर्पित है।

भारतीय संगीत का भव्य भवन सुर और ताल पर आधारित होते हुए भी ताल शास्त्र, उसके वाद्य, उनका इतिहास, वाद्यों के आविष्कार का समय, उनकी वादन विधियाँ एवं शैलियाँ, उनके वादक तथा ताल सम्बन्धी अन्य अनेक बातों पर प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध नहीं होती। उसका मुख्य कारण यह है कि मध्य युग में हमारा ताल-कला वैभव अशिक्षित कलाकारों के द्वारा मौखिक रूप से तथा वंश परम्परागत चलता रहा। अतः इस विषय से सम्बन्धित आधार-भूत पुस्तकें बहुत ही कम लिखी गयीं, जिनकी कमी अब अखर रही है। यही कारण है कि ताल सम्बन्धी अनेक विषयों पर विद्वानों में मतभेद है तथा अनेक निराधार मान्यतायें प्रचलित हो गयी हैं। प्रस्तुत पुस्तक में इसी प्रकार के अनेक जटिल प्रश्नों के समाधान ढूंढ़ निकालने का निष्ठापूर्वक प्रयास किया गया है। इसमें मुझे कहाँ तक सफलता मिली है इसका निर्णय आप पर छोड़ती हूँ।

भारत जैसे इस विशाल देश में न जाने कितने कलाकार बिखरे पड़े हैं। उनमें से कुछ महान् विभूतियों के नाम से तो संगीत जगत् परिचित है किन्तु अनेक ऐसे विद्वान् संगीतकार हो गये हैं या हैं जिनके विषय में लोगों को विशेष जानकारी नहीं है या उनका यश एक छोटी सी परिधि में ही सिमट कर रह गया है। ऐसे कलाकारों के विषय में जानकारी एकत्र करके प्रकाश में लाना एवं ताल सम्बन्धी अनेक विवादग्रस्त विषयों का सर्वमान्य हल निकालना इस योजना का लक्ष्य था।

इस शोध कार्य के निमित्त विभिन्न भाषाओं के सभी उपलब्ध ग्रन्थों का यथा सम्भव अध्ययन करके उसका सारांश निकालने का प्रयत्न किया गया है। संगीत मुख्यतः एक क्रियात्मक विषय है अतः इससे संबंधित देश के विभिन्न अंचलों के सैकड़ों कलाकारों एवं महारथियों का साक्षात्कार लेकर अधिकाधिक विषय के मूल मे जाने का प्रयास किया गया है जिससे ठोस और आधिकारिक जानकारी प्रकाश में आ सके।

प्रस्तुत शोध के स्रोत के सम्बन्ध में नौ वर्ष पूर्व की एक संध्या की घटना बरबस याद आ जाती है जब सुप्रसिद्ध गायनाचार्य प्रो० वी० आर० आठवले ने मुझसे प्रश्न किया था कि सुप्रसिद्ध तबला वादक कामुराव मंगेश्कर के गुरु कौन थे ? मैं उत्तर न दे सकी। फिर एक विचार आया कि इस विशाल देश में ऐसे ही कितने आजीवन संगीत साधक काल के गर्त में विलीन होते गये और लोग उनको विस्मृत करते गये। इस संवेदना ने मुझे ऐसा झकझोर दिया कि मैंने अपने शोध का विषय ही इसी से सम्बन्धित चुन लिया और उस प्रश्नकर्ता से ही मैंने मार्ग निर्देशन का आग्रह किया जिसे स्वीकार कर प्रो० आठवले ने मुझे अनुग्रहीत किया।

कार्य के आरम्भ के समय क्षेत्र बम्बई तक ही सीमित था। फिर महाराष्ट्र प्रान्त तक

विस्तृत हुआ और अन्त में राज्य की परिधि को लांघ कर पूरे देश तक फैल गया। आखिर कला का क्षेत्र जाति, धर्म, प्रान्त तक सीमित रहे, तो क्यों ? नौ वर्ष पूर्व वह चिन्गारी जो प्रश्न बन कर दिल में चुभी थी, आज लम्बे परिश्रम के पश्चात् आपके सामने पुस्तक के रूप में प्रस्तुत है। यह शोध का एक भाग ही है। अन्य विषयों को, जिनमें तबला-पखावज वादकों की जीवनी, उनकी वादन-शैली एवं तकनीक तथा उस्तादो की दुर्लभ रचनाओं का विपुल भण्डार है, यदि माँ भगवती की कृपा इसी प्रकार बनी रही तो भविष्य में पुस्तकों के रूप में प्रकाश में लाने का प्रयास करूँगी।

यह शोध प्रबन्ध दो खण्डों में विभक्त है। पहले में पखावज तो दूसरे में तबला पर विचार किया गया है। प्रथम खण्ड के पहले अध्याय में संगीत में घरानें के विविध पहलुओं पर प्रकाश डाला गया है जिनमें संगीत में घराना, उद्‌भव, स्वरूप एवं विकास के अन्तर्गत ऐतिहासिक दृष्टिकोण, उद्‌भव के पूर्व और पश्चात् की स्थिति, संगीत शिक्षा की समस्यायें एवं आज के परिप्रेक्ष्य में घरानों की उपयोगिता आदि विषयों पर चर्चा की गयी है। शेष अन्य द्वादश अध्यायों में पखावज के विभिन्न घरानों एवं परम्पराओं जैसे कुदऊसिंह, नाना पानसे, जावली, नाथद्वारा, व्रज इत्यादि की वादन शैलियों पर विस्तार से विचार किया गया है। यह प्रयत्न रहा है कि देश के कम से कम प्रसिद्ध पखावज से सम्बन्धित व्यक्ति छूटने न पायें।

पुस्तक का दूसरा खण्ड तबले को समर्पित है। आज के इस लोकप्रिय ताल वाद्य के विषय में सबसे बड़ी विडम्बना यह है कि अभी तक इसके जन्म के इतिहास के सम्बन्ध मे एक मत नही हो पाया। इस तथ्य को खोज निकालने में मैंने भरसक प्रयत्न किया है। शेष दस अध्यायों में तबले के सभी प्रचलित घरानों जैसे दिल्ली, अजराडा, लखनऊ, फरुखाबाद, बनारस एवं पंजाब तथा देश भर की अन्य खोयी बिखरी परम्पराओ को कुछ पृष्ठों में सिमेटने का प्रयास किया है। पुस्तक की दूसरी विशेषता प्रत्येक घरानें की वंशावली की लगभग ३३ तालिकायें है। प्रयास यह रहा कि किसी भी तालिका को देख कर उस घरानें अथवा परम्परा की वंशावली की अधिक से अधिक जानकारी मिल जाए।

यूं तो इस शोध कार्य में अनेक बाधाएं आईं, किन्तु उनमें आर्थिक समस्या सबसे विकट थी। तीन-चार पारसी संस्थाओं के अतिरिक्त किसी भी स्रोत से कोई प्रोत्साहन नही मिला। चूंकि इस कार्य में निरन्तर भ्रमण करना पड़ता था, अतः सदा ही आर्थिक अभाव आड़े आता रहा। परन्तु जहां चाह है वहां राह है। हमारे अनेक हितैषियों एवं शुभचिन्तकों की प्रेरणा ने किसी भी विषम परिस्थिति की चुनौती को स्वीकार करने का आत्मबल दिया। मुझे वे दिन याद आते हैं जब किसी भ्रमण के पूर्व अपने कार्यक्रमो से अर्जित धन को उस कार्य के लिये मैं संचित रखती थी। इस सपूर्ण कार्य में सबसे महत्वपूर्ण भूमिका हमारे पूज्य गुरुवर्य पं० केकी एस० जिजिना की रही। गुरु जी ने अत्यन्त कष्ट सहन करके कितनी ही प्रतिकूल परिस्थितियो में मेरे भ्रमण एवं कलाकारों के साक्षात्कार लेने में पूर्ण सहयोग दिया। समय-समय पर उनका बहुमूल्य मार्गदर्शन, प्रोत्साहन एवं नैतिक बल मुझे प्रेरणा देता रहा। यह लिखने में मुझे लेशमात्र संकोच नहीं है कि प्रस्तुत शोध प्रबन्ध उन्हीं के सद् प्रयासों का प्रतिफल है। अत्यंत भक्ति एवं कृतज्ञतापूर्वक मैं उनका ऋण स्वीकार करती हूँ। इस कार्य को संपन्न करने में मेरी वयोवृद्ध पूज्य माता श्रीमती सोरबेद तथा पिता श्रीमान् एरचशाह पी० मिस्त्री का आशीर्वाद एवं सर्वांगीण सहयोग अतुलनीय रहा है। क्या मैं उनसे उऋण हो सकती हूँ ?

परम आदरणीय गुरुजी

पं० केकी एस० जिज़िना

जिनके मार्ग दर्शन एवं प्रेरणा

से मैं किसी योग्य हो सकी हूँ।

गुरुवर्य गायनाचार्य प० लक्ष्मण राव एस० बोडस

गुरुवर्य तबला नवाज़ उस्ताद अमीर हुसेन खाँ

हमारे प्रेरणा श्रोत

य पिता श्री एरच शाह पी० मिस्त्री

पूज्य माता श्रीमती खोरशेद एरच मिस्त्री

हमारे अनेक हितैषियों में से श्री जितेन्द्र आर० जवेरी, श्रीमती सावित्री जि० जवेरी, श्रीमती मधु बहन, सी० शाह, श्री केकी जाल पटेल, पं० वी० बलसारा (कलकत्ता), स्व० कु० धन नवाज इन्दोरवाला, डॉ नलीन एम० कापडिया, श्रीमती नीना एन० कापडिया, श्री मित्तर वेदी, श्री इन्द्रजीत एन० नालावाला, श्री अदी छोंडी, श्री आदिल मिस्त्री, श्री तलवडेकर तथा स्वर साधना समिति के अनेक सम्मानित सदस्यों की तथा आवरण की आकर्षक सज्जा के लिये कलाकार श्री परसी बी० भाटेना की हृदय से आभारी हूँ जिनके साथ और सहयोग ने मुझे सतत प्रेरणा दी।

यह तो हमारे सहयोगियों के मात्र कुछ ही नाम हैं। इनके उपरान्त भी देश के अनेक ऐसे कलाकार, शास्त्रज्ञ, संस्थाएँ एवं मित्रों से सहायता मिली है, जिनका उल्लेख करना यहाँ कठिन है। मैं उनका आभार स्वीकार करती हूँ।

देश के सुप्रसिद्ध विद्वान् स्वामी प्रज्ञानन्द जी (कलकत्ता) ने तबले के आविष्कार की खोज के सम्बन्ध में जो दृष्टि दी वह अमूल्य सिद्ध हुई। मैं उनके प्रति कृतज्ञ हूँ।

संगीत दर्शन एवं पुरातत्व के मूर्धन्य विद्वान् तथा संगीत, दर्शन एवं संगीत शास्त्र के उद्भट पंडित ठाकुर जयदेव सिंह ने इस पुस्तक का आमुख लिख कर इसके महत्व को द्विगुणित कर दिया है। उनकी इस कृपा के लिये आभार व्यक्त करने में मैं शब्दहीन हूँ।

इस आभार प्रदर्शन की परिसमाप्ति उस समय तक पूर्ण नहीं होती जब तक कि मैं अपने बन्धु तुल्य मित्र एवं सुप्रसिद्ध तबला वादक श्री गिरीश चन्द्र श्रीवास्तव तथा उनके अग्रज श्री हरिश्चन्द्र श्रीवास्तव को साधुवाद न दे दूँ। मेरे जैसी अहिन्दी भाषी एवं बम्बई निवासी व्यक्ति चाहे कितनी सावधानी क्यों न बर्तें, कहीं न कहीं भाषा सम्बन्धी त्रुटि रह ही जाती है। गिरीश भाई ने अपना अमूल्य समय देकर हमारी इस कमी को दूर करने में सहायता की है। इन 'चन्द्र' बन्धुओं ने पुस्तक के मुद्रण एवं प्रकाशन का समस्त भार अपने ऊपर लेकर मुझे इस बोझ से मुक्त कर दिया। मैं उनका क्या आभार मानूं ? केवल इतना ही कहूँगी कि ऐसे मित्र भाग्य से ही मिलते हैं।

यह पुस्तक मेरा प्रथम प्रयास है। इसमें अनेक त्रुटियों की सम्भावना है। इसके लेखन एवं इसकी संलग्न तालिकाओं में कुछ महत्वपूर्ण सूचनाएँ छूट सकती हैं जिसके लिये मैं क्षमा प्रार्थी हूँ। इस सम्बन्ध में जो भी सुझाव आयेंगे मैं उनका हृदय से स्वागत करूँगी और आगामी संस्करण में तदनुसार सुधार करके पुस्तक को अधिक उपयोगी बनाने का प्रयास करूँगी।

विद्यार्थी, शोधार्थी, ताल शास्त्र के विद्वान् तथा संगीत प्रेमीजन यदि इस पुस्तक से कुछ भी लाभान्वित हो सके तो मैं अपना परिश्रम सार्थक समझूँगी।

विजय दशमी,
४ अक्टूबर १९८४

आबान ई० मिस्त्री

अनुक्रमणिका

द्वितीय खण्ड—तबला

तालिका-अनुक्रमणिका

आमुख

भारतीय संगीत में गायन, वादन और नृत्य तीन की गणना होती है। गायन में स्वर, ताल और पद की प्रधानता रहती है, वादन में स्वर और ताल की, नृत्य में स्वर गौण हो जाता है, ताल, मुद्रा, करण, अंगहार, चारी,स्थान, गति इत्यादि की प्रधानता आ जाती है। किन्तु चाहे गायन हो, चाहे वादन, चाहे नृत्य ताल की विशेषता सब में बनी रहती है।

ताल शब्द ही संस्कृत के तल् धातु से निष्पन्न हुआ है। 'तल् प्रतिष्ठायाम्'। अर्थात् 'तल्' धातु का अर्थ प्रतिष्ठित अर्थात् स्थापित होना है।

ताल वह है जिस पर गीत, वाद्य और नृत्य सभी प्रतिष्ठित अर्थात् स्थापित होते हैं। ताल के साथ लय की अवधारणा जुड़ी हुई है। 'लय' शब्द 'ली' धातु से निष्पन्न हुआ है। 'ली' धातु का अर्थ है—लीन हो जाना, अच्छी तरह जुड़ जाना। केवल गति से लय नहीं बन सकती, केवल विश्रान्ति से भी लय नहीं बन सकती। जब परस्पर विरोधी गति और विश्रान्ति का समन्वय होता है तभी लय बनती है। जब गति में बराबर-बराबर अन्तरालों द्वारा बराबर-बराबर विश्रान्ति होती है तभी लय का प्रादुर्भाव होता है। जब एक अधिष्ठान के आधार पर गति उठती है और बराबर-बराबर विश्रान्ति के अनन्तर उसी में लीन हो जाती है, तब लय की महिमा प्रकट होती है। नटराज एक लय से नृत्य करते हैं। उनकी लय में सृष्टि, स्थिति और संहार का अद्भुत रहस्य छिपा हुआ है।

विश्व का कोई भी संगीत बिना लय के नहीं हो सकता। लय के दो पक्ष हैं—छन्द (rhythm) और काल (tempo)। काल—द्रुत, मध्य और विलम्बित गति का माप है। लय शब्द में ये दोनों भाव समाविष्ट हैं।

लय तो विश्व के सभी प्रकार के संगीत में विद्यमान है, किन्तु ताल केवल भारतीय संगीत की विशेषता है।

वैदिक संगीत में लय विद्यमान थी। उसका नाम वृत्ति था। किन्तु ताल वैदिक संगीत में नहीं प्रयुक्त होता था। वैदिक संगीत जब गान्धर्व संगीत में विकसित हुआ तब ताल का प्रयोग प्रारम्भ हुआ। भरत के नाट्यशास्त्र ने गान्धर्व संगीत का वर्णन किया है।

भरत ने इसको अच्छी तरह समझ लिया था कि त्र्यस्र और चतुरस्र अर्थात् त्र्यस्त्र और चतुरस्त्र ही सभी तालों के आधार हैं। त्र्यस्त्र जाति का मुख्य ताल था चाचपुट और चतुरस्त्र

जाति का चञ्चत्पुट। इन दोनों के तीन मुख्य भेद थे—यथाक्षर (एककल), द्विकल और चतुष्कल।

ताल को व्यक्त करने के लिए क्रियायें होती थीं जिनको निःशब्दा और सशब्दा कहते थे। निःशब्दा क्रिया के चार भेद होते थे—आवाप, निष्क्राम, विक्षेप और प्रवेश। सशब्दा के भी चार भेद थे—ध्रुव, शम्या, ताल और सन्निपात।

भरत ने ताल के तीन मार्ग बताये—चित्र, वार्तिक और दक्षिण, शार्ङ्गदेव ने एक मार्ग और जोड़ा—ध्रुव।

लय प्रवृत्ति का नियम 'यति' कहलाया। यतियों के तीन भेद थे—समा, स्रोतोगता और गोपुच्छा।

तीन प्रकार के ग्रह भी थे—सम, अतीत और अनागत। भरत के समय में ताल का मुख्य वाद्य था 'घन'। उसका नाम ही था तालवाद्य। यह प्रायः कांसे का बना हुआ होता था। यह वाद्य दो प्यालों की आकृति का होता था जिसमें डोरियां लगी होती थीं। इन्हीं के द्वारा ताल व्यक्त करते थे। मृदंग इस तालवाद्य का उपरञ्जक था।

मृदंग को पुष्कर भी कहते थे। तीन पुष्कर वाद्य एक साथ बजते थे जिनके नाम थे—अंकिक, ऊर्ध्वक और आलिंग्य।

कालगति में यह सब लुप्त हो गया। ताल वाद्य लुप्त हो गया। केवल मृदंग द्वारा ताल प्रदर्शित किया जाने लगा।

निःशब्दा क्रिया भी समाप्त हो गई। केवल सशब्दा क्रिया रह गई। मृदंग का विकास बढ़ा। इसमें प्रस्तार, परन इत्यादि नाना प्रकार की क्रियायें बढ़ीं। सबसे अद्भुत विकास जो हुआ वह था—ठेका अर्थात् प्रत्येक ताल के निश्चित बोल। यह कब प्रारम्भ हुआ यह कहना कठिन है, किन्तु १३वीं शताब्दी से इसका संकेत मिलता है।

ठेके से हिन्दुस्तानी संगीत में एक बड़ी भारी क्रांति आ गई। ठेके के द्वारा ही विलम्बित लय में ध्रुवपद और ख्याल का गाना सम्भव हुआ। जहां ठेका नहीं है वहां विलम्बित की यह शैली प्रचार में नहीं है।

मृदंग के दो सामान्य नाम प्रचार में आये—पखवाज और पखावज। कहीं-कहीं उसको पखवाज कहते हैं और कहीं-कहीं पखावज। दोनों नाम सही हैं। पखवाज पक्षवाद्य का अपभ्रंश है जिसका अर्थ है वह बाज (वाद्य) जो बाजुओं (पक्ष) के द्वारा बजाया जाता है। पखावज 'पक्षातोद्य' का अपभ्रंश है। आतोद्य का अर्थ है बाज। आ उपसर्ग है। तोद्य शब्द 'तुद्' धातु से बना है जिसका अर्थ है 'आघात करना'। आतोद्य का अपभ्रंश प्राकृत भाषा में हुआ आवुज या आवज। पक्ष का अपभ्रंश हुआ 'पख'। पख और आवज मिलकर बन गया—पख + आवज अर्थात् 'पखावज'।

गान्धर्व संगीत में तो चञ्चत्पुट और चाचपुट और उनके कुछ अवान्तर भेद के ही ताल थे, किन्तु देशी तालों का बहुत विकास हुआ। १३वीं शती में लिखे हुए संगीतरत्नाकर में १०८ प्रकार के देशी तालों का उल्लेख मिलता है। १५वीं शती से लेकर १८वीं शती तक ध्रुव-पद का उत्कर्ष काल था। इस काल में कई विकट तालों में ध्रुवपद की रचनाएँ हुईं। बंगाल

और आसाम में कीर्तन और वरगीत में भिन्न-भिन्न प्रकार के ताल सुनने में आते हैं।

पखावज केवल संगति का वाद्य नहीं रह गया। अपने प्रस्तारों, चक्रिक क्रियाओं और नाना प्रकार के परनों द्वारा वह एक अद्भुत एकल (solo) वाद्य भी बन गया। अस्तु।

प्रस्तुत ग्रंथ "पखावज और तबला के घराने एवं विविध परम्पराएँ" श्रीमती आबान ई० मिस्त्री का शोध-प्रबन्ध है जिस पर उनको डाक्टरेट की उपाधि मिली है।

इसको उन्होंने दो खण्डों में विभक्त किया है। प्रथम खण्ड में उनका प्रबन्ध पखावज से सम्बद्ध है और दूसरे खण्ड में तबला से।

यह ध्यान में रखना चाहिए कि उनका प्रबन्ध केवल एक सीमित क्षेत्र अर्थात् इन वाद्यों के घरानों और विविध परम्पराओं से ही सम्बद्ध है। इनमें उन्होंने इन वाद्यों की सारी जानकारी देने का प्रयत्न नहीं किया है।

उन्होंने अपना प्रबन्ध बहुत खोज और अथक परिश्रम से तैयार किया है। यह दुर्भाग्य की बात है कि हमारे कलाकार गपबाज़ी और काल्पनिक मान्यताओं को शास्त्र और इतिहास समझते हैं। डाक्टर आबान मिस्त्री ने इन मान्यताओं को भले प्रकार से परखा और तौला है। जो तथ्य तर्क और प्रयोग की कसौटी पर खरे सिद्ध हुए हैं उन्हीं का समावेश उन्होंने इस ग्रन्थ में किया है।

पहिले खण्ड में उन्होंने संगीत में घरानों के महत्त्व, उद्भव, स्वरूप और विकास पर विचार किया है। इसके बाद उन्होंने जावली, मथुरा, पंजाब, कुदऊ सिंह घराना, नाना पानसे घराना इत्यादि और विविध परम्पराओं जैसे जयपुर, बंगाल, महाराष्ट्र, ग्वालियर, रायगढ, गुजरात और राजस्थान इत्यादि के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी दी है।

ग्रन्थ के द्वितीय खण्ड में विदुषी लेखिका ने पहिले तबले की उत्पत्ति और विकास पर विचार किया है। 'तबला' फ़ारसी के 'तब्ल' शब्द का विकृत रूप है। 'तब्ल' शब्द का अर्थ है 'हमवारसतह' समतल। अंग्रेजी का table शब्द इसी 'तब्ल' से निष्पन्न हुआ है। फ़ारसी में सभी अवनद्धवाद्यों को तब्ल: कहते हैं। यह दन्तकथा कि अमीर खुसरव ने तबले का आविष्कार किया कोरा ग्प है। अमीर खुसरव के ग्रंथों में जहाँ तब्ल शब्द आया है वहाँ उसका केवल अवनद्ध वाद्य अर्थ है। फ़ारसी में पखावज, डफ़, दुन्दुभि इत्यादि सभी को 'तब्ल' कहते हैं।

वस्तुतः यह एक भारतीय लोकवाद्य रहा है। अतः यह केवल लोकगीतों के साथ बजता रहा अतः इसका नाम संस्कृत ग्रंथों में नहीं मिलता। जब मैं आकाशवाणी में काम करता था तब मैंने भिन्न-भिन्न प्रदेशों में अद्यतन जीवित लोकवाद्यों की सूची तैयार करवाई थी। मेरे आश्चर्य की सीमा नहीं रही जब सूची की संख्या ४०० से अधिक पहुँची।

मेरा इरादा था कि मैं इन सब वाद्यों पर भिन्न-भिन्न प्रदेशों के अधिकारी विद्वानों से लेख लिखवाकर पुस्तक के रूप में प्रकाशित करवाऊँ। किन्तु मेरे अवकाश ग्रहण करने के बाद किसी ने इस पर ध्यान नहीं दिया। वह सूची किसी फ़ाइल में पड़ी सड़ रही होगी। इस कथन का तात्पर्य केवल यही है कि आज भी कितने लोकवाद्य ऐसे हैं जिनका हमको पता नहीं है और जो धीरे-धीरे लुप्त होते जा रहे हैं।

इसी प्रकार एक मुलायम ताल वाद्य था जो लोकगीतों के साथ बजता था उसी को गुणीजनों ने अपनाया। उ० सिद्दार खाँ पहले पखावज बजाते थे, किन्तु बाद में उन्होंने इसे

अपनाया। सम्भव है तबला नामकरण भी इसका उन्होंने किया हो। उन्होंने इस बाज की प्रक्रियायों के नाम भी फारसी के रखे हैं, जैसे पेशकार इत्यादि।

जो हो, लगभग २०० वर्ष के भीतर इस वाद्य का पर्याप्त विकास हुआ है। ध्रुवपद, वीणा और मृदंग अथवा पखावज इस त्रयी का पहिले उत्कर्ष था। ध्रुवपद के ह्रास के साथ ही वीणा और पखावज का भी ह्रास हो गया।

पखावज मुख्यतः थापी का बाज है। यह बाज ख्याल और ठुमरी के कोमल बोलों को दबा देता है। तबला मुख्यतः चांटी का बाज है। यह मुलायम अवनद्ध वाद्य है। ख्याल और ठुमरी के उत्कर्ष के साथ इसका भी उत्कर्ष हुआ। ख्याल और ठुमरी के ताल बहुत सीमित हैं। इसलिए तबले के ताल भी सीमित हैं। परन्तु इधर २०० वर्षों में इसकी वादनविधि का पर्याप्त विकास हुआ है।

विदुषी लेखिका ने दस अध्यायों में तबले के सभी घरानों और विविध परम्पराओं का खोजपूर्ण विवेचन किया है।

अवनद्धवाद्यों की वादनशैली का जितना विकास भारत में हुआ उसका शतांश भी अन्य देशों में नहीं हुआ। इनकी वादन विधि ने विश्व को चकित कर दिया है और अब पाश्चात्य देश के लोग भी मृदंग और तबला सीखने लग गये हैं।

इन वाद्यों पर वर्षों के अनुसंधान और परिश्रम का फल है श्रीमती अबान ई० मिस्त्री का यह अनुपम ग्रंथ। वह सभी संगीत प्रेमियों, जिज्ञासुओं और विद्यार्थियों के साधुवाद के पात्र हैं।

जयदेव सिंह

प्रथम खंड

संगीत में घराना महत्व, उद्भव, स्वरूप एवं विकास

ऐतिहासिक दृष्टिकोण

प्राचीन काल से आधुनिक युग तक की एक लम्बी काल यात्रा में भारतीय संगीत कला ने अनेक उतार-चढ़ाव देखे है। ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाए तो विविध राजघरानों और साम्राज्यों के उत्थान-पतन का प्रभाव संगीत कला और उसके कलाकारो के जीवन पर स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

कला से मानव मन की अनुभूतियों की अभिव्यक्ति होती है, अत. यह जीवन के लिये और जीवन के निकट होती है। कलाकार एक सामाजिक प्राणी है। वह अपने समाज का प्रतिनिधि है। अतः जिस समाज में वह जीता है उसका प्रतिविम्ब उसकी कला में अवश्य दिखाई देता है।

यही कारण है कि संगीत के विकास क्रम में वैदिक काल की पवित्रता, रामायण महाभारत युग की सात्विकता, हिन्दू राजाओं की स्थिरता, मुगलों की ऐयाशी और कलापरस्ती, सन्तों की भक्तिपरायणता, मराठों की कठोर जीवन साधना और कलाभक्ति, राजे-रजवाड़ों की रंगीनी, अंग्रेजों की उपेक्षा और स्वातंत्र्य युग के संघर्ष और चेतना का प्रभाव हमें दिखाई देता है। इतिहास साक्षी है कि कलाकार ने युगों से जो कुछ पाया है अपनी कला में पिरो कर समाज को दिया है। संगीत के घरानो को युग ने पाला है और आज युग के परिवर्तन के साथ ही उसमें भी अनेक परिवर्तन होते दिखायी देने लगे है।

घरानों का उद्भव

संगीत में घराने कब से प्रारम्भ हुए इसका ठीक-ठीक उत्तर देना कठिन है। आधुनिक युग में केवल घरानों पर प्रकाशित जो पुस्तकें उपलब्ध हैं उन सभी पुस्तको में घरानों की परम्परा करीब ढाई-तीन सौ साल से अधिक पुरानी नही बताई गई है।

यूं देखा जाए तो मध्य युग में भी ध्रुपद की चार वाणियां प्रसिद्ध थीं, जिन्हे चार घराने कहा जा सकता है। ध्रुपद गायकी के प्रचार से पूर्व भी भरत मत, शिव मत, हनुमन्त मत और नारद मत जैसे चार मत प्रचलित थे, जो घराने के पर्याय ही माने जा सकते हैं। अतः घरानों का उद्भव पिछली दो-तीन सदियों में ही हुआ है, ऐसा मानना ठीक नही होगा। इसके पहले भी घराने तो थे ही, किन्तु उनका स्वरूप भिन्न था। वे कभी 'वाणी' तो कभी 'मत' के नाम से सम्बोधित किये जाते थे।

घरानों की नींव

प्राचीन काल से ही 'व्यक्ति पूजा' मनुष्यमात्र का स्वभाव रहा है। वैदिक काल में मुनियों के प्रति श्रद्धा, रामायण-महाभारत काल में राम-कृष्ण के प्रति भक्ति भावना,

के समय मे राजाओं के प्रति आदर-सम्मान और मुस्लिम शासको के युग में बादशाहों की कदमपोशी—यह सभी उसके स्पष्ट उदाहरण हैं।

ऐसे मानव स्वभाव ने जब किसी कलाकार विशेष में ऐसी अनूठी प्रतिभा देखी होगी, उसकी निर्माण शक्ति में किसी विशिष्ट प्रकार की सौन्दर्य कल्पना की निजी दृष्टि और अभिनव सृष्टि का अनुभव किया होगा, जो दूसरों से अलग ठहरती हो, अलग दिखायी देती हो या अलग दिखाने की क्षमता रखती हो, तो स्वाभाविक रूप से ही वह उसका आदर करता रहा होगा, उसके प्रति श्रद्धा और प्रेम भावना व्यक्त करता रहा होगा, उसे बारबार सुनने के लिए उत्सुक रहा होगा। उसके कला नैपुण्य तथा बुद्धिक्षमता पर मुग्ध होकर शिष्य रूप में उसका अनुकरण और रसिक रूप में उसका अभिनन्दन करता रहा होगा और वही से कभी घराने की नीव पड़ गयी होगी।

श्री भगवतशरण शर्मा के अनुसार सगीत मे घरानो की नीव आठवी से बारहवी शताब्दी के बीच राजपूत काल में पड़ चुकी थी। अपनी बात का समर्थन करते हुए वे लिखते हैं—

"राजपूत काल में (८वी से १२वी शताब्दी) सगीतकारों को राज दरबार में आश्रय मिला करता था। अत' इस युग का संगीत अधिकतर राजाश्रय में ही उन्नति कर सका। इस काल के कलाकार अपने सगीत ज्ञान को इतना छिपाकर रखते थे कि वे किसी अन्य जाति वालों को तो क्या, अपनी ही जाति वालो तक को बताने में सकोच करते थे। यह सकीर्णता यहाँ तक बढ़ी कि वे संगीत के ग्रन्थ भी नही लिखते थे। उनका संगीत पीढ़ी-दर-पीढी चला करता था। यदि वे निःसंतान होते तो उनका सगीत भी उन्ही के साथ समाप्त हो जाता था। इस सकीर्ण मनोवृत्ति के फलस्वरूप संगीत के क्षेत्र में घरानों की नीव पड़ गयी जिसकी परिपाटी ने संगीत के विकास को अवरुद्ध कर दिया।"[1]

उसी पुस्तक में शर्मा जी आगे लिखते है—

"शासक वर्ग की उदासीनता के कारण यह कला अंग्रेज काल में निम्न श्रेणी के व्यवसायी लोगों में जा पहुँची। सगीतज्ञो में अशिक्षा, मूढता, सकीर्णता और स्वार्थपरता प्रवेश कर गयी। उनके सम्मुख व्यक्तिगत स्वार्थ ही सर्वोपरि रह गया। इस वैयक्तिक स्वार्थ के गर्भ से सगीत में घरानो की उत्पत्ति हो गयी। इस प्रकार ब्रिटिश काल में भारतीय सगीत में यदि कोई सबसे बुरी बात हमें मिलती है तो वह घरानो का निर्माण है।"[2]

इनके इन दोनो विधानो से यही निष्कर्ष निकलता है कि राजपूत युग में अर्थात् १२वी शताब्दी के पूर्व, घरानो के प्रारम्भ की पृष्ठभूमि भले ही तैयार हुई हो किन्तु आधुनिक घरानो का पूर्णत विकास तो अंग्रेजो के युग में ही हुआ है।

कुछ विद्वान् तबले के दिल्ली घराने को ५०० वर्षों से अधिक प्राचीन बताते हैं। "भारतीय संगीत कोश" के प्रणेता प० विमलाकान्त राय चौधरी अपनी पुस्तक में दिल्ली घराने की वश परम्परा बताते हुए गिद्दार खा ढाढी के नाम के पास ई० स० १३०० का काल लिखते हैं।[3]

---

१. भारतीय सगीत का इतिहास—श्री भगवतशरण शर्मा, पृष्ठ ५१ व ५२.

२. वही, पृष्ठ ६६.

३. भारतीय संगीत कोश : श्री विमलाकान्त राय चौधरी, हिन्दी अनुवाद : श्री मदनलाल व्यास, पृ० २१८.

"तबला शास्त्र" में श्री मधुकर गोडबोले ने लिखा है :

"तबले के इतिहास में अमीर खुसरो का काल, सन् १३०० के बाद का काल अत्यन्त महत्वपूर्ण माना जाता है। इस काल में खुसरो द्वारा सितार, हुसेन शिर्की द्वारा खयाल व सिद्धार खां द्वारा तबला वादन का प्रारम्भ हुआ।"[४]

मृदंगाचार्य पं० रामशंकर 'पागलदास' ने अपनी व्यक्तिगत भेंट में उ० सिद्धार खां ढाढी को कुदऊसिंह के गुरु भवानीदीन (भवानी सिंह या भवानी दास) के समकालीन बताया है। श्री बाबू लाल गोस्वामी अपने लेख कुदऊसिंह में लिखते हैं कि "कुदऊ सिंह के गुरु भवानीदीन ने दिल्ली के बादशाह मोहम्मद शाह रंगीले को तीन लाख परनें सुना कर प्रसन्न किया था।"[५] आचार्य बृहस्पति जी ने भी भवानीदीन को मोहम्मदशाह रंगीले के दरबारी कलाकार के रूप मे उल्लेख किया है।[६]

यदि भवानीदीन और सिद्धार खां समकालीन थे तो सिद्धार खां का काल भी मोहम्मद शाह रंगीले का समय ही होना चाहिए जो सन् १७१९ से १७४८ ई० का है। वैसे भी ध्रुपद गायकी की लोकप्रियता १८वी शताब्दी के आरम्भ तक तो बनी रही, ऐसा विविध इतिहासकारों का सर्वानुमत प्राप्त होता है। अतः तबले का विकास १८वी शताब्दी के आरम्भ के बाद ही हुआ होगा यह निष्कर्ष अधिक तर्कसंगत लगता है।

दिल्ली घराने को सभी विद्वान्, तबले का प्रथम घराना मानते है। उसकी वंश परम्परा का निरीक्षण करने पर वह ढाई सौ साल से अधिक प्राचीन नही मालूम होता। अतः सन् १३०० ई० के बाद अर्थात् १४वी शती में दिल्ली घराने के प्रवर्तक उ० सिद्धार खां हुए होंगे यह कल्पना योग्य प्रतीत नहीं होती।

दूसरी मुख्य बात यह है कि किसी भी मध्यकालीन पुस्तक में तबला, उसके कलाकार या तबले के घरानो का उल्लेख नहीं मिलता। आचार्य कैलाशचन्द्र देव बृहस्पति 'मुसलमान और भारतीय सगीत' में लिखते हैं :

"मोहम्मद शाह रंगीले के युग तक हम सितार और तबले की चर्चा नही पाते। मोहम्मद शाह रंगीले की मृत्यु (सन् १७४८) से उनचास वर्ष पश्चात् संग्रहीत ग्रन्थ 'नादिराति-शाही' मुगल सम्राट् शाह आलम द्वितीय की कृति है, जिसकी प्रथम पांडुलिपि सन् १७९७ ई० में शाहआलम ने स्वय तैयार कराई थी, तबले की चर्चा उसमें भी नही है।"[७]

प० विष्णु नारायण भातखंडे अपने सगीत शास्त्र में लिखते है कि "संगीत में घरानों का उल्लेख हकीम मोहम्मद करम इमाम की पुस्तक 'मऊदनू-उल-मूसिकी' में मिलता है जो सन् १८५७ के आस-पास लिखी गयी थी।"[८]

---

४. तबला शास्त्र : श्री मधुकर गणेश गोडबोले : पृ० ४६ व ४७.

५. विन्ध्य प्रदेश की विभूति : मृदग सम्राट् कुदऊसिंह (लेख) : श्री बाबू लाल गोस्वामी. (विन्ध्य प्रादेशिक हिन्दी साहित्य सम्मेलन रीवा (म० प्र०) द्वारा संपादित बाबू शारदा प्रसाद अभिनन्दन ग्रन्थ में सकलित)।

६. संगीत चिन्तामणि : आचार्य कैलाशचन्द्र देव बृहस्पति, पृ० ३५६.

७. मुसलमान और भारतीय संगीत : आचार्य बृहस्पति, पृ० १४.

८. भातखंडे संगीत शास्त्र : चौथा भाग : प० वि० ना० भातखंडे : पृ० २१४.

श्री ललित किशोर सिंह ने 'ध्वनि और संगीत' में लिखा है कि "तानसेन के बेटे बिलास खां से प्रसिद्ध रबाबियो का घराना चला और उनके छोटे बेटे सुरसेन से सितारियों का। यह सेनिया घराने के नाम से प्रसिद्ध है।"[९]

संगीत में घराने कब से प्रारम्भ हुए इस प्रश्न का यदि हम उत्तर देना चाहे तो इन पुस्तकों के तथा व्यक्तिगत विश्लेषणात्मक तर्क-वितर्कों के आधार पर यह कह सकते हैं कि भारतीय संगीत में घरानो की नीव भले ही यवन संस्कृति के सम्मिश्रण के बाद पड़ चुकी हो, किन्तु गायन-वादन तथा नृत्य में हम जिन्हे घरानों के नाम से आज पहचानते है उन घरानों का प्रारम्भ मुगल युग के अंतिम समय में ही हुआ है। उसका स्पष्ट और मुख्य प्रमाण यही है कि हमें किसी भी प्राचीन या मध्यकालीन ग्रन्थ में घराना शब्द का उल्लेख नहीं मिलता।

अत: हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आधुनिक युग में ख्याल गायन के क्षेत्र में जिन्हें ग्वालियर, आगरा, जयपुर या किराना घराने के नाम से, कुदऊ सिंह या नाना पानसे घराने के रूप में पखावज के क्षेत्र में, दिल्ली, लखनऊ, पजाब, अजराडा, फरुखाबाद या बनारस के नाम से तबले में एवं लखनऊ तथा जयपुर कहकर कत्थक नृत्य में सम्बोधित करते है, वे सभी घराने मुगल युग के अंतिम काल में ही अस्तित्व में आये हैं, जो ढाई सौ साल से अधिक पुराने नहीं हो सकते।

घराने के उद्भव के पूर्व और पश्चात् सामाजिक दृष्टि से सांगीतिक परिस्थिति

भारत पर मुसलमानो के आक्रमण से पूर्व सम्पूर्ण देश में एक ही संगीत प्रणाली प्रचलित थी जिसकी पुष्टि निम्न कथन से होती है—

"संगीत के विषय में औत्तरीय अथवा दक्षिणात्य जैसे भेदक शब्दों का प्रयोग 'संगीत रत्नाकर' में कही नहीं है। अतः सिद्ध है कि न तो हिन्दुस्तानी संगीत का जन्म शार्ङ्गदेव से पूर्व हुआ और न संगीत रत्नाकर मे उत्तर और दक्षिण के संगीत का समन्वय है।"[१०]

मुसलमानों के आक्रमण और शासन के पश्चात् शुद्ध रूप से हिन्दू कहलाने वाली सभी भारतीय कलाओं पर यवन संस्कृति का प्रभाव पड़ना आरम्भ हो गया। स्वाभाविक है कि विभिन्न जातियों का आपसी संपर्क परस्पर प्रभावित करता है तथा एक दूसरे को अपने गुण, संस्कार एवं कला से आकर्षित करता है। फिर वह तो शासक वर्ग था अतः उनका प्रभाव प्रत्येक क्षेत्र में विशेष रूप से देखने को मिलना स्वाभाविक ही है।

आठवीं शती से हिन्दुस्तान पर मुसलमानों का (अरब) आक्रमण प्रारम्भ हो गया था।[११] तेरहवी शती के प्रारम्भिक काल में भारत पर मुहम्मद गोरी ने प्रथम मुस्लिम शासन स्थापित किया। इस बीच भारत में सूफी सन्तों का आगमन हो चुका था। सूफी सन्तों ने, उनकी विचारधाराओ ने तथा चिश्ती परम्परा ने भारत के दीन-हीन दलित और उपेक्षित हिन्दू समाज पर अपना गहरा प्रभाव रख छोड़ा था। सूफी लोग संगीत के महान् प्रेमी थे। अतः

---

९. ध्वनि और संगीत : श्री ललित किशोर सिंह : पृ० २८१.
१०. संगीत शास्त्र और आधुनिक संगीतज्ञ : आचार्य बृहस्पति : पृ० ४
११. मुसलमान और भारतीय संगीत : आचार्य बृहस्पति : पृ० ११

भारतीय संगीत पर ईरानी संगीत का प्रभाव १३वी शती के आरम्भ से ही दृढ़ रूप से फैलता गया था।[१२] "From the last days of Ghaznavi to the coming of Mohammad Ghori in 1191 A.D. the main influence of Islam was in Punjab. But by the 13th. century almost the whole of the sub-continent was affected more or less by the culture of new muslim rulers. Literature, architecture, music and social life in all venues felt this dominance; and very novel trends of positive absorption and militant reaction came to be felt."[१३]

मुसलमान शासन के प्रारम्भ के साथ ही संगीत की बागडोर मुसलमान कलाकारो के हाथ में चली गयी। आचार्य बृहस्पति लिखते हैं कि "मुसलमान शासकों के दरबार में भी परिस्थिति ऐसी न थी कि विशुद्ध भारतीय भावनाएँ तथा भारतीय कला उभर सके।"[१४] मुस्लिम शासकों ने मुख्यतः अपने ही सहधर्मियों को दरबार में संगीतज्ञों के पद पर नियुक्त किया था। उन्होंने प्राचीन ग्रन्थो पर मनमाने अत्याचार किये। इन ग्रन्थों को समझने में वे अधिकतर असफल ही रहे। अकबर जैसे उदार सम्राट् के दरबार में भी अधिकांश संगीतज्ञ मुसलमान ही थे।[१५] इसका कारण यह भी हो सकता है कि कुछ हिन्दू कलाकारो ने तत्कालीन परिस्थिति के अनुसार अपनी सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति को सुदृढ बनाने के हेतु धर्म परिवर्तन कर लिया हो। इस सदर्भ में श्री वामनराव देशपाडे लिखते हैं: "The art which migrated to the north under the Mogals did of course prosper and develop various Banis and Gharanas. But employed as it was for the mere entertainment of the kings and emperors, it fell into the hands of performers, who although otherwise gifted, were mostly illiterate and indifferent to its science. Besides the science itself was contained in old Sanskrit texts which the performers, who were mostly Muslims, did not know. The result was that the Science ceased to have any significant relation with the art as it was being practised."[१६]

यद्यपि यवन संस्कृति के शृंगारिक प्रवाह के सम्मिलन से हमारे भारतीय संगीत के मूल रूप में बहुत अन्तर पड़ गया था तथापि कुछ विद्वानों का ऐसा मंतव्य भी देखने को मिलता है कि ऐसा होने से उसमें माधुर्य और आकर्षण का सामर्थ्य बढ़ गया था। इसके समर्थन में प्रसिद्ध विद्वान् वन्डारे प्रम्दा के उद्गार पढ़ने योग्य हैं। "The New Outlook of Indian Culture" के पृष्ठ २० पर सग्रहीत श्री वन्डारे प्रम्दा के विचार प्रस्तुत करते हुए श्री उमेश जोशी "भारतीय संगीत का इतिहास" में लिखते हैं:

"यह हमें मानना पड़ेगा कि मुगल युग में मुस्लिम सस्कृति से मिलकर भारतीय संगीत का सौन्दर्य समृद्धिशाली होकर उसमें एक ऐसी मन्त्रमुग्धता आ गयी कि जिससे उसमें आकर्षण

१२. मुसलमान और भारतीय संगीत : आचार्य बृहस्पति
१३. Musical Instruments of India : B. Chaitanya Deva.
१४. मुसलमान और भारतीय संगीत : बृहस्पति : १ से ३० पृ० : पृ० ११
१५. आईन ए अकबरी : अबुल फजल : परिशिष्ट
१६. Maharashtras contribution to Music—Vaman Hari Deshpande, Chapter 5, Page : 39.

शक्ति की अभिवृद्धि हो गयी। दक्षिण भारत का संगीत इस अपूर्व लावण्य से वंचित रहा।"[१७]

इसी विचार को पुष्ट करते हुए श्री भगवतशरण शर्मा लिखते हैं कि :

"अलाउद्दीन खिलजी के काल में (सन् १२९६ ई० से सन् १३२० ई०) यवन संस्कृति के सम्मिश्रण के कारण भारतीय संगीत में परिवर्तन होना आरम्भ हो गया था जो अकबर युग तक चरमोत्कर्ष पर पहुँच गया। अकबर के दरबार के संगीतज्ञ भारतीय ध्रुपद शैली की रक्षा करते थे, साथ में रागो मे ईरानी संगीत का मिश्रण भी उनकी गायकी में दिखाई देता था, जिससे सगीत का सौन्दर्य द्विगुणित हो गया है ऐसी मान्यता है।"[१८]

उस युग के सगीत में श्रृङ्गारप्रियता और विलासिता की मात्रा अधिक देखने को मिलती है। उन दिनों संगीत में सात्विकता एव भक्ति के स्थान पर मनोरंजन और अर्थोपार्जन की भावना धीरे-धीरे बढ़ रही थी तथा सगीत आम जनता से विमुख होकर राज दरबारों की शोभा मात्र बनने लगा था।

मुगल युग में कुछ व्यवसायी कलाकारों के ऐसे समुदाय अस्तित्व में आय, जिन्होंने अपने कलात्मक प्रस्तुतीकरण में कुछ अपनापन तथा कल्पना सौन्दर्य की कुछ विशिष्ट शैली का प्रयोग करना प्रारम्भ किया। प्रत्येक समुदाय के प्रमुख कलाकार के प्रस्तुतीकरण में अपना निजी योग-दान होता था। इस तरह घराने तथा घरानेदार कलाकार अस्तित्व में आये।

अकबर युग में जिस तरह ध्रुपद की चार वाणिया प्रसिद्ध थी, उसी तरह इन्ही व्यवसायी कलाकारों के कारण मुगल बादशाह मोहम्मदशाह रंगीले के पश्चात् तबला, पखावज, तथा ख्याल गायकी के घरानों की नीव पड़ने लगी, जो मुगल युग के बाद अधिक समृद्ध एवं विस्तृत हुई। इस तरह पिछले ढाई सौ वर्षों में अर्थात् १८वीं शताब्दी के बाद आधुनिक घराने प्रचार में आये।

मुगल युग के अन्तिम चरण में मुगल साम्राज्य अत्यन्त दुर्बल हो गया था, किन्तु ऐसी विपरीत परिस्थिति मे भी अंतिम मुगल बादशाह ने अपनी शान-शौकत और संगीतप्रियता को बनाये रखा था। अतः घरानेदार कलाकारो को बराबर राजाश्रय मिलता रहा। इस समय की तात्कालिक सामाजिक परिस्थिति का प्रभाव संगीत पर भी देखने को मिलता है जिसके फलस्वरूप ध्रुपद-धमार के स्थान पर ख्याल एवं ठुमरी राज दरबारो में व्याप्त हो गयी थी। उन कलाकारो के समुदाय में कुछ लोग ऐसे रूढ़वादी थे जिन्होंने अपनी कला को अपरिवर्तित रखा। किन्तु कुछ लोग अपने आप पर संयम नही रख सके और वे उसी प्रवाह में बह गये।

मुगल और मराठा साम्राज्यो के पतन के पश्चात् अंग्रेजों ने भारत पर अपना आधिपत्य जमाया। हम गुलाम हुए। जहाँ जीवन सिसक रहा हो वहाँ कला कैसे मुखरित हो सकती थी? अतः संगीत कला जनसाधारण से दूर नायिकाओ के मुजरे तक सीमित हो गयी।

इस विधान की पुष्टि करते हुये श्री वामनराव देशपाडे लिखते हैं :

"With the fall of the Mogals and Marathas music lost its royal patronage and with it all the glamour and respectability attached to it. The British rulers were completely indifferent to it. Even the limited patronage and recognition which they gave to sister arts, was denied to music,

---

१७. भारतीय संगीत का इतिहास : उमेश जोशी : पृ० २३७.

१८. भारतीय संगीत का इतिहास : श्री भगवत शरण शर्मा

The art of music thus found itself mainly in the hands of the class of professional singing girls who specialized in amorous or erotic styles such as Thumri, Gazal and the public looked down upon musicians as belonging to a lower social order."[१९]

ऐसी स्त्रियों की संतति अधिकतर संगीत का व्यवसाय ही करती थीं। अतः समाज में जो संगीतकार पैदा हुए, कला की दृष्टि से वे चाहे उच्च कोटि के ही क्यों न रहे हों, समाज में अपना स्थान और मान नहीं प्राप्त कर सके। इसके कई कारण थे, जिनमें मुख्य कारण यह था कि वे उच्च कोटि के कलाकार होते हुए भी अन्य दृष्टि से कुछ विभिन्न संस्कार वाले तथा अशिक्षित थे। इनमें से बहुतों में संकीर्णता और स्वार्थपरता व्याप्त कर गई थी। कुछ लोग तो ऐसा मानने लगे थे कि कला को जितना छिपा कर रखा जायेगा उतना ही उनका सम्मान बढ़ेगा। फलतः मुगल सल्तनत के अस्तांचल से पूर्व ही हमारा संगीत सामाजिक रूप से प्रतिष्ठा खो बैठा था। "म्यूज़िक आफ सदर्न इंडिया" में श्री कैप्टन डे ने इस विषय पर अपना विचार व्यक्त किया है, जिसे भारतीय संगीत के इतिहास में श्री उमेश जोशी ने इस प्रकार लिखा है :

"इस युग में संगीत इतना पतनोन्मुख हो गया था कि यह तो सचमुच आश्चर्यजनक है कि इसका अस्तित्व आज तक बना रहा।"[२०]

संगीत शिक्षा की समस्याएँ

मध्य युग में संगीत शिक्षा प्राप्त करना अत्यन्त कठिन था। घरानेदार कलाकारों को अपने घराने की विद्या पर बेहद गर्व था। वे अपने घराने के अतिरिक्त दूसरे घराने की विद्या सीखना तो क्या सुनना भी नहीं चाहते थे। किसी को संगीत सीखना हो तो वर्षों उस्ताद के घर रहकर उनकी सेवा करनी पड़ती थी। गुरु के तथा घर का सभी छोटा मोटा काम तक करना पड़ता था, तब जाकर कुछ ज्ञान उसे नसीब हो जाए तो उसका अहोभाग्य समझा जाता था। जगद् विख्यात पं० रवि शंकर और उस्ताद अली अकबर खाँ के गुरु उस्ताद अलाउद्दीन खाँ के जीवन चरित्र में संगीत सीखने के लिए उनके द्वारा उठाये कष्टों की करुण गाथा का जो वृत्तांत मिलता है उसे पढ़ कर किसी भी सहृदय की आँखें गीली हो जाती है। ऐसे तो सैकड़ों उदाहरण संगीत जगत् में विद्यमान हैं। भातखंडे संगीत शास्त्र के चौथे भाग के प्राक्कथन में श्री प्रभुलाल गर्ग लिखते हैं :

"भातखंडे के जीवन काल तक संगीत संजीवनी बूटी की भांति था। अर्थात् उसे प्राप्त करने के लिए विद्यार्थी वर्ग को द्रव्य के साथ जीवन का मूल्य भी चुकाना पड़ता था और तब कहीं वह एक साधारण गायक कहलाने योग्य बनता था। असाधारण इसलिए नहीं बनाया जाता था कि घरानेदार बरखुर्दारों के पिछड़ने का भय बना रहता। अतः कला अपनों के लिए थी परायों के लिए नहीं।"[२१]

इसके पीछे संकुचित मनोवृत्ति के साथ दूसरा प्रमुख कारण यह था कि अधिकांश गुरु अनपढ़ थे तथा अपने शिष्यों को मौखिक शिक्षा देते थे। एक अन्य कारण यह भी था कि वे

---

१९. Indian Musical Traditions : V. H. Deshpande : P. 6.

२०. भारतीय संगीत का इतिहास : उमेश जोशी, पृ० १६७.

२१. भातखंडे संगीत शास्त्र : भाग चौथा का प्राक्कथन : लेखक : प्रभुलाल गर्ग, पृ० ३.

जब तक अपने शिष्य की योग्यता से सतुष्ट नहीं होते थे, विद्या नही देते थे। अतः वे अपने शिष्यों की कठोर परीक्षा लिया करते थे।

घरानों के गुण दोष

श्री भगवत शरण शर्मा लिखते हैं कि—

"अशिक्षित कलाकारों की संकीर्ण मनोवृत्ति के फलस्वरूप संगीत के क्षेत्र में घरानों की नीव पड़ गयी जिसकी परिपाटी ने संगीत के विकास को अवरुद्ध कर दिया और उसके सार्वभौम व सनातन सिद्धान्तों को गहरी क्षति पहुँची।"[२२]

यहाँ पर केवल कलाकारों को दोष देना ही योग्य नही लगता। उनकी सामाजिक परिस्थिति, रहन-सहन एवं शिक्षण पर भी ध्यान देना आवश्यक हो जाता है।

युग के प्रभाव से कलाकार अछूता नही रहता। अशिक्षण एवं संकुचित मनोवृत्ति के कारण उनकी वृत्ति भले ही कुंठित रही हो किन्तु हमें यह सत्य स्वीकारना ही पड़ेगा कि ये अनपढ़—अशिक्षित कलाकार ऐसी कुशाग्र बुद्धि, अप्रतिम कौशल तथा तीव्र स्मरण शक्ति से सम्पन्न थे जो गुण आधुनिक शिक्षा प्रणाली से तैयार हुए विद्यार्थियों में कदाचित् ही देखने को मिलते है। उन कलाकारों के पास विद्या का जो भंडार था, बन्दिशों की जो विपुलता थी, दीर्घ साधना का जो तेज था, कला के प्रति समर्पण की जो भावना थी तथा अपने घराने के प्रति जो गर्व था, वह सचमुच अप्रतिम है।

डा० ना० र० मारुलकर लिखते हैं—

"त्याच्या एकदर परिस्थिति चा बारकाई नें विचार केला तर असे दिसून येतें की, त्या नी मोठ्या कष्टानें, महत्वाकांक्षे ने व ईर्षेने ही विद्या मिलविली, ती वाढविली, तिचें संगोपन जिवाभावाने केलें आणि हे महत्वाचें लोण त्यानी आपल्या आजच्या पिढी पर्यंत अगदी व्यवस्थेनें आणून पोदोचबिले, हा त्या चा महान सास्कृतिक ठेवा त्यांनी आपल्या हाती देऊन आपल्या ला कायमचें ॠणी करून ठेविलें आहे। तत्कालिन समाजानें एक प्रकारें बहिष्कृत ठरविलेच्या या वर्गा ने ही घोर साधना कशा प्रकारें केली असेल या चा आपण जर विचार करूँ लागलो, तर मन आश्चर्याने थक्क होतें व अंतःकरण कृतज्ञतेनें मरून येतें।

ही साधना तरी किती विविध स्वरूपाची! या मोठमोठया कलावंतात असंख्य गायक होऊन गेले, कित्येक ततकार होऊन गेले, कित्येक पखवाजासारखी तालवाद्यें वाजविणारे होऊन गेले, कित्येक नर्तक झाले। आपआपल्या संगीतसाधने नें अशा सर्वा नी कमी अधिक प्रमाणात संगीतकलेमध्यें भर टाकली आहे।"[२३]

राज दरवारों में संगीतकारों का संरक्षण तथा घरानों का विकास

कुछ घरानेदार कलाकारों को छोटी मोटी रियासतो के राजा महाराजा, उमराव, नवाब, ठाकुरों ने अपने-अपने शौक और शक्ति के अनुसार दरबारी कलाकार के रूप में आश्रय दिया। इन राजे रजवाड़ो के कारण हमारी संगीत कला कुछ सम्मानित रूप से सुरक्षित रह सकी है। घरानों के संरक्षण और विकास के पीछे उन राजा नवाबो का योगदान अमूल्य है।

२२. भारतीय संगीत का इतिहास : भगवतशरण शर्मा : पृ० ५२.

२३. संगीतातील घराणीं : डा० ना० र० मारुलकर : पृ० २१-२२.

इस आश्रय के कारण जीवन निर्वाह की छोटी मोटी चिन्ताओं से मुक्त होकर कलाकार पूर्ण निश्चिन्तता से कला साधना में निमग्न रहता था। श्री वामनराव देशपाडे लिखते हैं :

"The orphaned art of music naturally sought refuge in the small yet undisturbed and appreciative shelter provided by the princely native states,"

"The Maharajas loved music passionately. Some of them patronised eminent musicians as symbols of princely status and glory. They gave them sumptuous fees and prizes and freed them from the worries of day to day living so that they might devote themselves single-mindedly to the cultivation of art and its propagation and instruction."[२४]

इन कलाकारों ने अपने जीवन निर्वाह के लिए राजाश्रय तो अवश्य प्राप्त किया किन्तु यह भी सत्य है कि इन्होंने अपना स्वाभिमान खोकर अपनी कला का अपमान कभी नहीं होने दिया। कला की मस्ती उनके तन पर सदैव छायी रहती थी। धन की प्राप्ति के लिए उन्होंने राजाश्रय ग्रहण किया, किन्तु धन या कीर्ति के लोभ में संगीत को सस्ता नहीं होने दिया। ऐसे स्वाभिमानी कलाकारों के हजारों उदाहरण संगीत के इतिहास में सहजता से उपलब्ध हैं।

राज दरबारों के आश्रित कलाविदों के पास रहकर आज के कई सुप्रसिद्ध कलाकारो ने अपनी शिक्षा ग्रहण की है जिसके अनेक उदाहरण हैं। मैहर स्टेट के दरबारी कलाकर रहकर उस्ताद अलाउद्दीन खाँ ने सर्वश्री अली अकबर खाँ, रवि शंकर, निखिल बनर्जी, पन्ना लाल घोष जैसे समर्थ कलाकारों को दिया जिनके फलस्वरूप आज विश्व भर में भारतीय संगीत की लोकप्रियता फैल गयी है तथा सितार और सरोद जैसे भारतीय वाद्यों की सुरीली गूँज विश्व में प्रवाहित हो गयी है।

घरानों के उदय से संगीत छोटे-छोटे दायरों में सीमित अवश्य हुआ है, किन्तु साथ-साथ घरानों ने कला के रक्षक का उत्तरदायित्व भी निभाया है। सस्ते मनोरंजन के अधकार भरे उस युग में, इन्ही घरानेदार संगीतज्ञों ने अपनी कठोर साधना, दीर्घ तपश्चर्या, असीम गुरुभक्ति तथा सही तालीम से संगीत को जीवित रखा था। यदि घराने का उद्‌भव न हुआ होता तो हमारी यह सास्कृतिक परम्परागत विद्या की पवित्र गंगा, सस्ते मनोरंजन के गर्त में डूब कर नष्ट हो गयी होती। अतः मेरा तो यही अनुमान है कि घरानों से संगीत को हानि से अधिक लाभ ही हुआ है। यद्यपि युग परिवर्तन के साथ आज घराने की शुद्धता और कट्टरता शिथिल होती जा रही है, तथापि यह हमें स्वीकार करना ही पडेगा कि इन घरानेदार कलाकारों ने ही हमारी संगीतिक संस्कृति की रक्षा की है। उन्होंने हमारी संगीत कला को संभाला और समृद्ध किया है और आज उन्हीं की देन है कि संगीत की महानतम निधि हमें प्राप्त हुई है।

घरानों का तात्विक स्वरूप

सामाजिक दृष्टि से घराने के ऐतिहासिक विकास क्रम पर दृष्टिपात कर लेने के पश्चात् अब हम घराने की परिभाषा और उसके उद्‌भव का तात्पर्य देखेंगे।

---

२४. Indian Musical Traditions : V. H. Deshpande : P. 6 and 93-94.

संस्कृत मे एक वाक्य प्रसिद्ध है : "वशो द्विविधा जन्मना विद्यया च।" अर्थात् वंश या कुल दो प्रकार से चलते हैं। एक जन्म से और दूसरा विद्या से। एक घर में जन्म लेने वाले सभी व्यक्तियों का एक परिवार या घराना होता है, वैसी ही एक गुरु से विद्या पाने वाले सभी शिष्यों का एक परिवार या घराना होता है।

डॉ० ना० र० मारुलकर घराने की परिभाषा देते हुए कहते हैं :

"एखाद्या युगपुरुषाच्या असामान्य कर्तबगारी ने सुरू झालेली थोर आचार-विचार परम्परा म्हणजे घराणे।"[२५]

प्रो० बी० आर० आठवले जी अपने लेख 'सगीतांतील घराणीं' में लिखते है :

"प्रत्येक कलाक्षेत्रांत कलानिर्मिती बाबत एक विशिष्ठअसा सौंदर्याचा दृष्टिकोण असतो. त्या-त्या सौंदर्याच्या कल्पनेनुसार कलानिर्मिती करणारे कलावंत आणि त्याचे चाहते यांचा एक वेगला गुट निर्माण होतो. त्यानाच साहित्य, चित्रकला, शिल्प या कलाक्षेत्रांत परम्परा अथवा 'स्कूल्स' म्हणतात व सगीतामध्ये त्याना घराणी म्हणतात. मला वाटते की, संगीतक्षेत्रांतील विशिष्ठ सौन्दर्य कल्पना चे सम्प्रदाय, या दृष्टि ने घराण्या कडे पाहिले....म्हणजे या प्रश्नाचा बराच सा उलगडा होईल."[२६]

श्री वामनराव देशपाडे घराने के विषय में लिखते हैं :

"Every up coming artiste always possesse, some heritage handed down by tradition to which he makes his own addition. If he achieves eminence and sets up his own school of followers, he becomes a pioneer of a new style."[२७]

आगे उन्ही के शब्दो में :

"Gharana, literally a 'Family'; a term applied to a school of music comprising a creatively innovating founder, his pupils and those who follow in the line of discipleship"[२८]

डा० अशोक रानाडे घराने का अर्थ बताते हुए लिखते हैं :

'घराणे म्हणजे शिस्त।'

'घराणे म्हणजे एक सम्यक दृष्टिकोण।'[२९]

इन सब विद्वानो के विचार पर दृष्टिपात कर लेने के पश्चात् तथा कुछ गुणीजनों से की गयी चर्चाओ व विचारों के आधार पर घराने के विषय में यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि—

---

२५. संगीतातील घराणी : डा० ना० र० मरुलकर : अध्याय : ३ रा : पृ० १३

२६. संगीतातील घराणी (लेख) : प्रो० बी० आर० आठवले : सत्यकथा मासिक, सितम्बर १९६२ : पृ० ४०

२७. Indian Music Traditions : Vamanrao Deshpande : Chapter II 1962 P. 80

२८. Maharashtra's contribution to Music : V. H. Deshpande : Chapter I. P. 6.

२९. संगीताचे सौन्दर्य शास्त्र : डा० अशोक रानाडे, पृ० ६६-६८

कोई एक असाधारण प्रतिभाशाली, प्रबल महत्वाकांक्षी और कुछ विशेष कर दिखाने की क्षमतापात्र व्यक्ति, जब अपनी परम्परागत विद्या में एक अभिनव सौन्दर्य कल्पना का निर्माण करता है, तब उसकी कला निर्मिति में एक पृथक् दृष्टिकोण पूर्ण वैशिष्ट्य का उद्भव होता है। वह उसकी अपनी एक निराली शैली बनती है, जो बाद में कुछ विशेष नियमों और सिद्धांतों से अनुबन्धित हो जाती है। शनैः शनैः दूसरे लोगो की शैली से उस शैली की बन्दिशों में इतना अधिक अन्तर सुस्पष्ट हो जाता है, कि जिसकी पृथकता तुरन्त पहचानी जा सकती है, तब वह शैली घराना बन जाती है, जो 'शपरम्परागत तथा शिष्यपरम्परागत साभिमान और कट्टरतापूर्वक निभायी जाती है। घराने के आद्यकर्ता के प्रति श्रद्धा, प्रेम और शिष्ट की भावना, उसके नियमों को अक्षरशः पालन की क्षमता तथा उसके प्रति गौरव और अभिमान की वृत्ति घराने के परम्परागत विकास का मूल स्रोत मानी जा सकती है।

घरानों के नियम

'घर' शब्द का अर्थ है वंश अथवा परिवार और 'घराना' शब्द का अर्थ वंशवैशिष्ठ निकाला जाय तो अयोग्य नहीं होगा।

घराना अर्थात् रीति, पद्धति, 'स्टाइल', 'स्कूल' अथवा एक निश्चित परम्परा। 'घराना', कलाकारों का एक ऐसा परिवार है जिसकी प्रत्येक इकाई मे उसके नियमों तथा उसके आद्यकर्ता की छाप लगी रहती है।

घराने के मुख्य नियम, ध्येय, आचरण और रीतिरिवाज, उसके समय की राजकीय एवं सामाजिक परिस्थिति तथा उसके मूल प्रवर्तक की अपनी वृत्ति, संस्कार और संस्कृति पर आधारित होते हैं। यही कारण है कि घराने के मूल प्रवर्तक की छाप उसके सभी पीढ़ी दर पीढ़ी कलाकारों की कला में स्पष्ट दिखाई देती है।

संगीत कला अनुकरणशील विद्या है। घराने के मूल में गुरु-शिष्य परम्परा का महत्व-पूर्ण स्थान है। गुरु की सारी विशेषताएँ शिष्य के गले से, हाथ से या पैरो से निकले, यह घरानेदार परम्परागत प्रथा का मुख्य आधार है। वर्षों की दीर्घ तालीम से ही यह सम्भव हो सकता है। यही कारण है कि तबले या पखावज पर हाथ रखते ही या थाप लगाते ही मालूम हो जाता है कि यह कलाकार अमुक घराने से सम्बन्धित है।

घराने का मूल प्रवर्तक अपने वंश तथा शिष्यों को अपनी सारी विशेषताएँ बताकर तैयार करता है। आगे वह शिष्य, अपनी योग्यता और प्रतिभानुसार गुरु की विद्या को अधिक समृद्ध करता है और उसे अपने शिष्यों को सिखाता है। इस तरह घराने की परम्परा फलती फूलती है। अतः एक ही घराने में कलाकारों की परम्परागत शैली चलते रहने पर भी प्रत्येक व्यक्ति विशेष का उसमें योग रहता है जो उसकी नियमबद्ध परम्परा को सम्भाले हुए पीढी दर पीढ़ी उसे सजीव एवं समृद्ध बनाता जाता है। श्री वामनराव देशपाडे इस विषय में कहते हैं :

"The Gharana, therefore, while keeping true to its basic tradition goes on assimilating ever new musical ideas with each new artiste. It is in this manner that it perpetuates, itself."[30]

---

30. Indian Musical Tradition : Gharana : Its Characteristics P. 15, By V. H. Deshpande.

नवीन घरानों का निर्माण

वैसे भारतीय संगीत में हजारों प्रतिभा सम्पन्न तथा उत्कृष्ट कलाकार पैदा हुए हैं, किन्तु वे सब अपने अलग घराने निर्माण करने में सफल नही हो सके हैं। ऐसे समर्थ कलाकारों की नामावली काफी लम्बी है, किन्तु संगीत के घराने तो उंगली पर ही गिने जा सकते हैं। इसका यही कारण है कि कलाकार प्रतिभा सम्पन्न भले ही हों किन्तु घराना निर्माण कर सकें, ऐसे सर्जक प्रतिभा और अभिनव सौन्दर्य कल्पना की निर्माण क्षमता तो बहुत कम में ही पायी जाती है।

उदाहरणार्थ, तबला वादन के क्षेत्र में उस्ताद अहमद जान थिरकवा या उस्ताद अमीर हुसेन खाँ महान् कलाकार थे। पंडित किशन महाराज या उस्ताद करामतउल्ला खाँ की वादन क्षमता पर पूरे देश को गर्व है, या उस्ताद अल्लारखा खाँ सारे विश्व में प्रसिद्ध हैं, किन्तु इनमें से कोई अपना नवीन घराना निर्माण नही कर सका। वे अपनी अपनी परम्परा को ही अनुसरते रहे। उनके वादन में उनकी निजी प्रतिभा तथा संगीत कल्पना सृष्टि अवश्य लाई है जो उनकी अपनी शैली कहलाती है। किन्तु शैली घराना नही होती, शैली व्यक्तिगत होती है, जबकि घराने के निर्माण के लिए पृथक् सौन्दर्य कल्पना का होना आवश्यक होता है।

सुप्रसिद्ध मृदंगकेसरी नाना पानसे बाबू जोधसिंह जी के शिष्य थे। बाबू जोधसिंह नाना पानसे से कही अधिक गुणी तथा उच्च कोटि के कलाकार थे। परन्तु जहाँ घराने की बात आती है वहाँ बाबू जोधसिंह का घराना नही कहा जाता, जबकि नाना पानसे का घराना भारत भर में मान्यता प्राप्त है। इसका अर्थ यह हुआ कि बाबू जोधसिंह जी चाहे कितने ही गुणी क्यों न रहे हों और नाना पानसे जी के गुरु ही क्यों न हों, किन्तु जो कुछ वे बजाते थे वह गुरु परम्परा से चली आ रही विद्या थी। जब कि नाना पानसे ने अपने गुरु से प्राप्त उस विद्या के किसी सौन्दर्यपूर्ण हिस्से को उठाकर अपनी निजी कल्पना दृष्टि के अनुसार उसके कला निर्माण में परिवर्तन किया। कला प्रस्तुतीकरण का यह अभिनव प्रकार उनकी अपनी एक नवीन शैली बन गयी जो गुरु से प्राप्त और गुरु की शैली से सम्बन्धित होते हुए भी गुरु के बाज से पृथक् हुई। अतः उनके बाज को उनका नाम दिया गया जो नाना पानसे बाज से प्रसिद्ध हुआ। कालक्रम से यह बाज जब उनके वंशज तथा शिष्य परिवार में फैला तो नाना पानसे घराना बन गया।

प्रो० बी० आर० आठवले जी का एक वाक्य यहाँ पर बहुत सुसंगत लगता है :

"प्रतिभा सम्पन्न कलावताच्या सौंदर्यकल्पना अभिनव आणि वैशिष्ट्यपूर्ण असल्या तरीहि तो आपल्या सौंदर्यकल्पनांना सर्वाङ्गीण व्यवस्थित रूप, योग्य आकार व नियमबद्ध मांडणी जो पर्यन्त देत नाही तो पर्यंत त्या 'घराणे' पदाच्या प्रतिष्ठेला पोचणार नाहीत."[३१]

घरानों का नामकरण

संगीत के घरानों का नामकरण प्रमुख दो बातों पर आधारित है :—(१) उसके प्रवर्तक के नाम पर—जैसे नाना पानसे घराना, कुदऊसिंह घराना, मगल वेढ़ेकर घराना इत्यादि। (२) उसके प्रवर्तक के निवास या कर्मस्थान के नाम पर—जैसे दिल्ली घराना, लखनऊ घराना, बनारस घराना इत्यादि।

३१. संगीतातील घराणीं : प्रो० बी० आर० आठवले (लेख) सत्यकथा मासिक, सितम्बर १९६२ : पृ० ४५.

विविध घरानों की प्रस्तुतीकरण विधि

प्रत्येक घराने के प्रस्तुतीकरण की एक विशिष्ट शैली और नियम होता है। तबले में दिल्ली घराने के लोग अपने वादन में पेशकार और कायदों का अधिक प्रयोग करते हैं तो बनारस घराने के कलाकार उठान, बांट या रेलों का अधिक प्रयोग करते दिखाई देते हैं। यह अपने-अपने घरानों के नियम और बन्दिशों के गठन पर आधारित होता है।

किसी बहुत नामी कलावन्त का प्रस्तुतीकरण, अत्यन्त चित्ताकर्षक और आश्चर्य-चकित कर देने वाला क्यों न हो, किन्तु यदि वह नियमबद्ध नहीं है तो घराने की दृष्टि से उसकी गिनती घरानेदार शिष्यों मे नही की जा सकती। तीन चार घरानों की विद्या को मिलाकर एक नवीन शैली उत्पन्न करना घराना नही कहलाता। चाहे वह कितना भी चित्ताकर्षक, रंजक और सुमधुर क्यों न हो। परन्तु आज के इस युग में किसी एक विशेष घराने की वादन शैली का कठोरता से पालन कर प्रतिष्ठा प्राप्त करना कठिन है।

घराने का अभिमान कलाकारों तथा उसके रसिक भक्तों में सविशेष पाया जाता है। मेरा घराना सर्वश्रेष्ठ है—यह भावना बहुतेरे घरानेदार कलाकारों में दिखाई देती है। देखा गया है कि ऐसे घरानेदार कलारत्न कभी-कभी विपरीत परिस्थिति में घिर कर कष्ट और दरिद्रता से मिट जाते है किन्तु अन्त समय तक घराने का अहम् नहीं छोड़ते। घराने के प्रति अभिमान की अधिकता में कभी-कभी यह हालत हो जाती है कि घराना व्यक्ति विशेष के ऊपर छा जाता है और कलाकार की निजी प्रतिभा उसमें डूब जाती है। अतः अपने घराने की सम्पूर्ण विद्या आत्मसात् हो जाने के बाद यदि कोई कलाकार दूसरे घराने की कुछ अच्छी बातें अपनाएँ तो उसकी कला के सौन्दर्य में वृद्धि होती है।

आजकल देश में जो कुछ तबला सुनने को मिलता है, उसमें अधिकतर प्रत्येक घराने की बन्दिशों का समावेश देखा जाता है। इससे घराने का सत्यानाश हो गया, ऐसा कहने सुनने वाले व्यक्ति की मनोवृत्ति अत्यन्त संकुचित ही मानी जायेगी। हाँ, इतना आवश्यक है कि किसी एक घराने की परम्परागत विद्या का दीर्घ अभ्यास हो जाने के बाद ही दूसरे घरानों की सुन्दर बातों को अपनाना योग्य होगा। यदि बुद्धि परिपक्व हो गयी हो तो बाहर से ली गयी अच्छी बातें कलाकार की व्यक्तिगत कला साधना को निस्सदेह अलंकृत ही करती हैं।

इस विषय पर वामनराव देशपांडे लिखते हैं :

"Many artists of an earlier era are known today as representatives of single gharana but we do not know how much they owed to their accredited gharana and how much to others. But the above narration should suggest that in all likelihood they too owed their greatness to influences from outside."[३२]

मनुष्य का मन सौन्दर्य से सदा आकर्षित होता रहा है, अतः यह अत्यन्त स्वाभाविक है कि बाहर के किसी कलाकार की सुन्दर शैली के प्रति उसका मन आकर्षित हो। कभी-कभी यह आकर्षण इतना प्रबल हो जाता है कि जाने अनजाने ही उसके वादन में, उस व्यक्ति विशेष का प्रभाव दृष्टिगोचर होने लगता है।

---

32. Indian Musical Traditions : V. H. Dehpande, Page : 83.

कहा जाता है कि मृदंग सम्राट् कुदऊ सिंह महाराज के व्यक्तित्व में इतना प्रभाव था तथा उनके वादन में इतना आकर्षण था कि उनके समकालीन अनेक कलाकारों के पखावज में उनकी वादन शैली की छाप दिखाई देती थी। यहाँ तक कि उनके घराने से कोई सम्बन्ध न होते हुये भी ऐसे बहुत से मृदगवादक हो गये जिनके वादन में कुदऊसिंह महाराज की शैली का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता था।

कोई कलाकार प्रत्येक घराने की सभी विशेषताएँ अपने वादन में सम्मिलित नही कर सकता क्योंकि उसकी भी कुछ मर्यादाएँ होती हैं। अपनी मर्यादा और सीमा को ध्यान में रख कर वह अपनी वादन प्रणाली को अपनी योग्यतानुसार तथा प्रतिभानुसार रूप देता है।

घराने की परिभाषा, उद्भव और विकास पर विचार कर लेने के बाद अब हम आधुनिक युग में घराने की स्थिति, उसकी आवश्यकता तथा उसके भविष्य पर विचार करेंगे।

वर्तमान परिस्थिति में घरानों का भविष्य

घरानो ने आज तक भारतीय संगीत कला को सम्भालने का महत्वपूर्ण कार्य किया है। अब यह अनुभव किया जा रहा है कि युग परिवर्तन के साथ-साथ उसका महत्व कम होता जा रहा है। तब यह चिन्ता भी उचित ही है कि आज के मुक्त वातावरण में संगीत की सूक्ष्मताएँ तथा गहनतायें अपनी पूर्णतः रक्षा कर सकने में समर्थ होगी या नही।

बीसवी शताब्दी का आरम्भ काल केवल भारत के स्वातंत्र्य युग का ही क्रान्ति काल नही है, अपितु सगीत कला की दृष्टि से भी एक अनोखी क्रान्ति का युग माना जा सकता है। संगीतोद्धारक विष्णुद्वय प० विष्णु नारायण भातखडे तथा प० विष्णु दिगम्बर पलुस्कर ने अपने घोर परिश्रम और कठोर साधना के द्वारा संगीत को अपने सीमित दायरो से बाहर निकाल कर आम जनता के लिए सुलभ बनाया है और समाज में उसे सम्माननीय स्थान दिलाया है। भारतीय संगीत इन युग प्रवर्तक विष्णुद्वय का चिरकाल तक ऋणी रहेगा।

आज संगीत का क्षेत्र विस्तृत हो गया। अधिक लोग उसे सुनते, समझते हैं तथा सीखते हैं। सगीत महफिल, संगीत सम्मेलन, आकाशवाणी, दूरदर्शन रिकार्ड और टेपरिकार्डर के कारण वह अत्यंत सहज होकर घर-घर फैल गया है। आज सगीत पर अनेक पुस्तकें लिखी जा रही हैं। बन्दिशों की स्वरलिपियाँ, नृत्य के तोड़े टुकडे तथा तबला पखावज की बंदिशें होती जा रही हैं। जिस गायकी या बाज को सुनने के लिए आज से ४० वर्ष पूर्व तक एक घरानेदार कलाकार को राजी करना कठिन था, आज उसी गायकी या बाज को हम सहज रूप से रेडियो, टेलिविजन या रिकार्डों में बार-बार सुन सकते हैं।

आज संगीत सीखना सरल हो गया है। बीसवी शताब्दी के आरम्भ काल से भारत के करीब सभी नगरों मे, सगीत के विद्यालयो, महाविद्यालयों तथा विविध सस्थाएँ खुलने लगी हैं। 'संगीत' मासिक (हाथरस) तथा 'संगीत कला विहार' (मिरज) जैसी पत्र-पत्रिकाओ के कारण अप्राप्य और गुप्त बातें प्रकाश मे आने लगी हैं। संगीत कार्यालय, हाथरस, उत्तर प्रदेश, से संगीत की अनेक पुस्तकों का प्रकाशन हुआ है तथा संगीत साहित्य के विकास तथा प्रचारार्थ सराहनीय कार्य हुआ है, जिससे फलस्वरूप सगीत सबके लिए सुलभ हो गया है। आज किसी विद्यार्थी को सगीत सीखने के हेतु गुरु के घर रह कर उनकी सेवा करना अनिवार्य नहीं, आज लोगों को अलग-अलग घराने की विद्या एक ही मच से सुनने को मिल जाती है। अतः संगीत के विद्यार्थी

प्रत्येक घराने की कोई न कोई अच्छी बातें अपने-अपने गायन वादन में सम्मिलित करना पसंद करें तो यह एक अत्यन्त स्वाभाविक ही है। खेद इस बात का है कि संगीत का प्रचार घर-घर में हो जाने पर भी तथा उसके अनेक विद्यालय, महाविद्यालयों में मुक्त रूप से संगीत सिखाया जाने पर भी उसका स्तर धीरे-धीरे गिरता जा रहा है।

जीवनोपार्जन की भाग-दौड़ के कारण अभ्यास की कमी, संगीत की विशेषताओ को परिश्रमपूर्वक आत्मसात् करने की लगन तथा धीरज का अभाव तथा विद्यालयो में संगीत शिक्षा की प्रणाली की असफलता के कारण आज यह परिस्थिति उत्पन्न हुई है।

पुराने विद्यार्थियों की तरह आज का विद्यार्थी चाहने पर भी दिन के दस घंटे अभ्यास नहीं कर सकता क्योंकि आज का जीवन घड़ी की सुई पर चलता है। ऐसी हालत में जीवन निर्वाह की जिम्मेदारियो को निभाते हुए उसे मुश्किल से दो चार घटे, दिन भर में अभ्यास के लिए मिल पाते हैं। अतः यह परिवर्तन परिस्थितिजन्य है।

पुराने जमाने में शिष्य, गुरु के घर रह कर वर्षों पर्यन्त तालीम लिया करते थे। उन दिनों कलाकारों को राजदरबारों में आश्रय मिला करता था अतः आर्थिक जिम्मेदारियों से मुक्त रह कर वे विद्या दान और अभ्यास में पूरा ध्यान लगा सकते थे।

आज की परिस्थिति भिन्न है। अब संगीत शिक्षा प्रणाली में बहुत परिवर्तन हो चुका है, प्राचीन गुरु शिष्य परम्परा लुप्त होती जा रही है। आज विद्यालयों में संगीत की शिक्षा दी जाती है। कलाकारों के सिर पर राजाश्रय न रहने के कारण उन्हे विवश होकर अर्थोपार्जन की ओर ध्यान देना पड़ता है। अपने तथा अपने परिवार के जीवन की जिम्मेदारी उनके सिर पर रहती है अतः अर्थोपार्जन की दृष्टि से उन्हें विद्या देनी पड़ती है। सगीत विद्यालयो मे जिस प्रकार एक साथ में दस-बीस विद्यार्थियों को सिखाया जाता है, इससे न तो सच्ची विद्या गुरु दे सकता है और न ही शिष्य ग्रहण कर सकता है। वैसे भी संगीत स्कूल या कालेजों में सीख-कर या पुस्तकें पढ़कर कलाकार बनना कठिन है। संदर्भ के लिये पुस्तक ठीक है किन्तु गुरु की व्यक्तिगत रुचि और दृष्टि ही शिष्य की प्रगति का सतत ध्यान रख सकती है। प्रत्येक विद्यार्थी की बुद्धिक्षमता तथा ग्रहण शक्ति पृथक् होती है, अतः विद्यार्थी के सामर्थ्य के गुण-धर्म को लक्ष्य मे रख कर पुराने जमाने में गुरु लोग शिक्षा दिया करते थे। आज तो अधिकतर विद्यालयों में करीब एक घन्टे के समय में दस पन्द्रह विद्यार्थियों तक को एक साथ शिक्षा दी जाती है, अतः इन सब महत्वपूर्ण बातों पर व्यक्तिगत रुप से ध्यान देने का प्रश्न ही नही उठता फिर भी विद्यालीय संगीत शिक्षा की उपयोगिता को पूर्णतः नकारा नही जा सकता। कम से कम संगीत के प्रतिभाशाली छात्राओं को खोज निकालना और साधारण लोगो को संगीत से रुचि उत्पन्न करने में इन विद्यालयों की बहुत उपयोगिता है।

यह सत्य है कि आज का विद्यार्थी अधिक चतुर और बुद्धिमान है। वह शिक्षित होने के कारण प्रत्येक बात को वैज्ञानिक कसौटी पर कस कर ही ग्रहण करता है, किन्तु जीवन में कोरा सिद्धांतवाद और तर्क बुद्धि ही सब कुछ नहीं होती। जब संगीत से भावना, भक्ति तथा माधुर्य हट जाए तथा कोरा बुद्धि चातुर्य ही रह जाए तो वह कला मिटकर सिर्फ कसरत और गलेबाजी ही रह जाती है।

पुराने गुरुओं तथा उस्तादो पर ऐसा आरोप लगाया जाता है कि वे विद्यादान कृपण थे। कुछ लोग ऐसे थे यह बात सच है। किन्तु सभी गुरुओं पर यह आरोप नहीं

जा सकता, क्योकि जिस युग में 'रेडियो', 'टेलीविजन', 'रिकार्डर' 'टेपरिकार्डर' या पुस्तक जैसी कोई सहूलियत उपलब्ध नही थी, उस युग में ऐसे-ऐसे महान् कलाकार पैदा हुए हैं जिन्हे हजारों बन्दिशें कण्ठस्थ थी। यदि उनको सिखाया नहीं गया होता तो वह उन्हे आती कैसे ? हां, यह बात अवश्य थी कि उन दिनों शिष्यों की कठोर परख की जाती थी और शिष्य की योग्यता सिद्ध हो जाने पर ही गुरु विद्यादान करते थे। आज विद्यालयों की शिक्षा प्रणाली में शिष्य की योग्यता की कसौटी की बात भी हास्यप्रद लगती है। इसलिए तो जो संगीत शिक्षण कल तक भक्ति और निष्ठा का रूप था वह आजकल एक धंधा बन गया है। इन सब बातों से यही निष्कर्ष निकलता है कि विद्यालयो की शिक्षा प्रणाली कलाकारो को उत्पन्न करने के लिए पूर्णतः योग्य नही है। गुरु-शिष्य प्रणाली ही इसके लिए सर्वश्रेष्ठ कही जा सकती है। किन्तु खेद इस बात का है कि आज के युग में गुरु-शिष्य प्रणाली का पुनरुद्धार संभव नहीं दिखलायी पड़ता। ऐसी हालत में संगीत का स्तर बनाये रखने के लिये क्या किया जाए यह प्रश्न विचारणीय है। गुरु-शिष्य परम्परा की पुनः स्थापना युग की परिस्थिति के अनुसार योग्य नहीं है और विद्यालयों की शिक्षा उच्चकोटि के कलाकारों को उत्पन्न करने में असमर्थ है। अतः बीच का कोई मार्ग ढूंढना आवश्यक हो जाता है।

मेरी दृष्टि से तो आज के युग में संगीत शिक्षा के लिए इन दोनों प्रणालियो का मिश्रण करके ऐसी पर्याप्त संगीत संस्थाएँ हर जगह स्थापित करना चाहिए जो सरकारी सहयोग से अथवा संगीत प्रेमी दाताओ के सहयोग से चलती हों। एक युग में कलाकारो को जिस प्रकार राजाश्रय मिला करता था, उसी प्रकार ऐसी संस्थाएँ अपने यहाँ उच्चकोटि के कलाकारों को आश्रय प्रदान करें ताकि उनके लिए जीवनोपार्जन का प्रश्न हल हो जाए। होनहार विद्यार्थियों को ऐसे धुरन्धर गुरुओं से तालीम दिलाने का वहाँ प्रबन्ध किया जाए तथा इस बात का विशेष ध्यान रखा जाए कि प्रत्येक विद्यार्थी की रुचि एवं क्षमता के अनुसार ही उसे उन कला-गुरुओं से व्यक्तिगत एवं परम्परागत शिक्षा प्राप्त हो। ऐसी संस्थाओ में विद्यार्थियों का चुनाव बिना पक्षपात से उनकी योग्यतानुसार किया जाए जिनका खर्च, शिष्य वृत्ति के रूप में सरकार द्वारा या संस्था द्वारा उठाया जाए। इससे गुरु-शिष्य परम्परा दूसरे रूप में सजीव हो सकती है तथा विद्यार्थियों के विकास पर भी ध्यान दिया जा सकता है। व्यक्तिगत-रूप से तालीम दी जाने के कारण, इसमें गुरु तथा शिष्य के बीच स्नेह एवं श्रद्धा का नाता भी बना रह सकेगा, जो संगीत शिक्षा का महत्वपूर्ण अंग है। यद्यपि विद्यार्थियों के चुनाव में तथा उन्हें स्थान मिलने में कदाचित् कठिनाई हो सकती है। पहले भी गुरु-शिष्य परम्परा में शिष्य को योग्य गुरु के पास पहुँचने में कठिनाई तो होती ही थी। अतः इस प्रकार की संस्थाएँ स्थापित करना अत्यावश्यक है जो निस्पृह भाव से तथा बिना किसी पक्षपात या स्वार्थ से विद्यार्थियों का, उनकी योग्यतानुसार चुनाव करें एवं उनको आगे बढ़ने का अवसर दें जिससे उच्चकोटि के कलाकार उत्पन्न हो सकें जो संगीत की परम्परागत संस्कृति को कायम रखने तथा आगे बढ़ाने में समर्थ हों।

आज के परिपेक्ष में घराने एवं उनका नवीन संयोजन

संगीत की सभी शिक्षा प्रणालियों तथा उसके विविध घरानों के उद्भव, विकास, तथा महत्व पर सर्वाङ्गीण दृष्टिपात कर लेने के पश्चात् अब हम प्रत्येक घराने की शुद्धता एवं कट्टरता के आधार पर आधुनिक परिस्थितियों में घराने की आवश्यकता और उनके स्थान पर विचार करेंगे।

आज के युग में घराने की पृथक् शैली का परम्परागत एवं कट्टरतापूर्वक अनुसरण होना कठिन होता जा रहा है। आज के कलाकार के गायन, वादन या नृत्य में किसी एक ही घराने की गायकी या बाज को सुनने को मिलना शनैः-शनैः दुर्लभ होता जा रहा है।

लोकाभिरुचि पर अवलम्बित होने के कारण संगीत सदैव परिवर्तनशील रहा है। आज का कलाकार, प्रत्येक घराने की सुन्दर बातों को अपने गायन-वादन में सम्मिलित करने का प्रयास करता है, क्योंकि जहाँ कहीं कोई सुन्दर बात देखने को मिले उसे अपना लेना, यह मनुष्य के सौन्दर्य प्रेमी स्वभाव का एक पहलू है। अतः जहाँ तक प्रत्येक घराने की विशेषताओं को सम्भालने का प्रयास होता है, तथा उसकी बन्दिशो को निकालने का सही ढंग गुरु द्वारा यथायोग्य सिखाया जाता है, वहाँ तक प्रस्तुतीकरण की यह नवीन पद्धति अयोग्य नहीं मानी जा सकती। यह सही है कि इससे घराने का दायरा टूट जाता है किन्तु यह भी सत्य है कि घराने के संकुचित दायरे से निकल कर संगीत कला उदार दृष्टिकोण में ही विकसित हो सकती है। इसे हम युग के साथ कदम मिला कर विकासवाद की ओर अग्रसर होने का एक प्रयास ही कहेंगे। कल, 'कल' था जो बीत चुका है और आज 'आज' है जो हमारे सामने नवीन विचार लिये खड़ा है। अतः हम 'आज' के साथ क्यों न कदम मिलाकर चलें ?

श्री वामनराव देशपांडे के अनुसार : "No gharana can escape its natural limitations. A singer pledging himself to one single gharana is likely to develop in one-sided manner. If one wants a variety of colours, one must learn from many gurus."

"Who can be sure that in this state of affairs the gharanas, with their 'Ustads', 'Shagirds', initiation ceremonies and other traditional observances will continue to exist ? A truly cataclysmic transformation is taking place."

"It is therefore necessary to break one's shell, venture out, storm the fortresses of gharana in order to attain excellence of any kind."

"If one wishes fo enrich one's own style it is evident that one must be ready to absorb infiuences from many quarters."[33]

अतः हमें चाहिए कि प्रत्येक घराने की विशेषताओं को ग्रहण करें। इन सारी खूबियो को सीखने, समझने तथा व्यवहार में प्रयुक्त करने के लिए घरानेदार एवं नियमबद्ध तालीम की आवश्यकता अनिवार्य है। जब व्यक्ति को ज्ञान हो जाए, प्रत्येक वादन शैली का अन्तर मालूम हो जाए, उनकी अच्छाइयाँ-बुराइयाँ समझने की क्षमता आ जाए तो वह अपना रास्ता स्वयं चुन सकता है। आज के युग में घराने की आवश्यकता व्यक्ति के ज्ञान की परिधि तक ही सीमित है, इससे अधिक नहीं।

व्यक्ति के वादन में आधुनिकरण निश्चित सीमा तक होना आवश्यक है। परिवर्तन के मोह में या आधुनिकरण की धुन में विकृति न आ जाए इसे ध्यान में रखना बहुत आवश्यक है।

---

३३. Indian Musical Traditions : Limitations of Gharana System. Pages : 82 to 94 By Vamanrao H. Deshpande.

कुछ पुरानी बातें इतनी सुन्दर हैं कि उन्हें परम्परागत अपना लेना कला और कलाकार दोनों के लिये गौरवास्पद होता है। अतः प्रश्न के दोनों ओर ध्यान देना आवश्यक है। कलाकार चाहे घरानों की सीमा में बँध कर रहे या उससे मुक्त होकर, उसे वही मार्ग अपनाना चाहिए जो उसकी कला को गरिमा प्रदान करे तथा उसके संगीत को प्रभावशाली बनाये।

ऐसा कहना उचित नहीं होगा कि घरानों के समिश्रण का प्रारम्भ, संगीत में आधुनिक संस्करण है। मानव स्वभाव के अनुसार इसका मिश्रण बहुत पहले से ही होता आया है। उ० मुनीर खाँ को सभी घरानों के बाजों पर पूर्ण अधिकार था, किन्तु वे फर्रुखाबाद घराने के ही प्रतिनिधि माने जाते थे। अजराड़े के परम्परागत उस्ताद हबीबुद्दीन के तबले में दिल्ली और पूरब दोनों सुनने को मिलता था। लखनऊ के खलिफा आबीद हुसेन खाँ जहाँ लखनऊ की गतें और चक्करदार बजाते थे, वहाँ दिल्ली के कायदे भी विविधता के लिये सुनाया करते थे। अतः घरानों का मिश्रण तो वर्षों से होता आ रहा है।

पुरानी पीढ़ी और आज के लोगों में अन्तर सिर्फ इतना है कि पुराने घरानेदार कलाकार अपने घराने के उपरान्त सभी घरानो की विद्या प्राप्त कर लेते थे तथा दूसरे शिष्य लोग अलग-अलग घराने के गुरुओ से शिक्षा पा लेने के पश्चात् किसी एक घराने की शैली को मुख्यतः अपना लेते थे और उसके साथ अपना सम्बन्ध अन्त तक बनाये रखते थे। आज की परिस्थिति कुछ और है। आज के अधिकतर कलाकार किसी एक घराने से अपना सम्बन्ध नहीं जोड़ते वरन प्रत्येक घराने की सुन्दर बातो को अपने गायन, वादन, नृत्य मे बिना किसी झिझक या घरानों के भेदभाव के शामिल कर देते हैं। आज सौन्दर्य भावना मुख्य हो गयी है और घराने के बन्धन शिथिल हो गये हैं। जैसे-जैसे लोकरुचि में परिवर्तन होता गया है वैसे-वैसे संगीत को अपनाने की दृष्टि में भी कल से आज में बहुत अन्तर पड़ गया है। संगीत-कला जो कुछ वर्ष पूर्व तक आम जनता के लिए जादुई चिराग़ था आज सहज प्राप्य एवं साध्य हो गया है। ऐसी परिस्थिति में 'घराने नष्ट हो रहे हैं' ऐसा विलाप करने से कहीं अधिक उचित यही होगा, कि हम अपनी गायन-वादन शैली का सर्वांगीण परीक्षण एवं नवीन संयोजन करें। प्रत्येक घराने की हर अच्छी बात को ग्रहण करने का प्रयत्न करें और दोषों को छोड़ दें। उसकी सूक्ष्मताओं को अपनायें और उसकी कट्टर संकुचित वृत्ति को विदा करें। उसके गौरव को ग्रहण करें और उसके मिथ्याभिमान का त्याग करें।

● ●

अध्याय २

मृदंग की उत्पत्ति, विकास और स्वरूप

उत्पत्ति

कुछ विद्वानों के मतानुसार मृदंग भारतीय संगीत का आदि तालवाद्य है, जिसकी उत्पत्ति ब्रह्मा द्वारा हुई। इस सम्बन्ध में अनेक किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। मनुष्य के अति श्रद्धालु स्वभाव का यह एक पहलू है कि जिस वस्तु के रहस्य से वह अनभिज्ञ होता है उसका सम्बन्ध वह किसी न किसी देवी-देवता से जोड़ देता है। इसी प्रकार मृदंग जैसे प्राचीनतम ताल वाद्य का सम्बन्ध भी देवी-देवताओं के साथ जोड़ दिया गया होगा। वैसे भी भारतीय जनता में देवी-देवताओं के प्रति अपूर्व श्रद्धा देखने को मिलती है। उदाहरण के रूप में दो किंवदन्तियाँ यहाँ प्रस्तुत हैं :

"भगवान् शंकर ने जब त्रिपुरासुर नामक राक्षस का वध किया तो आनन्द के अतिरेक में वे नृत्य करने लगे। किन्तु वह नृत्य लय में नहीं था, अतः इससे पृथ्वी डांवाडोल होने लगी। जगत्स्रष्टा ने जब देखा कि पृथ्वी रसातल में जा रही है तो वे भयभीत हुए और प्रलय निवारण हेतु उन्होंने तुरन्त त्रिपुरासुर के शरीरावशेष से मृदग की रचना करके, विजयी शंकर के साथ ताल देने के लिए उनके पुत्र श्री गणेश को प्रेरणा दी। गणपति जी के मृदंगवादन से प्रभावित होकर शंकर जी ताल में नृत्य करने लगे और इस तरह मृदंग का उद्भव एवं ताल का प्रादुर्भाव होने के कारण पृथ्वी रसातल में जाने से बच गयी।"[१] यह एक कपोल-कल्पित कथा लगती है जो आज के वैज्ञानिक युग में मनुष्य के बौद्धिक तर्क-वितर्क के साथ खरी नहीं उतरती।

पुष्कर वाद्यों के लिये नाट्यशास्त्र में भी एक वृतांत है :

"स्वाति और नारद संगीत वाद्यों के आदिकर्ता हैं। एक बार स्वाति एक सरोवर पर पानी लाने गये। अचानक वर्षा होने लगी। वायुवेग से सरोवर में पानी की बड़ी-बड़ी बूँदों के पड़ने के कारण पद्म की छोटी, बड़ी और मंझली पंखुड़ियों पर वर्षा बिन्दुओं के आघात से विभिन्न ध्वनियाँ उत्पन्न होने लगी। उनकी अव्यक्त मधुरता को सुनकर आश्चर्यचकित स्वाति ने उन ध्वनियों को अपने मन में धारण कर लिया और आश्रम पर पहुँचते ही विश्वकर्मा को इसी तरह के शब्द उत्पन्न करने के लिए एक वाद्य बनाने का आदेश दिया। फलतः तीन मुखो से युक्त 'मृत्' (मिट्टी) से पुष्कर नामक वाद्य की सृष्टि हुई। बाद में उसका पिन्ड लकड़ी या लोहे से बनाया गया। तब से हमारे मृदगादि चमड़े से मढ़े हुए वाद्यो की सृष्टि हुई।"[२]

आगमों में बताया गया है कि मिट्टी से बनाये गये मृदंग की सृष्टि ब्रह्मा ने की है और शिवतांडव का साथ देने के लिये ही उसकी उत्पत्ति हुई। प्राचीन पुष्कर आज व्यवहार में नहीं है, पर मृदंग आदिकाल से अब तक अवनद्ध वाद्यो में मुख्य स्थान पाता रहा है।

विकास और स्वरूप

ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाए तो भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में हमें सर्वप्रथम मृदंग के

---

१. ताल अंक, पृष्ठ ४८, संगीत कार्यालय, हाथरस, यू० पी०

२. संगीत शास्त्र : के० वासुदेव शास्त्री : अवनद्ध वाद्य अध्याय, पृष्ठ २७३

कुछ पुरानी बातें इतनी सुन्दर हैं कि उन्हें परम्परागत अपना लेना कला और कलाकार दोनों के लिये गौरवास्पद होता है। अतः प्रश्न के दोनों ओर ध्यान देना आवश्यक है। कलाकार चाहे घरानों की सीमा में बँध कर रहे या उससे मुक्त होकर, उसे वही मार्ग अपनाना चाहिए जो उसकी कला को गरिमा प्रदान करे तथा उसके संगीत को प्रभावशाली बनाये।

ऐसा कहना उचित नहीं होगा कि घरानों के संमिश्रण का प्रारम्भ, संगीत में आधुनिक संस्करण है। मानव स्वभाव के अनुसार इसका मिश्रण बहुत पहले से ही होता आया है। उ० मुनीर खाँ को सभी घरानों के बाजों पर पूर्ण अधिकार था, किन्तु वे फर्रुखाबाद घराने के ही प्रतिनिधि माने जाते थे। अजराड़े के परम्परागत उस्ताद हबीबुद्दीन के तबले में दिल्ली और पूरब दोनों सुनने को मिलता था। लखनऊ के खलिफा आबीद हुसैन खाँ जहाँ लखनऊ की गतें और चक्करदार बजाते थे, वहाँ दिल्ली के कायदे भी विविधता के लिये सुनाया करते थे। अतः घरानों का मिश्रण तो वर्षों से होता आ रहा है।

पुरानी पीढ़ी और आज के लोगों में अन्तर सिर्फ इतना है कि पुराने घरानेदार कलाकार अपने घराने के उपरान्त सभी घरानों की विद्या प्राप्त कर लेते थे तथा दूसरे शिष्य लोग अलग-अलग घराने के गुरुओं से शिक्षा पा लेने के पश्चात् किसी एक घराने की शैली को मुख्यतः अपना लेते थे और उसके साथ अपना सम्बन्ध अन्त तक बनाये रखते थे। आज की परिस्थिति कुछ और है। आज के अधिकतर कलाकार किसी एक घराने से अपना सम्बन्ध नहीं जोड़ते बल्कि प्रत्येक घराने की सुन्दर बातों को अपने गायन, वादन, नृत्य में बिना किसी झिझक या घरानों के भेदभाव के शामिल कर देते हैं। आज सौन्दर्य भावना मुख्य हो गयी है और घराने के बन्धन शिथिल हो गये हैं। जैसे-जैसे लोकरुचि में परिवर्तन होता गया है वैसे-वैसे संगीत को अपनाने की दृष्टि में भी कल से आज में बहुत अन्तर पड़ गया है। संगीत-कला जो कुछ वर्ष पूर्व तक आम जनता के लिए जादुई चिराग था आज सहज प्राप्य एवं साध्य हो गया है। ऐसी परिस्थिति में 'घराने नष्ट हो रहे हैं' ऐसा विलाप करने से कहीं अधिक उचित यही होगा, कि हम अपनी गायन-वादन शैली का सर्वांगीण परीक्षण एवं नवीन संयोजन करें। प्रत्येक घराने की हर अच्छी बात को ग्रहण करने का प्रयत्न करें और दोषों को छोड़ दें। उसकी सूक्ष्मताओं को अपनायें और उसकी कट्टर संकुचित वृत्ति को विदा करें। उसके गौरव को ग्रहण करें और उसके मिथ्याभिमान का त्याग करें।

● ●

अध्याय २

मृदंग की उत्पत्ति, विकास और स्वरूप

उत्पत्ति

कुछ विद्वानों के मतानुसार मृदंग भारतीय संगीत का आदि तालवाद्य है, जिसकी उत्पत्ति ब्रह्मा द्वारा हुई। इस सम्बन्ध में अनेक किवदन्तियां प्रचलित हैं। मनुष्य के अति श्रद्धालु स्वभाव का यह एक पहलू है कि जिस वस्तु के रहस्य से वह अनभिज्ञ होता है उसका सम्बन्ध वह किसी न किसी देवी-देवता से जोड़ देता है। इसी प्रकार मृदंग जैसे प्राचीनतम ताल वाद्य का सम्बन्ध भी देवी-देवताओं के साथ जोड़ दिया गया होगा। वैसे भी भारतीय जनता में देवी-देवताओं के प्रति अपूर्व श्रद्धा देखने को मिलती है। उदाहरण के रूप में दो किवदन्तियां यहां प्रस्तुत हैं :

"भगवान् शंकर ने जब त्रिपुरासुर नामक राक्षस का वध किया तो आनन्द के अतिरेक में वे नृत्य करने लगे। किन्तु वह नृत्य लय में नहीं था, अतः इससे पृथ्वी डांवाडोल होने लगी। जगत्स्रष्टा ने जब देखा कि पृथ्वी रसातल में जा रही है तो वे भयभीत हुए और प्रलय निवारण हेतु उन्होंने तुरन्त त्रिपुरासुर के शरीरावशेष से मृदंग की रचना करके, विजयी शंकर के साथ ताल देने के लिए उनके पुत्र श्री गणेश को प्रेरणा दी। गणपति जी के मृदंगवादन से प्रभावित होकर शंकर जी ताल में नृत्य करने लगे और इस तरह मृदग का उद्भव एवं ताल का प्रादुर्भाव होने के कारण पृथ्वी रसातल में जाने से बच गयी।"[१] यह एक कपोल-कल्पित कथा लगती है जो आज के वैज्ञानिक युग में मनुष्य के बौद्धिक तर्क-वितर्क के साथ खरी नहीं उतरती।

पुष्कर वाद्यों के लिये नाट्यशास्त्र में भी एक वृतांत है :

"स्वाति और नारद संगीत वाद्यों के आदिकर्ता हैं। एक बार स्वाति एक सरोवर पर पानी लाने गये। अचानक वर्षा होने लगी। वायुवेग से सरोवर में पानी की बडी-बड़ी बूंदों के पड़ने के कारण पद्म की छोटी, बड़ी और मंझली पंखुड़ियों पर वर्षा बिन्दुओं के आघात से विभिन्न ध्वनियां उत्पन्न होने लगी। उनकी अव्यक्त मधुरता को सुनकर आश्चर्यचकित स्वाति ने उन ध्वनियों को अपने मन में धारण कर लिया और आश्रम पर पहुँचते ही विश्वकर्मा को इसी तरह के शब्द उत्पन्न करने के लिए एक वाद्य बनाने का आदेश दिया। फलतः तीन मुखों से युक्त 'मृत्' (मिट्टी) से पुष्कर नामक वाद्य की सृष्टि हुई। बाद मे उसका पिन्ड लकड़ी या लोहे से बनाया गया। तब से हमारे मृदंगादि चमड़े से मढ़े हुए वाद्यो की सृष्टि हुई।"[२]

आगमों में बताया गया है कि मिट्टी से बनाये गये मृदग की सृष्टि ब्रह्मा ने की है और शिवताडव का साथ देने के लिये ही उसकी उत्पत्ति हुई। प्राचीन पुष्कर आज व्यवहार में नही है, पर मृदंग आदिकाल से अब तक अवनद्ध वाद्यों में मुख्य स्थान पाता रहा है।

विकास और स्वरूप

ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाए तो भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में हमें सर्वप्रथम मृदंग के

१. ताल अंक, पृष्ठ ४८, संगीत कार्यालय, हाथरस, यू० पी०

२. संगीत शास्त्र : के० वासुदेव शास्त्री : अवनद्ध वाद्य अध्याय, पृष्ठ २७३

आकार, प्रकार तथा शैली का विशद वर्णन मिलता है जो हमारी कला संस्कृति का मूल ग्रन्थ माना जाता है। भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में पुष्कर वाद्यों के रूप में मृदंग, पणव तथा दुर्दर की चर्चा की है और मृदंग को त्रिपुष्कर कहकर उसके तीनों अंगों का विस्तृत विवेचन किया है।[३]

मोहनजोदड़ो की खुदाई में सिन्धु घाटी की हजारों वर्ष पुरानी संस्कृति का जो पता चलता है इसमें कुछ मूर्तियाँ ऐसी प्राप्त हुई हैं जिनके हाथ में वाद्य दिखाई देते हैं। एक मूर्ति के गले में लटकता हुआ ढोल जैसा वाद्य है और एक वाद्य आधुनिक मृदंग के पूर्वज जैसा भी प्राप्त होता है। इस विधान का उल्लेख करते हुए स्वामी प्रज्ञानंद जी लिखते हैं कि:—

"In one of the terracotta figures, a kind of drum is to be seen hanging from the neck and two seals, we find a precursor of the modern Mridanga with skins at either ends.'[४]

हमारी भारतीय संस्कृति की ज्ञान समृद्धि वेदों में संकलित है। वैदिक काल में संगीत अपने चरमोत्कर्ष पर था। सामाजिक एवं धार्मिक उत्सवों में उसका प्रयोग अनिवार्य समझा जाता था। स्त्रियों में भी उसका काफी प्रचार था तथा आम जनता में उसके प्रति सम्मान की भावना व्याप्त थी।

वैदिक साहित्य में दुंदुभि, भूमि-दुदुभि जैसे अवनद्ध वाद्यों का ही उल्लेख उपलब्ध है, किन्तु कहीं भी मृदग शब्द का प्रयोग नहीं मिलता। इससे प्रतीत होता है कि वैदिक काल में मृदंग का आविष्कार नहीं हुआ होगा।[५]

पौराणिक काल में वीणा, दुंदुभि, दर्दुर, मृदंग, पणव, पुष्कर जैसे वाद्यों का प्रचार था, ऐसा उल्लेख मार्कण्डेय पुराण में मिलता है।

रामायण काल में संगीत का पर्याप्त विकास हो चुका था। रावण स्वयं उच्च कोटि के संगीतज्ञ थे। अतः उनके राज्य में संगीत और संगीतज्ञों का बहुत आदर होता था। जीवन निर्वाह की चिन्ता न होने के कारण मनुष्य अपना अधिक समय संगीत-साधना में देता था।[६]

---

३. (अ) ध्यात्वा सृष्टिं मृदंगानां पुष्करानसृजत् ततः।
पणवं दर्दरं चैव सहितो विश्वकर्मणा ॥६॥
(भरत नाट्य शास्त्र (बड़ौदा प्रकाशन) ३४।६
(३४ वें अध्याय के १ से २४ श्लोक में भी उसका वर्णन मिलता है।)

(ब) सर्वलक्षणसंयुक्तं सर्वातोद्यविभूषितम्।
मृदंगानां समासेन लक्षणं पणवस्य च ॥
दर्दरस्य च सक्षेपाद्विधानं वाद्यमेव च।
अनध्याये कदाचित्तु स्वातिर्महति दुर्दिने ॥
भरतः
(भरतकोश, रामकृष्ण राम कवि, पृ० ३७३)

४. A History of Indian Music : Swami Prajnannda Page: 87

५. भारतीय संगीत वाद्य : डा० लालमणि मिश्रा : पृ० ८८

६. (अ) भारतीय संगीत का इतिहास : भगवतशरण शर्मा, पृ० २१-२३
(ब) भारतीय संगीत का इतिहास : उमेश जोशी : पृ० १०५
(स) संगीत का संक्षिप्त इतिहास : श्री कोकड़नी

..... रामायण तथा महाभारत काल में वीणा और मृदंग का प्रचार था। तत्कालीन समाज के धार्मिक तथा सामाजिक उत्सवों का जो वर्णन मिलता है उसमें मृदंग तथा मुरज वादन का निर्देश हमें बार-बार मिलता है। इससे ज्ञात होता है कि उन दिनों मृदंग काफी प्रचलित था।[७] अतएव यह निष्कर्ष निकलता है कि वैदिक काल के बाद और रामायण काल से बहुत वर्ष पूर्व, मृदंग का प्रचार हो गया होगा।

रामायण महाभारत में मृदंग के साथ-साथ मुरज का वर्णन भी मिलता है। संगीत रत्नाकर में आचार्य शार्ङ्गदेव ने मुरज तथा मर्दल को मृदंग का ही पर्याय बताते हुए कहा है :

निगदन्ति मृदंगं तं मर्दलं मुरजं तथा।
प्रोक्तं मृदंगशब्देन मुनिना पुष्करत्रयम् ॥१०२७॥[८]

भरत मुनि ने भी मुरज को मृदंग का ही पर्याय माना है तथा उसे अवनद्ध वाद्यों में सर्वश्रेष्ठ बताया है। उन्होंने जिस प्रकार मृदंग का त्रिपुष्कर के रूप में वर्णन किया है इससे प्रमाणित होता है कि उन दिनों मृदंग के तीन भाग थे। अर्थात् तीनों भागों को मिलाकर ही मृदंग वाद्य समझा जाता था। उन तीन भागों के नाम आंकिक, ऊर्ध्वक तथा आलिग्य थे।

यद्यपि कुछ विद्वानों की यह भ्रामक मान्यता है कि आंकिक, ऊर्ध्वक और आलिग्य तीन पृथक् वाद्य थे, तथापि भरत के नाट्यशास्त्र के आधार पर त्रिपुष्कर के तीन भाग थे, जिन्हे भरतमुनि ने क्रमशः हरीतकी, यवाकृति तथा गोपुच्छ भी कहा है।[९]

हरीतका (क्या) कृतिस्त्वङ्को यवमध्यस्तथोर्ध्वगः।
आलिङ्गश्चैव गोपुच्छः आकृत्या सम्प्रकीर्तितः ॥[१०]

दूसरी शताब्दी के अमरावती के भित्ति चित्र में, पांचवी सदी के पवाया के शिल्प में, छठवी तथा सातवीं शताब्दी के भुवनेश्वर के मुक्तेश्वर मंदिर में, छठवीं शताब्दी के बदामी के शिल्प चित्रों में तथा अजन्ता की छब्बीस नम्बर की गुफा में त्रिपुष्कर का अत्यन्त सुस्पष्ट शिल्पचित्र हमें देखने को मिलता है। इस विषय पर प्रकाश डालते हुए स्वामी प्रज्ञानन्द जी लिखते हैं :

"In the rock cut temples of different places of India, carved in different ages, we find two or three drums, engraved by the side of Sive-Nataraja in dancing posture. Those drums are repilicas of ancient puskaras. Three drums are also to be seen caved in the Mukteshwar temple of the 6th-7th century A. D. at Bhuvaneshwar and three other in the cave temple of Badami in Bombay of the 6th Century A. D."[११]

---

७. (अ) वाल्मीकि रामायण : सुन्दर कांड, सर्ग ११

तथा

(ब) भारतीय संगीत वाद्य : डा० लालमणि मिश्र, पृ० ८८

८. संगीत रत्नाकर : पं० शारंगदेव : अनुवाद पं० एस० सुब्रह्मण्यम शास्त्री : वाद्याध्यायः श्लोक १०२७

९. भारतीय संगीत वाद्य : डा० लालमणि मिश्र : पृ० ८६

१०. भरत नाट्य शास्त्र : ३४वां अध्याय : श्लोक : २५५

११. A Historical study of Indian Music : Swami Prajnananda pages 76-77

त्रिपुष्कर के तीन भागों में से दो खड़े होते थे जिन्हें ऊर्ध्वक और आलिंग्य कहा जाता था और लेटे हुए भाग को आंकिक कहा जाता था जो अंक में रखकर बजाया जाता था। सातवीं सदी के बाद शनैः शनैः त्रिपुष्कर की इस आकृति में परिवर्तन होता गया और १२वीं शताब्दी तक, अर्थात् शारंगदेव के समय तक वह पूरी तरह परिवर्तित हो गया। उससे ऊर्ध्वक और आलिंग्य हिस्से हट गये और आंकिक जो कि अंक में रख कर बजाया जाता था वही भाग बच गया जो आगे चल कर मृदंग या मुरज के नाम से सर्वप्रचलित हुआ। अतः आजकल हम जिस वाद्य को उत्तर भारत मे मृदंग या पखावज के तथा दक्षिण भारत में मृदंगम् के नाम से सम्बोधित करते है वह भरतकालीन मृदंग का केवल एक भाग ही है।[१२]

ऐसा अनुमान है कि भरत से लेकर शार्ङ्गदेव के समय तक जो जाति और प्रबन्ध गायन किसी न किसी रूप मे प्रचलित था उसमें मृदंग के ही रूपों का प्रयोग होता होगा। आगे चलकर मध्य युग में प्रबन्ध गायकी तथा ध्रुपद गायन के साथ भी यह प्रयोग प्रचलित रहा होगा। बाद में भरतकालीन मृदग कालक्रम से अल्प परिवर्तन के साथ पखावज में परिष्कृत हुआ होगा। अतः यह निःशंक है कि प्राचीन एवं मध्यकालीन संगीत पद्धति का प्रमुख तालवाद्य मृदंग ही था।

भारत के आधुनिक तालवाद्यों की उत्पत्ति तथा विकास में भी हमें भरतकालीन त्रिपुष्कर के तीनो हिस्सों का प्रभुत्व देखने को मिलता है। जैसे ढोलक, पखावज, खोल आदि के विकास मे आंकिक का महत्व दिखाई देता है तो तबले-बायें पर ऊर्ध्वक और आलिंग्य का प्रभाव। आधुनिक तबले-बायें का आविष्कार एवं परिष्कार इन प्राचीन त्रिपुष्कर के खड़े भागों पर आधारित हो यह भी सम्भवित हो सकता है।

मृदंग का नामकरण

संस्कृत भाषा का शब्द मृदंग दो शब्दों की संधि से बना है—मृत्+अंग। मृत अर्थात् मिट्टी और अंग शब्द के दो अर्थ निकलते हैं। (१) शरीर (२) अंश अथवा भाग। अतः मृदंग शब्द के दो अर्थ निकाले जा सकते हैं :

(१) ऐसा वाद्य जिसका शरीर अथवा अंग मिट्टी का बना हो और

(२) ऐसा वाद्य जिसके शरीर का अंश मिट्टी का बना हो।

कुछ विद्वान् अंग का अर्थ शरीर निकालते हैं और मृदंग का अर्थ 'मिट्टी के अंग वाला वाद्य' ऐसा मानते हैं। किन्तु अंग शब्द का अर्थ हिस्सा भी निकलता है अतः यहाँ पर प्रश्न उद्भवित हो सकता है कि यदि पूर्ण कलेवर का रूप ही बनाना होता तो अंगी शब्द का प्रयोग क्यों न किया गया होता? क्योंकि अंग से ज्यादा अंगी शब्द पूर्ण कलेवर के रूप को अधिक स्पष्ट करता है। अतएव सम्भव है कि प्राचीन काल में मृदंग के बाहर का कलेवर भले ही मिट्टी का बनता हो किन्तु उसके आधार पर उसका नाम मृदंग न भी पड़ा हो। वैसे मृदंग मिट्टी का ही नहीं, पुरातन समय से बीजवृक्ष की लकड़ी का भी बनता आया है। पं० सोमेश्वर कृत भरतकोशः के श्लोक ५०४ से इस कथन की पुष्टि हो जाती है।

अतएव जिसके शरीर का एक अंश अथवा हिस्सा मिट्टी का हो वह मृदंग है, ऐसा अर्थ निकालना मुझे असंगत नहीं लगता। अब प्रश्न यह उठता है कि मृदंग का कौन-सा अंग मिट्टी का है?

---

१२. भारतीय संगीत वाद्य : डा० लालमणि मिश्र : पृ० १७.

प्राचीन काल से हमारे भारतीय तालवाद्यों पर स्वर की उत्पत्ति अर्थात् चमड़े पर स्वर का निर्माण महत्वपूर्ण बात समझी जाती थी। यद्यपि पाश्चात्य संगीत में "हारमोनिक नोट्स" का अत्यधिक महत्व है तथापि वहाँ के किसी भी अवनद्ध वाद्य पर स्वर की उत्पत्ति नहीं होती। किन्तु हमारे यहाँ के अवनद्ध वाद्यों पर स्वर मिलाने का चलन रहा है। भरतमुनि ने 'नाट्य-शास्त्र' में अवनद्ध वाद्यों पर स्वर की उत्पत्ति के लिये मिट्टी के लेप (स्याही) की विस्तृत चर्चा की है। नदी किनारे की श्यामा मिट्टी से किस प्रकार लेप तैयार किया जाता था इस विषय का विशद वर्णन उन्होंने नाट्यशास्त्र में किया है। इससे यह पुष्ट होता है कि भरतमुनि के पूर्व भी वहाँ मृदंग को स्वर में मिलाया जाता होगा। त्रिपुष्कर के तीनों मुखों पर स्वर निर्माण की चर्चा भरतमुनि ने की है।

उन दिनों यद्यपि विज्ञान का आज जैसा प्रचार नहीं था, किन्तु हमारे प्राचीन ऋषि-मुनियों तथा संगीतज्ञों ने क्रियात्मक रूप से देख लिया होगा कि मिट्टी के लेप से चमड़े पर स्वर की उत्पत्ति हो सकती है। तालवाद्य पर स्वर की उत्पत्ति संसार को भारत की ही देन है। स्वरनिर्मिति की इस बात को प्राचीन काल से इतना महत्वपूर्ण समझा गया होगा कि वह लेप जो कि उन दिनों श्यामा मिट्टी का हुआ करता था और जो इस तालवाद्य का एक महत्व-पूर्ण अंश था—इसके ऊपर से इस वाद्य का नाम ही मृदंग पड़ गया हो, वह सभवित लगता है। अतः मृदंग नाम मिट्टी के अंग वाले वाद्य से ही नहीं बल्कि जिसके पूर्ण कलेवर का एक अंश, अर्थात् जिसकी स्याही श्यामा मिट्टी के लेप से बनायी जाती थी, जिसके कारण स्वर का निर्माण संभवित हो सका हो, उस लेप के ऊपर मृदंग नाम पड़ा हो ऐसा मेरा अनुमान है। यद्यपि आज तो उस लेप में काफी सुधार हो चुका है तथा मिट्टी का अंश ही उससे मिट चुका है।

मृदंग तथा पखावज में अन्तर

हम देख चुके हैं कि प्राचीन एवं मध्यकालीन संगीत का प्रमुख तालवाद्य मृदंग था। मध्यकालीन ध्रुपद गायन शैली में मृदंग का ही प्राधान्य सर्व-संमत था। किन्तु मृदग के स्थान पर पखावज शब्द का प्रयोग मध्ययुग से आरंभ हुआ, जो मुगलकाल के बाद देखने को मिलता है। पन्द्रहवीं शताब्दी पर्यन्त किसी भी पुस्तक में पखावज शब्द का उल्लेख नहीं मिलता। पिछली कुछ सदियों में ताल वाद्य के इतिहास के प्रति जो उदासीनता रही जिसके फलस्वरूप हमारा प्राचीनकालीन मृदंग, पखावज (पखवाज) कैसे बन गया इसका कोई ग्रन्थाधार हमें प्राप्त नहीं होता। केवल अनुमान किया जाता है कि मध्ययुग में ध्रुपद-धमार गायकी की संगत के लिये भरतकालीन मृदंग की आकृति एवं आवाज में कुछ परिवर्तन हुआ होगा जिसके फलस्वरूप वह पखावज कहलाने लगा होगा। यह परिवर्तन ध्रुपद-धमार गायकी के अनुरूप, संगत की क्रियात्मक दृष्टि को लक्ष्य में रख कर गाम्भीर्य एवं रसोत्पत्ति के हेतु हुआ होगा। वैसे देखा जाए तो पखावज भरतकालीन मृदंग का परिष्कृत रूप ही है। भाषा की दृष्टि से मृदंग शास्त्रीय शब्द है और पखावज लोक-व्यवहार का प्रयुक्त रूप।

मध्ययुग में, उत्तर भारत में मृदग का क्रियात्मक नाम पखावज प्रसिद्ध हो चुका था। मृदंग के उस परिष्कृत रूप में अधिक अन्तर न होने के कारण कभी वह मृदंग के नाम से तो कभी वह पखावज के नाम से सम्बोधित किया जाता था। अकबरयुगीन कलाकारों तथा वाद्यों का वर्णन करते हुए आचार्य बृहस्पति ने भी पखावज का उल्लेख 'संगीत चिन्तामणि' में किया

है।[13] मध्यकालीन अष्टछाप काव्य-रचनाओं तथा भक्त कवि सूरदास के पदों में हमें मृदंग एवं पखावज दोनों शब्दों के प्रयोग देखने को मिलते हैं। भक्त कवि सूरदास जी जहाँ एक ओर कहते हैं :

"अतीत अनागत संगीत विच धान मिलाई।
सुर तालझरू नृत्य ध्याइ, पुनि मृदंग बजाई॥"[14]

वहाँ दूसरी ओर यह भी कहते हैं :

"बाजत ताल, पखाउज, झालरि, गुन गावत ज्यों हरपत।
नाचति नटी सुलय गत उमगन, सूर सुमन सुर बरपत॥"[15]

होरी के कुछ पदों में भी सूरदास जी ने मृदंग और पखावज दोनों शब्दों का प्रयोग किया है :

(१) ताल मृदग, उपंग, चंग, बीना, डफ बाजे।

तथा

(२) बाजत ताल पखावज आवज ढोलक बीना झांझ।

मध्यकालीन शास्त्रकार पं० अहोबल ने 'संगीत पारिजात' में मर्दल को ही मृदंग कहा है, जिसका वर्णन पखावज से मिलता-जुलता है।

स्वाभाविक रूप से यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि मृदंग और पखावज में क्या अन्तर है? क्या ये दोनों एक वाद्य के दो नाम हैं?

"भारतीय संगीत कोश" के प्रणेता श्री विमलाकान्त राय चौधरी पखावज की परिभाषा देते हुए कहते हैं कि :

"पखावज फारसी शब्द 'पख आवज' से बना है। पख आवज का अर्थ है जिसमें मन्द ध्वनि निकलती हो। आजकल मृदंग के साथ पखावज का आकृतिगत पार्थक्य है। पखावज को भी मृदंग कहा जाता है।"[16]

साधारणतः विद्वानों में यह मत प्रचलित है कि मिट्टी के अंग वाला वाद्य मृदंग है और लकडी के अंग वाला पखावज। पं० रामकृष्णराय कवि कृति 'भरतकोश' में श्री सोमेश्वर का श्लोक संख्या ५०४ है जो मृदंग की रचना बीजवृक्ष की लकड़ी से बताता है :

यद्यपि मृदग शब्द का अर्थ यही माना जाता है कि जिसका अंग मिट्टी का हो तथापि उसकी रचना में लकड़ी का प्रयोग होता था इस तथ्य का प्रमाण सोमेश्वर के एक श्लोक से प्रतिपादित होता है। अतः यह धारणा उचित नहीं लगती कि मिट्टी के अंग वाला वाद्य मृदंग है और लकड़ी के अंग वाला वाद्य, पखावज।

---

१३. संगीत चिन्तामणि : आचार्य बृहस्पति : पृ० ३२८
१४. बृहद सूरसागर : दशम स्कंध, पद १०६६ : पृ० ४८७
१५. वही : पद १०४४, पृ० ४८० : भक्त कवि सूरदास
१६. भारतीय संगीत कोश : पं० विमलाकान्त राय चौधरी : हिन्दी अनुवाद : मदनलाल व्यास : पृ० १२८

कुछ विद्वानों ने मृदंग तथा पखावज को एक ही वाद्य के दो नाम माने हैं। जबकि कुछ लोगों के मतानुसार पखावज आकृति में बड़ा होता है और मृदंग छोटा।

मुगल युग में आम जनता के बोलचाल का हिन्दी शब्द पखावज अथवा पखवाज मृदंग के स्थान पर प्रयुक्त होने लगा होगा। वैसे मृदंग शब्द का पखावज शब्द में रूपान्तर उसके क्रियात्मक रूप पर विशेष आधारित है।

पखवाज का अर्थ है पख याने पखुवा—बाँह का वह भाग जो बगल में पड़ता है और वाज अर्थात् बजाना। अतः पूरे बाहु से जो बजाया जाता हो वह पखवाज है। कुछ अन्य लोगों के मतानुसार पखवाज शब्द पक्षवाद्य से बना है। पक्ष के दो शाब्दिक अर्थ है—(१) भुजाएँ (२) वस्तु के दो छोर। वाद्य के दोनों मुखों पर दोनों भुजाओं के सहयोग से जो बजाया जाता हो वह पक्षवाद्य है। तत्पश्चात् बोलचाल की भाषा में पक्ष का पख और वाद्य का वाज हो गया होगा और इस प्रकार पखवाज शब्द प्रचलित हो गया होगा। गुजरात-महाराष्ट्र तथा बंगाल में आज भी पखावज को पखवाज कहते हैं।

'आतोद्य' नाम का एक शब्द संस्कृत में मिलता है जिसका अर्थ है "that which is struck." अर्थात् जो घर्षण से बजाया जाए। 'आतोद्य' का अपभ्रंश शब्द 'आवज' है, जिसका उल्लेख हमें प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है। पख याने बाहु और आवज याने वाद्य अर्थात् पखावज।

पक्ष+आवज से पखावज और पक्षवाद्य से पखवाज शब्द बना है। दोनों का अर्थ एक ही है और दोनों शब्द आजकल व्यवहार में प्रयुक्त होते दिखाई देते हैं। ऐसा अनुमान है कि ध्रुपद गायन शैली के प्रारम्भिक काल से ही लोगों ने मृदंग के परिष्कृत रूप को उसके क्रियात्मक प्रयोग के अनुसार पक्षवाद्य कहना प्रारम्भ किया होगा। बाद में वह पखावज या पखवाज बन गया होगा।

श्री बी० चैतन्य देव अपनी पुस्तक में लिखते हैं :

"The instrument (Pakhavaj) is also known as the Mridanga, some making a distinction; the Mridanga as 'having a body of burnt clay and the Pakhawaj of wood. The word is said to correspond to and derivable from Paksha-Vadya, Paksha : Sides and Vadya : instrument. Another opinion is that it is from Paksha; side and Avaz-Sound and the name seems to have entered into Hindi in 15th Century. The modern instrument Pakhavaj is slightly longer than the Mridanga and more symmetrical. It is an ankya drum."[१७]

आज उत्तर भारतीय संगीत परम्परा मे मृदंग और पखावज जैसे दो पृथक् वाद्य नहीं रह गये हैं। भरतकालीन मृदंग की ध्वनि एवं आकार से परिष्कृत—सुसंस्कृत रूप जो मध्य युग के बाद पखावज कहलायी है, वही आज मृदंग शब्द का पर्याय बन गया है। अतः जिस वाद्य को हम आज पखावज कहते हैं, वह भरत-कालीन मृदंग का ही परिष्कृत रूप है। प्राचीन काल से मृदंग शब्द की प्रतिष्ठा इतनी सुदृढ रही है कि इस शब्द के संस्कार को छोड़ने की असमर्थता के कारण हम आज भी पखावज को ही मृदंग कहते चले आ रहे हैं।

---

१७. Musical Instruments of India : B. Chaitanya Deva : P. 91

वैसे उत्तर भारत के मृदंग तथा दक्षिण भारत के मृदंगम् के आकार, ध्वनि, वादन शैली आदि सभी बातों मे काफी अन्तर सुस्पष्ट होता है। उत्तर भारतीय मृदंग का आकार मृदंगम् से बड़ा है तथा उसका नाद मृदंगम् की अपेक्षा अधिक गूंजयुक्त और गंभीर है। मृदंगम् का चमड़ा भी मृदंग से मुलायम होता है। उत्तर भारतीय मृदंग में जिस प्रकार जोरदार थाप लगायी जाती है दक्षिण के मृदंगम् मे नही देखने को मिलती। इसका मुख्य कारण यह है कि ऐसी जोरदार थाप वहाँ की कृति के लिये अनावश्यक है। ध्रुपद में जो शक्ति, गहनता, गांभीर्य एवं ओज है वह दक्षिण की कृति मे नही है। अतः वहाँ का मृदंगम्, मृदंग की अपेक्षा मुलायम तथा मृदु है। हो सकता है कि भरतकालीन मृदग का प्रागैतिहासिक रूप दक्षिण के 'मृदंगम्' में ही सुरक्षित रहा हो। यह सिद्ध हो चुका है कि आचार्य शार्ङ्गदेव के समय तक सम्पूर्ण देश में एक ही सगीत प्रणाली थी।[१८] १३ वी शताब्दी के बाद उत्तर भारत के संगीत पर यवन संगीत और संस्कृति का प्रभाव पड़ना प्रारम्भ हुआ। किन्तु दक्षिण भारत उससे अप्रभावित रहा। अतः बहुत से विद्वानों की यह मान्यता है कि आज भी दक्षिण की संगीत परम्परा अक्षुण्ण रूप से प्राचीन काल का प्रतिनिधित्व करती हुई चली आ रही है। अतएव वहाँ का मृदंगम् जो कि हमारे मृदग से ध्वनि, आकृति तथा शैली में भिन्न है, भरतकालीन मृदग का सच्चा स्वरूप है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि मृदंग, पखावज एवं मृदंगम् का भरतमुनि के मृदंग तथा शार्ङ्गदेव के मर्दल के साथ परम्परागत सम्बन्ध है। पुरातन काल से सनातन ज्ञान भंडार से सुशोभित लयकारी की सूक्ष्म गतिविधियों का विपुल भंडार इस वाद्य में आज भी सुरक्षित है, जो हमारे अंतर मन को मुग्ध एवं मस्तिष्क को चमत्कृत करने की क्षमता रखता है।

मध्य युग में पखावज की वादन शैली का विकास

मृदंग अति प्राचीन ताल वाद्य है, किन्तु आधुनिक युग में पखावज की जिस वादन शैली से हम परिचित हैं उसका इतिहास बहुत पुराना नही है। मध्य युग मे ध्रुपद के साथ पखावज का भी प्रचार एवं प्रसार सम्भवतः मानसिंह तोमर के समय से हुआ। मध्यकालीन ध्रुपद-धमार गायन शैली पखावज के विकास का मुख्य कारण है। यद्यपि पखावज की आधुनिक वादन शैली तथा घरानों का विकास १८वी शताब्दी के पश्चात् ही हुआ दिखाई देता है तथापि पखावज का प्रचलन मध्य काल के प्रथम चरण से ही व्यापक था। ध्रुपद, धमार जैसी धीर गंभीर गायकी के साथ पखावज जैसे गभीर और गूंजयुक्त ताल वाद्य की संगत ही उपयुक्त थी। संगीत सम्राट् तानसेन जैसे कलावन्त और स्वामी हरिदास जैसे सन्त गायक ध्रुपद ही गाते थे और उनके साथ पखावज पर ही संगति की जाती थी।

'आनन्द भेरि मृदंग मिलि गायन गाये धमार।[१९]

उन दिनो वीणा, रबाब जैसे तंतुवाद्यो के साथ पखावज की संगत ही होती थी। परन्तु मृदग पर किस प्रकार के बोल या बन्दिश बजते थे इसका कोई उल्लेख हमें कहीं प्राप्त नही होता। इसका यह अर्थ नही है कि उन दिनो मृदंग पर ताल परणों के बोल विद्यमान थे ही नही। वह तो परम्परागत चले आ रहे हैं बल्कि मृदंग का आधुनिक बोल साहित्य हमारे

---

१८. भरत का सगीत सिद्धांत : बृहस्पति जी : पृ० ३०३.

१९. कीर्तन संग्रह : भाग २ : पृ० १६४.

प्राचीन तथा मध्यकालीन बन्दिशों पर ही आधारित है, ऐसा निस्संकोच माना जा सकता है।

हमारे गुणी वादकों ने अपनी आजीवन तपश्चर्या के द्वारा इसे अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँचा दिया था और इसे अत्यन्त सम्माननीय स्थान दिलाया था। तब से लेकर आज तक अनेक वादकों की परम्परा चली आ रही है, जो विभिन्न घरानों के रूप मे सारे देश में सुप्रसिद्ध हैं।

मृदग की कला, धर्माश्रय एवं राजाश्रय में सदैव विकसित होती रही। धर्म के सन्दर्भ में भारत के गाँव और शहरों के मन्दिरो में कीर्तन भजन के साथ पखावज का प्रचार होता रहा। वैष्णव सम्प्रदाय के महाराजों, महाराष्ट्र के गुरव परिवारों एवं विविध मन्दिरो के सेवकों ने पखावज की कला को सदैव सीखा और सम्भाला है। आज भी ढूंढने पर कोई न कोई उच्चकोटि का पखावज वादक, किसी न किसी मन्दिर में देव सेवा करता हुआ मिल ही जायेगा।

गत सदी में मृदग के कुछ उत्कृष्ट कलाकारों को राज दरबारो में दरबारी कलाकार के रूप में भी आश्रय मिला था। ऐसे कलाकारों ने राजे रजवाडों में रह कर कला की साधना और प्रचार किया तथा शिष्यों को विद्यादान किया।

पिछली दो सदियो में भारत में पखावज वादन के क्षेत्र में ऐसे धुरन्धर कलारत्न पैदा हुए हैं जिन्होंने अपनी दीर्घ साधना तथा अप्रतिम कौशल के द्वारा इस क्षेत्र में क्रान्ति का सर्जन किया है। लाला भवानी सिंह, कुदऊसिंह, बाबू जोधसिंह, नाना पानसे इत्यादि प्रतिभाशाली कलाकारों ने अपने वादन में अभिनव दृष्टि और विशिष्ट कलासृष्टि का निर्माण किया है, जिसके फलस्वरूप मृदंग के विविध घराने अस्तित्व में आये हैं।

यद्यपि आज तबले के बहुश्रुत विकास ने पखावज की परम्परा को भारी क्षति पहुँचायी है तथापि मृदग की प्राचीन परम्परा का जो आभास हमें कहीं-कहीं किसी कलाकार के हाथ में आज भी देखने को मिला है वह उन कला स्वामी प्रवर्तकों तथा उनके वंशज या शिष्य परम्परा का ही योगदान है जिन्होंने इसे सीखा, सम्भाला और समृद्ध किया है।

● ●

अध्याय ३

पखावज के घरानें एवं परम्परायें

न पुष्करविहीनं हि नाट्य नृत्तं विराजते ।
तत्रैव हि श्रुतो लोके तन्मुखं प्रतिपद्यते ।।—नान्यः[1]

पुष्कर वाद्यो की महिमा का गुणगान भरतमुनि, नान्यदेव, शार्ङ्गदेव जैसे अनेक प्राचीन सर्जको ने अपनी रचनाओं में गाया है। मृदंग का महत्व भी प्राचीन काल से चला आ रहा है। भारतीय तालवाद्यो में उसका प्रभुत्व स्वीकृत है। हमारा आधुनिक पखावज भरतकालीन पुष्कर वाद्य का परिमार्जित रूप है अतः पिछले ढाई हजार से भी अधिक वर्षों से उसकी परम्परा अक्षुण्ण चली आ रही है।

(स्वभावतः) इससे यह धारणा उद्भवित हो सकती है कि प्राचीन काल से भारतीय संगीत में जिन-जिन शास्त्रीय गायन शैलियों का समय-समय पर प्रचलन हुआ होगा, उन सब के साथ ताल संगति के लिये मृदंग का ही प्रयोग होता आया होगा।

भरत के काल से १५वीं शती पर्यन्त ध्रुवागान, जाति गान तथा प्रबन्ध गान जैसी विविध गायन शैलियाँ भारतीय संगीत का प्रतिनिधित्व करती रही। अनुमान है कि उन सबके साथ ताल संगति के लिये मृदंग का ही प्रयोग होता रहा होगा तथा आगे चलता रहा होगा। यद्यपि ध्रुवा गान अथवा जाति गायन के साथ मृदंग की संगति होती थी या नहीं, और होती थी तो किस प्रकार होती थी, उसकी प्रमाणित जानकारी हमारे पास उपलब्ध नहीं है, तथापि ध्रुपद-धमार गायकी के साथ पखावज की संगति और उसकी वादन शैली का ज्ञान, हमारे पास आज भी, लिखित रूप से न सही, क्रियात्मक रूप से तो संचित है।

भारतीय संगीत में पखावज के घराने और उनके वादको का क्रमबद्ध इतिहास हमे अठारहवीं शती से ही प्राप्त हो सका है। उसके पूर्व भी अनेक उच्चकोटि के गुणी मृदगवादक हो गये हैं जिनके नामो का उल्लेख हमें समय-समय पर विविध पुस्तको मे मिल जाता है। 'आइने-ए-अकबरी' में अकबर युग के कलाकारों का विवरण है, किन्तु उसमें किसी मृदग वादक का कोई उल्लेख नहीं है। इस क्षेत्र में वाजिदअलीशाह के युग में लिखी गयी हकीम मोहम्मद करम इमाम की पुस्तक 'मअदन् उल मूसिकी' मुगल युग के बाद के कलाकारों का प्रमाणित परिचय देनेवाली महत्वपूर्ण एवं आधारभूत पुस्तक है। इस पुस्तक के उपरान्त फकीरुल्लाह की 'राग दर्पण' पुस्तक में भी कुछ पखावज वादको का उल्लेख मिलता है। राग दर्पण के दसवें अध्याय में फकीरुल्लाह ने एक शतायु पखावजी भगवानदास की चर्चा की है, जिन्हे तानसेन की संगति करने का अवसर मिला था। इसका उद्धरण आचार्य बृहस्पति जी ने 'खुसरो, तानसेन तथा अन्य कलाकार' पुस्तक के पृष्ठ २१३ पर दिया है। इससे इस तथ्य को आधार मिल जाता है कि तानसेन के समकालीन पखावजी का नाम भगवानदास था। वैसे भी तानसेन, बैजू आदि कलाकार ध्रुपद गाते थे। अतः उनके साथ संगति करनेवाले पखावजी का होना

---

१. भरतकोश : एम० रामकृष्ण कवि : पुष्करवाद्य प्राधान्यम्, पृष्ठ ३७२।

स्वाभाविक है। एम० एस० म्यूज़िक कालेज, बड़ौदा के प्राध्यापक श्री भरतजी व्यास, तानसेन के समकालीन एवं संगतकार भगवानदास पखावजी को अपने समय के श्रेष्ठ कलाकार बताते हुए उनकी मृदंग परम्परा के इतिहास को जावली घराने के नाम से संबोधित करते हैं, जिसकी विस्तृत चर्चा अगले अध्याय में की जाएगी।

जगपत अथवा जगपति नामक एक पखावजी को भी तानसेन के समकालीन एवं अकबर-युगीन उत्तम कलाकार के रूप में बताया गया है। राजा मानसिंह के दरबार में श्री विजय जंगम नामक एक पखावजी थे, ऐसा उल्लेख मिलता है। मोहम्मद करम इमाम ने 'मअदन उल मूसिकी' में सुधीर सेन, हयात, किरपा आदि पखावज वादकों के नाम गिनाये हैं, जिनमे सुप्रसिद्ध पखावजी किरपा 'मृदंगराय' की उपाधि से विभूषित थे।[२] फकीरुल्लाह ने भी 'राग दर्पण' में फिरोज़ ढाढी तथा किरपा पखावजी की चर्चा की है।[३] आचार्य बृहस्पति लिखते है: "खुशहाल खाँ को *'गुणसमन्दर खाँ'* तथा किरपा को *'मृदंगराय'* की उपाधि औरंगजेब ने दी थी।"[४] इनके उपरान्त घासीराम पखावजी, लाला भवानीदीन तथा हुसेन खाँ पखावजियो का उल्लेख भी मिलता है।

भारतीय संगीत के कुछ विद्वान्, संगीत शास्त्री एवं संगीतज्ञ अकबर-युगीन भगवान दास पखावजी को पखावज की आधुनिक सभी परम्पराओं के आदि पुरुष मानते है।

ऐसा अनुमान है कि भगवानदास की परम्परा उनके प्रशिष्य कृपालराय से फैली है, जो अपने युग के अद्वितीय कलाकार थे। कुछ विद्वानों का मत है कि कृपालराय भगवानदास के शिष्य अथवा वंशज थे। किन्तु मेरी धारणानुसार कृपालराय भगवानदास जी के शिष्य नहीं अपितु प्रशिष्य अथवा वंशज होंगे क्योंकि अकबर-युगीन (सन् १५५६ ई० से सन् १६०५ ई०) तथा औरंगजेब (सन् १६५८ से सन् १७०७) के काल में हुए कृपालरायजी, के बीच काफी लम्बा फासला दिखाई देता है। कृपालरायजी की वंश परम्परा में पहाड़ सिंह हुए थे जो जोधपुर दरबार के कलाकार रहे। उनके पुत्र जोहार सिंह भी उत्कृष्ट पखावजी हुये। कृपालरायजी के प्रमुख शिष्यों में घासीराम पखावजी तथा लाला भगवानदीन थे, ऐसा बहुत से विद्वानों का मंतव्य है। वे दोनो अपने युग के अप्रतिम कलाकार हुये। घासीराम जी का जीवन मुख्यतः दिल्ली में ही बीता, जबकि लाला भवानीदीन अपनी अद्वितीय कला एव विद्या के बल पर सम्पूर्ण देश में सुविख्यात हुए।

आधुनिक संगीत शास्त्रियों एवं पखावजियों के मतानुसार भगवानदासजी की परम्परा के लाला भवानीदीन पखावज की सभी मुख्य परम्पराओं एवं घरानों के सूत्रधार माने जाते हैं। उनका समय सन् १७०० ई० के पश्चात् का माना जाता है। वे बादशाह मोहम्मदशाह रंगीले (सन् १७१९ से १७४८ ई० तक) के दरबार के प्रमुख कलाकार थे। इस बात का उल्लेख हकीम करम इमाम ने 'मअदन उल मूसिकी' में किया है।

मृदंग सम्राट् कुदऊसिंह लाला भवानीदीन के श्रेष्ठतम शिष्य हुये। कुदऊसिंह जी के

---

२. भारतीय संगीत का इतिहास : भगवतशरण शर्मा, पृष्ठ १११।

३. खुसरो, तानसेन तथा अन्य कलाकार : सुलोचना तथा बृहस्पतिजी : पृष्ठ २१३।

४. मुसलमान और भारतीय संगीत : बृहस्पति, पृष्ठ ८९।
तथा
संगीत चिन्तामणि : बृहस्पति, पृष्ठ ३३१।

उपरान्त पंजाब निवासी ताज खाँ डेरेदार, हद्दूखाँ लाहौरवाले तथा मियाँ कादिर बख्श प्रथम (मियाँ फकीर बख्श के पितामह) आदि उनके शिष्य थे। इनके इन मुसलमान शिष्यों से ही पंजाब में पखावज की परम्परा फैली। कुछ लोग नाना पानसे के गुरु बाबू जोधसिंहजी को भी लाला भवानीदीन का ही शिष्य बताते हैं।

इस प्रकार पखावज के सभी मुख्य घराने एवं परम्पराओं के मूल में लाला भवानीदीन का ही सम्बन्ध जुड़ा है। यद्यपि हमारे पास इस विषय का कोई निश्चित प्रमाण उपलब्ध नहीं है तथापि वयोवृद्ध विद्वानों एवं संशोधक वृत्ति के कुछ पखावजियों की परम्परागत मौखिक बातों पर विश्वास करना ही एकमात्र विकल्प रह जाता है। लाला भवानीदीन के नाम के विषय में भी अनेक भ्रान्तियाँ फैली हैं। कुदऊसिंहजी की परम्परा वाले उन्हें भवानीदीन, पंजाब की परम्परा वाले भवानीदास तथा नाना पानसे की परम्परा वाले उन्हें भवानीसिंह कहते हैं। किन्तु ये तीनों नाम एक ही व्यक्ति के हैं, इस बात पर सभी विद्वानों में मतैक्य है।

जगपतजी, भगवानदासजी, कृपालरायजी, घासीरामजी, हयात, सुधीर सेन, फिरोज ढाढी, खुशाल खाँ, हुसेन खाँ, चेताराम, तथा लाला भवानीदीन के उपरान्त अंतिम दो सदियों के सुप्रसिद्ध पखावजियों में हमें अनेक नाम मिलते हैं जिनमें महम्मद खाँ पखावजी, उ० सनामत हुसेन खाँ, नबी बख्श पखावजी, 'काश्मीर मृदंगराज' की उपाधि से विभूषित कर्याई (मृत्यु सन् १८६५), अमानुल्ला पखावजी (मृत्यु सन् १८५५), सखे हुसेन ढोलकिया, लाला केवलकिशन तथा लाला हरकिशन महाराज, ब्रज के वैष्णव सम्प्रदाय के विविध पखावज कलाकार, जयपुर परम्परा, नाथद्वारा मेवाड की वैष्णव परम्परा, जोधपुर दरबार के पहाड़ सिंह तथा उनके पुत्र जौहार सिंह, वाजिदअली शाह के युग के कुदऊसिंह तथा उनकी विशाल शिष्य परम्परा, बाबू जोधसिंह तथा उनके शिष्य, नाना पानसे का विशाल शिष्य समुदाय, पंजाब के ताजखाँ डेरेदार, हद्दूखाँ पखावजी, मियाँ कादिर बख्श (प्रथम), नासिर खाँ, मियाँ फकीरबख्श तथा उनके पुत्र मियाँ कादिर बख्श (द्वितीय) गुजरात, सौराष्ट्र के पं० आदित्यराम जी, जयपुर गुणीजन खाने के पखावजी गण, रायगढ दरबार के कलावृन्द, रामपुर दरबार के कलाकार, बड़ौदा दरबार (गुजरात) के 'कलावन्तो नुं कारखानु' के कलाकार, ब्रज के प० मक्खनलाल जी आदि हजारों वादकों के नाम हमें 'मअदन उल मूसिकी', 'राग दर्पण' तथा आधुनिक युग की विद्वान् लेखकों की पुस्तकों में तथा विविध राज्यों के राज दरबारों के ऐतिहासिक पोथीखाने तथा सूचियों से प्राप्त होते हैं। किन्तु केवल नामोल्लेख मात्र से समाधान नहीं हो सकता। यहाँ पर विविध घरानों की सविस्तृत चर्चा अनिवार्य है जो उनकी उत्पत्ति तथा विकास पर प्रकाश डाल सके।

ऐसी धारणा व्याप्त है कि १३वीं शती में अलाउद्दीन खिलजी के दरबार में देवगिरि से गोपाल नायक नामक विद्वान् कलाकार पकड़ लाये गये थे। देवगिरि को जीतने के पश्चात् बादशाह अलाउद्दीन का अफसर मलिक काफूर दिल्ली वापस लौटा तो अपने साथ ऐश्वर्य के साथ-साथ वहाँ के कलाकारों को भी ले आया था। उन दिनों जाति गायन शैली की प्रथा समाप्त हो चुकी थी और प्रबन्ध गायकी, अर्थात् ध्रुपद गायकी का प्रचार आरंभ हो गया था। कुछ विद्वानों की ऐसी मान्यता है कि नायक गोपाल के साथ उनका पखावज वादक भी दिल्ली आया था, जो स्वयं उच्चकोटि का कलाकार था, परन्तु उसके नाम, परम्परा एवं शिष्यों के विषय में कुछ भी जानकारी नहीं मिलती।

मृदंग अति प्राचीन तालवाद्य है, किन्तु ध्रुपद गायकी के साथ पखावज के रूप में मृदंग

का परिष्कार सम्भवतः राजा मानसिंह तोमर ने किया। तत्पश्चात् की दो सदियों के पखावज वादकों का क्रमिक इतिहास हमें प्राप्त नहीं होता। जो कुछ यहाँ पर मैंने लिखने का प्रयत्न किया है वह अनेक वयोवृद्ध संगीतज्ञों के कथन तथा कुछ पुस्तकों के उल्लेखों पर अवलम्बित है।

वैसे देखा जाये तो पखावज और तबला के इतिहास में, १८वी शती के प्रारम्भ से २० वी शती के मध्यकाल तक का करीब ढाई सौ साल का काल ही अत्यन्त महत्वपूर्ण है। पखावज के जिस बाज और घरानों से हम आज सुपरिचित हैं उन सभी घरानों और शैलियों का प्रारम्भ, विकास और चरमोत्कर्ष उसी काल में हुआ है। यद्यपि १८वीं शती के पूर्व भी देश में पखावज की परम्परा तो सर्वत्र व्याप्त थी ही। हो सकता है कि स्वामी हरिदास के शिष्यों में कोई उच्च-कोटि के पखावज वादक भी हुए हो, क्योंकि ध्रुपद गायकी और पखावज के बीच सदैव से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है।

हमें अकबरकाल के दो उच्चकोटि के पखावज वादकों के नाम मिलते हैं—एक जगपत पखावजी और दूसरे लाला भगवानदास। जगपत पखावजी की शिष्य परम्परा और उनकी वादन शैली आदि के विषय में कोई विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं होती। लाला भगवानदास के लिये ऐसी मान्यता है कि वे कदाचित् स्वामी हरिदासजी की शिष्य परम्परा से सम्बन्धित थे। लाला भगवानदास की शिष्य परम्परा में कृपालराय, घासीराम तथा लाला भवानीदीन के नाम लिये जाते हैं।

आधुनिक विद्वानो के मतानुसार सन् १७०० ई० के पश्चात् हुए लाला भवानीदीन अथवा भवानीदास पखावज के सभी प्रचलित घरानों के आद्य पुरुष थे। उनके प्रमुख शिष्यो में कुदऊ-सिंहजी, ताज खाँ डेरेदार तथा बाबू जोधसिंह के नाम लिये जाते है। वे तीनो १९वीं शताब्दी के प्रारम्भ में हुए हैं।[१] महाराज कुदऊसिंह जी तथा पंजाब के ताज खाँ डेरेदार तो उनके शिष्य थे ही जिसका उल्लेख अनेक पुस्तकों में मिलता है, किन्तु बाबू जोधसिंह के विषय में कुछ शका होती है। बाबू जोधसिंह लाला भवानीदीन के ही शिष्य थे ऐसा कोई उल्लेख हमें कहीं नहीं मिलता। किन्तु बहुत से विद्वान् उनको भवानीदीन का शिष्य बताते हैं। अतः यह देखा जाता है कि पंजाब, कुदऊसिंह तथा नाना पानसे इन तीनों घरानो के मूल में लाला भवानीदीन ही प्रेरणास्रोत रहे हैं।

वैष्णव सम्प्रदाय के कुछ वयोवृद्ध कलाकारो के अनुसार लाला भवानीदीन जो कि लाला भगवानदास जी की शिष्य परम्परा में आते है, वृज की परम्परा से सम्बन्धित थे। उन विद्वानो के अनुसार मृदंग का प्रचलन हजारों वर्ष पूर्व भगवान् श्री कृष्ण के भक्ति पदों के साथ व्रज भूमि में हुआ था। बीच की सदियो का विकासक्रम प्राप्त नहीं होता, किन्तु मध्ययुग में अर्थात् पाँच सौ वर्ष पूर्व वल्लभ सम्प्रदाय के प्रारम्भ के साथ व्रज में पखावज का प्रचार व्यापक हुआ। उन दिनों व्रज में श्यामजी नामक एक पखावजी हुए जो स्वामी हरिदास जी के शिष्य थे। उनके प्रमुख चार शिष्य देश के विविध स्थलों में जा बसे। उनमें से एक का नाम भगवानदास था जो दिल्ली में बस गये। कुछ आधुनिक वैष्णव पखावजियों के अनुसार लाला भगवानदास स्वयं स्वामी हरि-दास के शिष्य तथा श्यामजी पखावजी के गुरु भ्राता थे।

भगवानदास जी के लिये ऐसा कहा जाता है कि वे अकबरयुग में हुए थे और तानसेन

---

१. मुसलमान और भारतीय सगीत : बृहस्पति : पृष्ठ ७९ से ९२।

के समकालीन तथा तानसेन के संगतकार भी थे।[६] अकबर उनकी कला पर मुग्ध था। उनके पुत्रों की वादन कला से प्रसन्न होकर अकबर बादशाह ने उन्हें "सिंह" की उपाधि दी थी। तब से उनके वंशजों में 'सिंह' विशेषण लगाने की प्रथा चल पड़ी। भगवानदास को अकबर ने जावली नामक एक गाँव भेंट मे दिया था। अतः बाद में भगवानदास जी की परम्परा जावली घराने के नाम से प्रसिद्ध हुई। इसी परम्परा के एक कलाकार पहाड़सिंह जी का उल्लेख हमें नाथद्वारा के पखावजी घनश्याम जी कृत 'मृदंगसागर' में प्राप्त होता है। मृदंगसागर में पहाड़ सिंह तथा उनके पुत्र जौहार सिंह को जोधपुर के दरबारी कलाकार बताया गया है।[७]

लाला भगवान दास के 'जावली घराने' के विषय में किसी पुस्तक में कुछ उल्लेख नहीं मिलता और मौखिक बातों पर विश्वास कर लेना मनुष्य के तर्कवादी स्वभाव से मेल नहीं खाता। किन्तु मेरा व्यक्तिगत अनुमान है कि इस विधान में किसी सीमा तक यथार्थ छिपा है।

मथुरा से प्राप्त जानकारी के अनुसार लाला भवानीदीन ब्रज की परम्परा से सम्बन्धित थे। वहाँ के परम्परागत मृदग घराने के वयोवृद्ध पखावजी श्री गोविन्द रामजी के पास एक हस्तलिखित पुस्तक देखने को मिली, जो उनके चाचा एवं गुरु श्री छेदाराम जी ने २० वीं शती के पूर्वार्ध मे मथुरा के श्री १०८ गोस्वामी गोपाल लालजी महाराज की आज्ञा से 'गर्ग संहिता' के आधार पर लिखी थी। उस अप्रकाशित ग्रन्थ मे मथुरा की मृदंग परम्परा का इतिहास एवं मृदंग परम्परा के ५०० वर्षों का विवरण उपलब्ध है।

उस हस्तलिखित ग्रन्थ के लेखक श्री छेदाराम तथा उनके शिष्य श्री गोविन्दराम के अनुसार मध्य युग में मृदग की परम्परा पूरे भारत में ब्रज से ही फैली थी। आज भी मथुरा में 'कोरिया' परम्परा के वादकों की शृंखला चली आ रही है। कोरिया शब्द कोढ़िया का अपभ्रंश है। कहा जाता है कि इस परम्परा के आद्य पुरुष कोढ़ रोग से पीड़ित थे, अतः उनकी परम्परा 'कोढ़िया' के नाम से विख्यात हुई।

नोटः—आगे के पृष्ठो में श्री छेदाराम द्वारा विरचित एवं अप्रकाशित ग्रन्थ के लिये 'पोथी' शब्द का प्रयोग किया गया है। पाठक कृपया ध्यान रखें।

'पोथी' के अनुसार श्री महाप्रभु बल्लभाचार्य जी ने, लगभग ५०० वर्ष पूर्व, जब ब्रज की लीला आयोजित करना प्रारम्भ किया तो उन्होंने कलाकारों को भिन्न-भिन्न कार्य बाँटे। उन दिनों गोवर्धन में गिरिराज की तलहटी में एक व्यक्ति कोढ रोग से पीड़ित था। श्री बल्लभाचार्य के आशीर्वाद से वह रोगमुक्त हो गया। बाद मे उन्होंने उसे मृदंग की शिक्षा देकर, श्री नाथ जी की सेवा में रत रहने की आज्ञा दी। वही आगे चलकर 'कोढिया' के नाम से विख्यात हुआ। उस मृदंग वादक के दो पुत्र केवलकिशन और जटाधर हुये। दोनों ही अपनी-अपनी कला में प्रवीण थे। केवलकिशन अधिकतर ब्रज से बाहर रहे और देश के विभिन्न नगरों में घूमते रहे। अतः उनसे तथा उनके पुत्र हीरालाल एवं पौत्र भवानी दास से पखावज की परम्परा भारत के विविध स्थानो में फैली। दूसरे पुत्र श्री जटाधर ब्रज में ही रहे। अतः उनकी परम्परा उसी क्षेत्र में विस्तृत हुई। उल्लेखनीय है कि उनकी बारहवीं-तेरहवीं पीढी आज भी मथुरा में है।

---

६. खुसरो, तानसेन तथा अन्य कलाकार, बृहस्पति : ७६ से ६२।
७. मृदंग सागर : घनश्याम पखावजी : पृ० १ से १०।

यदि 'पोथी' को प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाय तो भवानी दास जी किशन के भाई नही वरन् पौत्र थे। उसमें निर्दिष्ट है कि भवानीदास ने अपने भतीजे टीकाराम तथा शिष्य कुदऊ सिंह और अमीर अली (खन्दे हुसेन ढोलकिया के पुत्र) को शिक्षा दी। टीकाराम के शिष्य बाबू जोध सिंह थे, जिनके शिष्य सुप्रसिद्ध नाना पानसे हुये। नाना पानसे से 'पानसे घराना' स्थापित हुआ। इस प्रकार कुदऊ सिंह तथा नाना पानसे ब्रज के कोढ़िया घराने की देन हैं।

'पोथी' के अनुसार भवानी दास ने पंजाब में मृदंग वादन का प्रचार एवं प्रसार किया। उनके प्रशिष्य जानकी दास ने पंजाब के ताज खाँ डेरेदार के पुत्र नासिर खाँ को सिखलाया, जो बाद में बड़ौदा दरबार में नियुक्त हुये। भवानी दास के शिष्य अमीर अली ने पंजाब में लाला भवानी दास द्वारा संशोधित हुक्कड़ बाज का प्रचार किया। इस प्रकार मृदंग की परम्परा पूरे देश में ब्रज की देन प्रतीत होती है। जो भी हो। किन्तु इसमें संदेह नही कि केवलकिशन जी तथा भवानी दास जी (भवानी दीन) मृदंग की विविध परम्पराओं के प्रेरणा स्रोत रहे है।

लाला भवानीदीन के नाम के विषय में भी काफी मतभेद है। कोई उन्हे भवानीदास तो कोई भवानीदीन कहते हैं। 'हमारे संगीत रत्न', संगीत कार्यालय, हाथरस प्रकाशन में कुदऊ सिंह के गुरु का नाम भगवान दास दिया गया है। ब्रज एवं पंजाब परम्परा के लोग उनको भवानीदास कहते हैं, जब कि कुदऊ सिंह परम्परा वाले उन्हें भवानीदीन कहते है। आचार्य बृहस्पति ने भी उनका नाम भवानी दास लिखा है और उन्हे बादशाह मोहम्मद शाह रंगीले का दरबारी कलाकार बतलाया है।[८]

लाला भवानीदीन का काल सन् १७०० ई० के पश्चात् का माना जाता है। बाबू लाल गोस्वामी के एक लेख के अनुसार कुदऊ सिंह के गुरु भवानीदीन ने दिल्ली के सुल्तान मोहम्मद शाह रंगीले को लक्ष परनें सुनाकर प्रसन्न किया था।[९] उनका शासन काल सन् १७१९ ई० से सन् १७४८ ई० तक का था। अतः लाला भवानीदीन का समय १७ वी शती के अंत से १८ वीं शती के मध्यकाल का रहा होगा।

आज तक देश में जितने भी पखावज के घराने या परम्पराएँ हो चुकी हैं या प्रचार में हैं, उन सभी के विषय में विस्तृत चर्चा अब हम आगे के अध्यायों में करेंगे।

• •

---

८. मुसलमान और भारतीय संगीत : बृहस्पति : पृष्ठ ७९-९२।

९. विन्ध्य प्रदेश की विभूति—मृदंग सम्राट् कुदऊ सिंह : लेखक—बाबू लाल गोस्वामी। शारदा प्रसाद अभिनन्दन ग्रन्थ, रीवा (म० प्र०) पृष्ठ १६६।

अध्याय ४

जावली घराना

मुगल काल में सम्राट् अकबर के समय के मृदंग वादक भगवान दास जी तथा उनकी परम्परा से सम्बन्धित जावली घराने की जो कुछ भी जानकारी बड़ौदा के एम० एस० म्यूज़िक कालेज के प्राध्यापक पं० भारत जी व्यास से ज्ञात हो सकी है, वह इस प्रकार है :—

अकबर के काल में लाला भगवान दास नामक एक सुप्रसिद्ध मृदंग वादक हुये। वे तानसेन के समकालीन थे तथा सम्राट् अकबर के आग्रह पर दिल्ली में स्थाई रूप से रहने लगे थे। अयोध्या के स्वामी पागल दास एवं बरेली के डा० रमावल्लभ मिश्र ने अपनी भेंट वार्ता में ऐसा संदेह व्यक्त किया कि भगवान दास कदाचित् स्वामी हरिदास के शिष्य रहे हों। परन्तु मैं इस बात से सहमत नहीं हूँ, क्योंकि स्वामी हरिदास के शिष्यों की सूची में मृदंग वादक भगवान दास का नाम कहीं उल्लिखित नहीं मिलता।

नाथद्वारा (राजस्थान) के मृदंग वादक पं० मूलचन्द्र जी के अनुसार वे ब्रज के श्याम जी मृदंग वादक के शिष्य थे, जिन्हे 'दास जी' भी कहा जाता था। उनके अनुसार प्राचीन काल के अनेक विद्वान् एवं गुणी मृदंग वादक भगवान दास को ब्रज परम्परा से सम्बन्धित बताते हैं। परन्तु इस कथन में भी संशय है, क्योंकि ब्रज की हस्तलिपि 'पोथी', जिसे पं० छेदाराम मृदंग वादक ने लिखा था, उसमें कहीं भी श्याम जी मृदंग वादक का उल्लेख नहीं मिलता। भारत के सभी मृदंग घरानों एवं परम्पराओं का उद्‌गम स्थल ब्रज भूमि है, इस बात का प्रमाण उसमें अवश्य उपलब्ध है; परन्तु भगवान दास के विषय में कोई उल्लेख नहीं है। हो सकता है कि ब्रज परम्परा के आदि पुरुष जो कि कोढ़िया थे और उनका नाम 'पोथी' में उल्लिखित नहीं है, वह भगवान दास जी ही हों, जिन्होने महाप्रभु वल्लभाचार्य जी के आशीष से स्वस्थ हो जाने के उपरान्त मृदंग वादन में निपुणता प्राप्त कर ली हो एवं दिल्ली दरबार में तानसेन के साथ संगति करने लगे हों। किन्तु भगवान दास की परम्परा दिल्ली में और कोढ़िया की परम्परा मथुरा में विकसित हुई है, अतः उपर्युक्त तथ्य भी सारहीन प्रतीत होता है।

कहा जाता है कि लाला भगवानदास के दो पुत्र थे। अकबर बादशाह ने प्रसन्न होकर इन दोनों को 'सिंह' की उपाधि प्रदान की थी। तब से उनके वंश में प्रत्येक कलाकार के आगे 'सिंह' विशेषण लगाने की प्रथा चल निकली। लाला भगवानदास जी को सम्राट् अकबर ने जावली ग्राम उपहार स्वरूप दिया था, फलतः उनका घराना 'जावली घराना' के नाम से विख्यात हो गया।

लाला भगवान दास के प्रशिष्यों में कृपालराय का नाम आता है। कृपालराय को औरंगजेब ने 'मृदंगराय' की उपाधि से सम्मानित किया था।[1] कृपालराय के शिष्यों में घासीराम तथा लाला भवानीदीन अथवा भवानीसिंह का नाम आता है। कदाचित् लाला

१. मुसलमान और भारतीय संगीत : आचार्य बृहस्पति, पृ० ८३, तथा मअदन उल मूसिकी : हकीम मोहम्मद करम इमाम, संगीत प्रकाशन।

भवानीदीन या भवानी सिंह भगवान दास जी के वंशज भी हो सकते हैं। आधुनिक संगीत शास्त्री लाला भवानीदीन को मृदंग की आधुनिक समस्त परम्पराओं के प्रेरणास्रोत मानते है।

आज से दो शती पूर्व लाला भगवान दास की वंश अथवा शिष्य परम्परा में पहाड़सिंह नामक एक उच्चकोटि के कलाकार हुए। अनुमानतः वे भवानीदीन तथा घासीराम के समकालीन थे। पहाड़ सिंह जोधपुर के दरबारी कलाकार थे। वे कुछ वर्षों तक नाथद्वारा के मन्दिर में श्री नाथ जी की सेवा में भी रत रहे। श्री घनश्याम मृदंग वादक द्वारा रचित "मृदंग सागर" में उनके विषय में विस्तृत जानकारी उपलब्ध होती है। पहाड़ सिंह के पुत्र जौहार सिंह भी कुशल मृदंग वादक थे, जो अपने पिता के साथ जोधपुर दरबार में नियुक्त थे।[1] नाथद्वारा के मृदंगाचार्यों की परम्परा में भी पहाड़ सिंह की भी विद्या का कुछ अंश संचित है, क्योंकि नाथद्वारे के पं० रूपराम जी ने उनसे शिक्षा प्राप्त की थी।

पंडित भरत जी व्यास के अनुसार मृदग वादकों में एक वाक्य प्रसिद्ध है: 'दास जी से भई पखावज, लाला भवानी से गयी।' वैसे देखा जाये तो इसका सीधा तात्पर्य यही है कि दास जी से मृदंग का आरम्भ हुआ और लाला भवानी से समाप्ति। किन्तु मेरी दृष्टि से यहाँ मृदग का अर्थ जावली घराने का मृदंग ही होना चाहिये, क्योंकि मृदंग की परम्परा प्राचीन काल से चली आ रही है जो न समाप्त हुई है और न समाप्त हो सकती है।

'दास जी से भई पखावज' का अर्थ लाला भगवानदास से जावली घराना प्रारम्भ हुआ, ऐसा हो सकता है। तथा 'लाला भवानी से गई' का अर्थ कुदऊसिंह महाराज के गुरु लाला भवानीदीन के समय तक यह परम्परा चलती रही होगी, ऐसा सम्भव है।

लाला भवानीदीन के उत्तर भारत में अनेक प्रतिभा सम्पन्न एवं प्रसिद्ध शिष्य हुए जिनमें ताजखाँ डेरेदार, कादिरबख्श (प्रथम) तथा हद्दु खाँ लाहौर वाले, अमीर अली आदि पंजाबी शिष्य, कुदऊ सिंह महाराज जैसे समर्थ मृदंग वादक और बाबू जोधसिंह जैसे विद्वान् का समावेश होता है।

दीन जी के पश्चात् कुदऊ सिंह ने अपनी नवीन वादन शैली एवं परम्परा का आविष्कार किया, जो उनके शिष्यों प्रशिष्यों में प्रसारित होकर 'कुदऊ सिंह घराने' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। ताजखाँ तथा कुछ अन्य पंजाबी शिष्यों से पंजाब की परम्परा का उद्भव हुआ तथा जोध सिंह जी के शिष्य नाना पानसे ने एक नवीन घराने की नींव डाली जो 'नाना पानसे घराना' कहलाया। बाबू जोध सिंह जी के लिये कुछ विद्वानो का कहना है कि वे लाला भवानी दीन के शिष्य नहीं थे। जो भी हो लेकिन अकबर के शासन काल में लाला भगवान दास मृदंग वादक द्वारा आरम्भ हुई जावली घराने की वह परम्परा उनके पश्चात् उनके विद्वान् प्रतापी एवं प्रतिभाशाली शिष्यों द्वारा विविध घरानों में प्रसारित हुई।

श्री फकीरुल्ला कृत 'राग दर्पण' के दशम अध्याय के आधार पर आचार्य बृहस्पति जी लिखते हैं—

"भगवान पखावजी अकबरी दरबार के पखावजी थे और उन्होंने तानसेन की संगति भी की थी। वे शतायु हुये।"[2]

---

१. मृदंग सागर: घनश्याम पखावजी, पृष्ठ १ से १०।
२. खुसरो, तानसेन तथा अन्य कलाकार, पृ० २३६।

नवाब वाजिदअली शाह के युग में लिखी गई हकीम मोहम्मद करम इमाम की पुस्तक 'मऊदन उल मूसिकी' (सन् १८५५) के आधार पर श्री भगवतशरण शर्मा लिखते हैं : 'तानसेन के साथ पखावज बजाने वाले भगवान दास पखावजी थे।'[४]

अतः यह तो सिद्ध हो गया कि तानसेन के समकालीन कोई भगवानदास मृदंग वादक थे, किन्तु उनके जावली घराने के विषय में किसी पुस्तक में कोई प्रामाणिक तथ्य उपलब्ध नहीं होता। इसके अतिरिक्त किसी कलाकार के मुख से भी जावली घराने से सम्बन्धित जानकारी नहीं उपलब्ध हुई। श्री पहाड़ सिंह की वादन कला तथा जीवन चरित्र के विषय में घनश्यामदास मृदंगवादक रचित 'मृदंग सागर' में बहुत सी जानकारी प्राप्त होती है, किन्तु उसमें जावली घराने के सम्बन्ध में कोई उल्लेख नहीं है।

वैसे दिल्ली-अहमदाबाद के मार्ग पर राजस्थान के मारवाड़ और फालना के बीच में जावली नामक एक छोटा सा ग्राम आज भी है, जो दिल्ली से ६२० किलोमीटर की दूरी पर है।[५] किन्तु वही जावली ग्राम अकबर सम्राट् ने, भगवानदास मृदंगवादक को उपहार स्वरूप दिया था, इस विषय में कोई प्रामाणिक उल्लेख नहीं प्राप्त होता। मैंने जावली ग्राम जाकर भी सम्पर्क किया, परन्तु इस विषय में ऐसी कोई जानकारी प्राप्त नहीं हो सकी। भगवानदास के वंशज पहाड़ सिंह तथा जोहार सिंह वर्षों तक जोधपुर के दरबार में रहे। अतएव यह भी संभव है कि वे जावली गाँव (जो कि राजस्थान में है) के मूल निवासी हों और वहीं से जोधपुर दरबार में पहुँचे हों। साक्ष्य के अभाव में जावली घराने की यह कथा प्रामाणिक सिद्ध नहीं हो सकी है।

किन्तु मेरा यह संकेत किसी की संशोधनात्मक प्रवृत्ति को गतिशील करने में समर्थ हो सका, तो हम कभी न कभी सत्य का साक्षात्कार अवश्य ही करेंगे।

---

४. भारतीय संगीत का इतिहास : भगवतशरण शर्मा, पृ० १११।

५. वेस्टर्न रेलवे टाईम-टेबल। टेबल नं० १६—अहमदाबाद—अजमेर-बांदिकुई—दिल्ली —नार्दर्न (मीटर गेज रेलवे)।

तालिका नं० १

जावली घराना
लाला भगवानदास
(१६वीं शती-अकबर युग)
पुत्र (नाम अज्ञात)
पुत्र (नाम अज्ञात)
वंशज अथवा शिष्य (नाम अज्ञात)
कृपाल राय 'मृदंगराय'
(औरंगजेब युगीन)
खुशहाल खां 'गुण समन्दर'
(औरंगजेब युगीन)
पहाड़ सिंह (जोधपुर)
घासी राम
(मोहम्मद शाह रंगीले युगीन)
लाला भवानी दीन
(सन् १७०० ई० के पश्चात्)
जोहार सिंह (पुत्र, जोधपुर)
सभी शिष्य
रतन सिंह
मुकुट बिहारी सिंह
ताज खां डेरेदार
(सन् १७७५ के पश्चात्)
हद्दू खां लाहौर वाले
(सन् १७७५ के निकट)
कादिर बख्श प्रथम
(सन् १७७५ के निकट)
कुदऊ सिंह
(सन् १८०० के निकट, वाजिद अलीशाह युग)
बाबू जोध सिंह
(कुदऊ सिंह के समकालीन)
पंजाब घराना
कुदऊ सिंह घराना
नाना पानसे घराना

• •

अध्याय ५
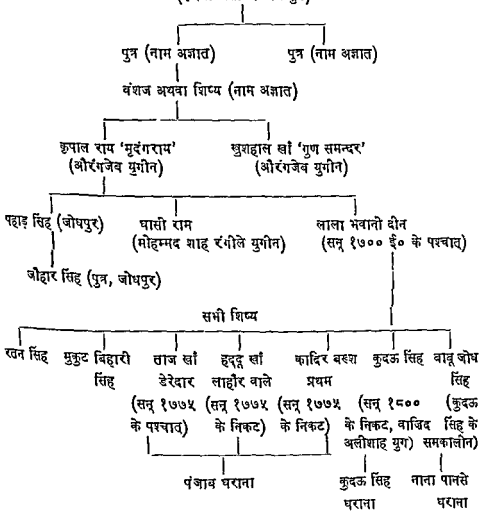
मथुरा (ब्रज) की मृदंग परम्परा

ब्रज के वैष्णव सम्प्रदाय की परम्परायें

प्राचीन काल से ही ब्रज की पवित्र भूमि अपनी धार्मिक, सांस्कृतिक एवं कलात्मक अभिव्यक्ति के लिये सम्पूर्ण भारत में प्रसिद्ध रही है। रासबिहारी भगवान श्री कृष्ण की इस लीला-भूमि का कण-कण संगीतमय है। यह वह भूमि है जहाँ स्वामी हरिदासजी के स्वर गूँजे थे तथा बैजू और तानसेन जैसे संगीतज्ञों के संगीतामृत से रसिक जन तृप्त हुये थे। यहाँ की विशाल मृदंग परम्परा के अन्तर्गत कई सम्प्रदायों का उद्‌भव हुआ, उनकी चर्चा हम आगे कर रहे हैं।

१. पुष्टिमार्गीय वैष्णव सम्प्रदाय—पुष्टिमार्गीय वैष्णव सम्प्रदाय की हवेलियों (मन्दिरों) में पिछले पाँच सौ वर्षों से ध्रुपद-धमार एवं मृदंग की परम्परा सुरक्षित चली आ रही है। श्री महाप्रभु गोस्वामी वल्लभाचार्य जी द्वारा आरम्भ की गई हवेली संगीत की परम्परा श्री विट्ठल नाथ जी गुसाईं के समय से अधिक लोकप्रिय हुई और उनके शिष्यों और अष्ट छाप के कवियों के द्वारा सम्पूर्ण उत्तर भारत में फैल गई। इन कवियों की रचनायें गेय हैं। सूरदास, परमानन्ददास, गोविन्द स्वामी आदि अष्ट छाप के कविगण उच्चकोटि के संगीतज्ञ भी थे।

वल्लभ कुल के गोस्वामी तथा वैष्णव सम्प्रदाय के भक्तजन सदैव संगीत के उपासक रहे हैं। वहाँ ध्रुपद-धमार गायन-शैली में कृष्ण लीला का वर्णन तथा भक्ति-प्रधान गायकी में भजनों के साथ मृदंग की संगति की प्रथा पीढ़ियों से चली आ रही है। आचार्य वल्लभाचार्य जी तथा गुसाईं विट्ठल दास जी द्वारा स्थापित संगीत की वह पद्धति अब भी अपनी प्राचीन गायकी और मृदंग वादन की परम्परा के लिये विख्यात है। अतः आज भी वैष्णव मन्दिरों में गुणी कलाकारों का जमघट लगा रहता है।

वल्लभ सम्प्रदाय के अतिरिक्त ब्रज में अनेक सम्प्रदायों का उद्भव एवं विकास हुआ है, जैसे हरिदासी सम्प्रदाय, राधा वल्लभ सम्प्रदाय इत्यादि। ब्रज के मन्दिरों में इन विविध सम्प्रदायों द्वारा संचालित समाज संगीत के अतिरिक्त नाम संकीर्तन की धुनें भी सुनने को मिलती है, जिनके साथ मृदंग वादन की परम्परा चली आ रही है।

२. मथुरा का कोरिया घराना—मथुरा के श्री छेदाराम कृत 'पोथी' के अनुसार इस घराने का इतिहास लगभग ५०० वर्ष पुराना है। मथुरा के श्री गोविन्दराम जी का अनुमान है कि यह पुस्तक २०वी शती के पूर्वार्द्ध में लिखी गई होगी। ब्रजभाषा में लिखी इस पुस्तक की मूल प्रति उन्हीं के पास सुरक्षित है। उसकी मूल बातें संक्षेप में इस प्रकार हैं—

सतयुग में एक बेन नामक राजा हुए जो ऋषि मुनियों को अत्यधिक कष्ट देते थे। इस अधर्मी राजा को दंड देने के लिए देवताओं ने उसके प्राण हर लिए, परन्तु राजा के बिना कौन रक्षक होगा ? इस बात को ध्यान में रखकर देवताओं ने बेन राजा की दाहिनी जाँघ को मथा। मथने पर चार बालक प्रकट हुए—(१) कोल (२) क्रान्ति (३) हुण (४) भील। ये चारों पैदा होते ही जंगल में चले गये। उसके पश्चात् राजा बेन की दूसरी जांघ को मथा गया, जिससे भृगु राजा पैदा हुए, जिनको पृथ्वी का भार सौंपा गया। जंगल में चले गये कोल के वंश में श्री

वाल्मीकि पैदा हुए जिन्होंने रामायण की रचना की। श्रीराम जी ने वाल्मीकि को वचन दिया था कि'मैं तुम्हें द्वापर तथा कलियुग में भी मिलूंगा।

यहाँ तक की कहानी तो कपोल कल्पित ज्ञात होती है, किन्तु आगे की बातों में कुछ सत्यता अवश्य दृष्टिगोचर होती है।

करीब ५०० वर्ष पूर्व विक्रम संवत् १५३५ में वैष्णव सम्प्रदाय के प्रणेता महाप्रभु श्री वल्लभाचार्य का जन्म हुआ। बडे होने पर उन्होंने ब्रज की लीला प्रारम्भ किया। भगवान् की लीला के गुणगान के लिए उन्होंने विविध साजो को कलाकारों में बांट दिया, किन्तु मृदंग को अपने पास ही रखा। उन्होंने सोचा कि यह साज (मृदंग) मेरे चारो युग के भक्त वाल्मीकि को देना चाहिए। परन्तु उनका भक्त वाल्मीकि तो गोवर्धन में गिरिराज की तलहटी मे कोढ़ रोग से ग्रसित पड़ा था। अतः उन्होंने वहां जाकर उस कोढ़िया को रोग-मुक्त किया तथा उन्हे मृदंग सौंपते हुए आशीर्वाद दिया कि 'तू श्रीनाथ जी की सेवा में मृदंग बजा। तेरे वंश में ऐसे कलाकार जन्म लेंगे, जिनकी कला बेजोड़ रहेगी।' तब से उस कोढिये की वंश एव शिष्य परम्परा में मृदंग की विद्या अनवरत चली आ रही है। उनके मतानुसार भारत के समस्त मृदंग घरानों एवं परम्पराओं का सम्बन्ध इस कोढ़िया वंश से है। 'पोथी' के अनुसार ब्रज मृदग का उद्गम स्थल है। ब्रज-मथुरा में कोढिया परम्परा को आज भी कोरिया घराना के नाम से जाना जाता है, जो कि कोढ़िया शब्द का अपभ्रंश है।

'पोथी' में उस कोढ़िया के नाम का उल्लेख नही है। परन्तु उनके दोनों पुत्र—केवलकिशन एवं जटाधर के विषय में विस्तृत जानकारी मिलती है। केवलकिशन ने देश-विदेश का भ्रमण किया था और उन्होंने कुछ समय तक रीवा नरेश के यहां नौकरी भी की थी। केवलकिशन के पुत्र हीरालाल तथा उनके दो पौत्र—दास और भवानीदास भी उच्चकोटि के मृदंगवादक थे। दास अपने पुत्र टीकाराम के जन्म के समय ही स्वर्ग सिधार गये थे और भवानीदास दतिया दरबार में नौकरी करने चले गये थे। दतिया जाकर अपने चाचा भवानीदास जी से टीकाराम ने शिक्षा लेनी प्रारम्भ की। टीकाराम को बाल्यकाल में किसी गुरु से सरस्वती मंत्र प्राप्त हो गया था। इस कारण उनकी विद्या में वृद्धि होती गई। जब उन्हें यह आभास हो गया कि अपने चाचा एवं गुरु भवानीदास की सम्पूर्ण विद्या उन्हे प्राप्त हो गई है तो उन्होंने दतिया दरबार में मृदंग वादन करने की इच्छा व्यक्त करने का सन्देश भेजा। भवानीदास ने जब उनका मृदंगवादन सुना तो अपनी विद्या को इस युवक मृदंगवादक के हाथ से निकलते देखकर वे हतप्रभ रह गये। पूछने पर टीकाराम ने अपना परिचय बताते हुए अपने चाचा एवं गुरु के पैर पकड़ लिए तथा उनसे क्षमा याचना की।

टीकाराम के पुत्र बाबू जोधसिंह तथा शिष्य जानकीदास हुए। दोनों ही श्रेष्ठ कलाकार थे।

उस 'पोथी' के अनुसार कान्यकुब्ज ब्राह्मण कुदऊसिंह छोटी-सी उम्र में ही गुरु केवलकिशन महाराज से मृदंग सीखने गये तथा उनके गंडाबद्ध शिष्य हो गये। किन्तु वृद्धावस्था के कारण केवलकिशन के पौत्र भवानीदास ने कुदऊसिंह की शिक्षा पूर्ण हुई। उस समय तक भवानीदास भी प्रौढ हो चुके थे। कुदऊसिंह बड़े ही प्रतिभावान शिष्य सिद्ध हुये। उनकी चौमुखी प्रतिभा ने एक नवीन घराने को जन्म दिया जो कुछ समय पश्चात् 'कुदऊसिंह घराना' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

कुदऊ सिंह के समय में जानकीदास मृदंगवादक का नाम अत्यधिक प्रसिद्ध था। उम्र और विद्वत्ता की दृष्टि से जानकीदास बड़े थे, जबकि युवा कुदऊ सिंह को माँ काली की सिद्धि

प्राप्त थी। दतिया दरबार में इन दोनों के बीच प्रतियोगिता हुई, ऐसा उल्लेख 'पोथी' में प्राप्त होता है। जानकीदास ने पंजाब के ताज खाँ डेरेदार के पुत्र नासिर खाँ मृदंगवादक को दीर्घ-काल तक शिक्षा दी थी।

जानकीदास की मृत्यु के उपरान्त नासिर खाँ बड़ौदा गए और वहाँ के दरबार में उनकी नियुक्ति हो गई। आज भी उनके अनेको शिष्य एव वंशज बड़ौदा में रह रहे हैं।

लाला भवानीदास के मृत्यूपरान्त दतिया दरबार में कुदऊ सिंह की नियुक्ति हुई। 'पोथी' में ऐसा वर्णन मिलता है कि टीकाराम के पुत्र बाबू जोधसिंह उन दिनों दतिया गये थे और कुदऊ सिंह तथा जोधसिंह के बीच सात दिन तक प्रतिस्पर्धा होती रही। निर्णय होना कठिन था क्योंकि बाबू जोधसिंह भी अपनी विद्या में अत्यन्त सिद्धहस्त थे। अतः अपनी लाज बचाने के लिए कुदऊ सिंह ने सातवें दिन माँ काली से प्रार्थना की तथा माँ की प्रेरणा से अद्वितीय चक्करदार परन का निर्माण किया, जिसमें तीन 'धा' थे। दरबार में बजाते समय चक्करदार के दो 'धा' तो उन्होंने स्वयं बजाये और तीसरे 'धा' के समय मृदंग हवा में फेंकी तो तीसरा 'धा' स्वयं ऊपर बजा। बाबूजी ने भी वही बन्दिश बजाने का प्रयास किया, किन्तु उनका तीसरा 'धा' नहीं बजा। अतः वे पराजित हुए। आचार्य वृहस्पति तथा हकीम मोहम्मद करम इमाम ने इस प्रसंग को दतिया में नहीं, बल्कि लखनऊ दरबार में नवाब वाजिदअली शाह के सामने हुआ बताया है।[२]

बाबू जोधसिंह के अनेक शिष्य थे किन्तु केवल तीन के विषय में ही जानकारी प्राप्त हो सकी है, जिनके नाम हैं—नाना पानसे, कुन्दन लाल और सूरदास।

नाना पानसे—जिनके प्रतिभाशाली व्यक्तित्व एवं सृजन शक्ति ने एक नवीन घराने को जन्म दिया। आधुनिक युग में मृदंग के केवल दो घराने भारत में प्रसिद्ध हैं। उनमें नाना पानसे घराने का नाम सम्मानपूर्वक लिया जाता है।

कुन्दनलाल—ये मथुरा के निवासी थे और केवलकिशन जी के भाई जटाराम की वंश परम्परा से सम्बन्धित थे। कुन्दनलाल नवाब कल्वे अली के समय में रामपुर दरबार में नियुक्त थे। उनके पुत्र गगाराम तथा प्रशिष्य मक्खनलाल (मथुरा), मन्नुजी (काशी) तथा दूसरे अनेकों ने इस क्षेत्र में काफी यश प्राप्त किया।

सूरदास—बाबू जोध सिंह के तीसरे शिष्य विन्ध्य प्रदेश (पूर्वनाम) के चारखेर नामक स्टेट के एक सूरदास थे, परन्तु उनके विषय में विशेष जानकारी प्राप्त नहीं हो सकी।

कुदऊ सिंह एवं नाना पानसे घरानों के उपरान्त पंजाब एवं बंगाल के मृदंग घराने भी ब्रज से ही फैले हैं यह जानकारी 'पोथी' से प्राप्त होती है। बंगाल की परम्परा तो केवल-किशन जी से प्रारम्भ हुई, ऐसा बंगाली कलाकारों का मत है। केवलकिशन जी लम्बी अवधि तक बंगाल में रहे। उनके शिष्य निमाई, निताई तथा रामचन्द्र चक्रवर्ती भाइयों ने मृदंग सीख-कर बंगाल में उसका प्रचार किया।

इसी प्रकार 'पोथी' में उल्लेख है कि पंजाब में भी दुक्कड़ बाज का प्रचार तथा पखा-वज वादन की परम्परा मथुरा घराने की ही देन है, जिसकी विस्तृत चर्चा हम पंजाब घराने में करेंगे।

---

२. मऊदन उल मूसिकी : (उर्दू) संगीत कार्यालय हाथरस, यू० पी० प्रकाशन
तथा
मुसलमान तथा भारतीय संगीत : आचार्य वृहस्पति।

केवलकिशन के भाई जटाधर की वंश परम्परा मुख्यतः मथुरा में फैली। आज भी इस परम्परा के कुछ गिने-चुने कलाकार ब्रज-मथुरा तथा दिल्ली में हैं।

केवलकिशन जी के समान उनके भाई जटाधर (जट्टादादा) भी अपने विद्वान् पिता के योग्य पुत्र थे। उनके पुत्र छज्जूराम का नाम आज भी ब्रज के कलाजगत् में जीवित है। कार्तिक सुद दशमी को मथुरा में कंस का मेला लगता है। इस मेले के साथ छज्जूराम का नाम अमर हो चुका है। इस मेले के अवसर पर कंस की खाट छज्जूराम के वंशजों से आज तक लायी जाती हैं। कंस के मेले में उपस्थित हज़ारों चतुर्वेदी निम्नलिखित पंक्तियाँ दोहराते हैं, जिनके साथ छज्जूराम का नाम जुड़ा है—

"कंस मार मधुपुरिया (मथुरा) आये,
घर घर मंगल बजत बढाये।
गज मोतियन के चौक पुराये
छज्जू लाये खाट के पाये।।"

इन पंक्तियों के पीछे एक कहानी भी छिपी हुई है, जिसका सम्बन्ध कंस बध तथा छज्जूराम के पखावज वादन के साथ जुड़ा है।

छज्जूराम के पुत्र हरिराम थे। हरिराम के दो पुत्र, घासीराम और तुलसीराम हुए। दोनों ही मृदंगवादन में निपुण थे।

घासीराम के तीन पुत्र थे—(१) भोजराज, (२) कुन्दनलाल, (३) लक्ष्मण।

भोजराज अपने परिवार मे सबसे ज्येष्ठ थे। अतः उन्होंने अपने दोनो भाइयों के साथ ही अपने ताऊ के पुत्र मोहन, श्याम, खोआराम, चुईयाराम को भी मृदंग की शिक्षा दी।

भोजराज के पुत्र कुन्दीराम और पौत्र टीकाराम (दूसरे) उत्कृष्ट वादक हुए। टीकाराम के दोनों पुत्र छेदाराम और सोनीराम तथा शिष्य पुन्ना वृजदासी, गंगाधर वृजदासी, भजनलाल, बदलु तथा प्रीतमदास ने अत्यधिक यश प्राप्त किया था। इन सबमें छेदाराम का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। ब्रज के इतिहास को लिपिबद्ध करने का सराहनीय श्रेय उन्ही को है। उन्होने अपने पिता टीकाराम की सूचनानुसार 'गर्ग संहिता' के आधार पर ब्रज के गोस्वामी श्री १०८ श्री गोपाललाल जी की आज्ञा से मृदंग का इतिहास तैयार किया था, जो आज भी उनके भतीजे एवं शिष्य गोविन्दराम के पास सुरक्षित है। छेदाराम के पुत्र कन्हैयालाल, पौत्र विष्णु, प्रपौत्र दीपक तथा प्रमुख शिष्यों में भतीजे पं० गोविन्दराम, लाल जी, गोपाल जी, गोलाराम, आदि अनेकों नाम उल्लेखनीय है। सोहन लाल के पुत्र गोविन्दराम, पौत्र प्रभुदयाल, प्रपौत्र नरेन्द्र तथा शिष्य लल्लो भी इसी मार्ग पर अग्रसर हैं।

घासीराम के द्वितीय पुत्र कुन्दनलाल बाबू जोर्वसिंह जी के शिष्य थे तथा नवाब कल्बे अली के समय में रामपुर दरबार में नियुक्त थे। कुन्दनलाल मृदग वादन में अत्यन्त निपुण थे। ऐसा विवरण प्राप्त होता है कि बीनकार वजीर खां के साथ रामपुर दरबार में उनसे प्रतियोगिता हुई थी। कुन्दनलाल के दो पुत्र थे, गंगाराम और बिहारीलाल। जमाई हीरालाल को दहेज में ढोलक की शिक्षा दी गई थी।

गंगाराम अपने समय के उच्चकोटि के मृदंगवादक थे। किम्वदन्ती है कि वे एक साथ चार-चार मृदंग वजा लेते थे। वे उर्दू के अच्छे ज्ञाता भी थे। दतिया दरबार में कुदऊ सिंह के साथ गंगाराम की भिड़न्त की बात चली थी। किन्तु कुदऊसिंह ने यह कहकर प्रतियोगिता टाल दी थी कि गंगाराम मेरे अभिन्न मित्र कुन्दनलाल का बेटा है, अतएव यह मेरा

हुआ। बड़ौदा दरबार में नासिर खाँ मृदंगवादक के साथ प्रतियोगिता जीत कर गंगाराम बड़ौदा दरबार में लम्बे अर्से तक रहे। गंगाराम नि:संतान थे। अतः उन्होंने अपने शिष्य मक्खन लाल को बड़े स्नेह से शिक्षा दी थी। उनके अन्य शिष्यों मे बलिया वाले मुन्शीजी, मनु जी (वाराणसी), नन्दू, छेदालाल, किशोरराम तथा मंगलाराम के नाम लिये जाते हैं। गंगाराम के भाई बिहारीलाल झाबुआ स्टेट में नौकर थे। उनकी १८ सन्तानों में से एक भी जीवित नही रही। उनके गंडा बद शिष्यों मे गोविन्दराम, लालजी, गोपालजी तथा कन्हैयालाल थे।

घासीराम के तीसरे पुत्र को दतिया नरेश ने एक गाँव देकर पुरस्कृत किया था। वे मजेई गाँव वाले बूचीराम उर्फ बिहारीलाल की मडली में रहते थे, उनके पुत्र मथुरालाल ने भी उनसे सीखा था।

इस परम्परा के उत्तराधिकारी श्री गोविन्दराम अत्यन्त विद्वान् कलाकार हैं। आपने तबले की पुस्तक 'ताल पुष्पाजलि' तीन भागों मे लिखी है। उनके प्रमुख शिष्यों में उनके पुत्र प्रभुदयाल तथा लक्ष्मण जी, हरि, गोपाल, लच्छो, फकीरचन्द सोनपाल तथा अशोक जौहरी के नाम उल्लेखनीय हैं। यह जटाधर (जट्टादादा) के प्रपौत्र घासीराम की वंश एवं शिष्य परम्परा थी। अब उनके द्वितीय पुत्र तुलसीराम की परम्परा की चर्चा की जाएगी।

तुलसीराम के चार पुत्र हुए—(१) मोहन जी (२) खोआराम (३) श्यामलाल (४) चुईयाराम। इन चारों की सगीत शिक्षा उनके चचेरे भाई भोजराज द्वारा हुई।

मोहन के परिवार में दो पुत्र थे। एक हेमा जो कि कम उम्र में स्वर्गवासी हो गए और दूसरे दुल्ली को लोचन नाम का एक पुत्र हुआ जो उसके चाचा चिरंजीलाल द्वारा गोद ले लिया गया।

दूसरे पुत्र खोआराम के पुत्र बुद्धाराम और पौत्र खचेरा ने भी मृदंग की शिक्षा प्राप्त की थी।

तीसरे श्यामलाल के पुत्र चिरंजीलाल निस्संतान थे। अत: उन्होने प्रथम दुल्ली जी के पुत्र लोचन को गोद ले लिया था, किन्तु दुर्भाग्य से लोचन का भी स्वर्गवास कम उम्र में हो जाने के कारण अपने भाई चुईयाराम के पौत्र गोलाराम को गोद ले लिया था।

अंतिम पुत्र चुईयाराम के नायाराम तथा शुक्काराम नाम के दो बेटे थे। नायाराम के पुत्र गोलाराम को चिरजीलाल ने गोद लिया था। उसने चिरंजीलाल के उपरान्त छेदाराम से भी शिक्षा प्राप्त की थी। बम्बई की अल्फ्रेड कम्पनी में वह नियुक्त हो गये थे। किन्तु कुछ ही समय उपरान्त उनका देहान्त हो गया। गोलाराम के पुत्र प्रेम वल्लभ उर्फ खुनखुन ने आकाशवाणी के दिल्ली केन्द्र में वर्षों तक कार्य किया और वही से सेवा निवृत्त हुए हैं। उनके पुत्र का नाम भगवान दास है।

मथुरा की इस प्राचीन परम्परा के वशज एव शिष्यो में भी आजकल पखावज की अपेक्षा तबले के प्रति अधिकाधिक रुझान देखने को मिल रहा है। जिस घराने की वयोवृद्ध पीढ़ी में आज भी पखावज के बोलो का विपुल भंडार एव परम्परागत शुद्ध वादन शैली सुरक्षित रह सकी है, उस महान् परम्परा को सम्हालने वाले, सीखने वाले एव दीर्घ साधना से उसे उज्ज्वलित करने वाले नवीन पीढ़ी के उत्तराधिकारी दृष्टिगोचर नही हो रहे हैं और पखावज की परम्परागत विद्या का भविष्य अन्धकारमय दिखाई दे रहा है।

• •

अध्याय ६

पंजाब घराना

पंजाब में मृदंग वादन की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है तथा भारत एवं पाकिस्तान दोनों देशों में व्याप्त है। भारत की ही भांति पाकिस्तान के मृदंगवादकों का भी इतिहास उपलब्ध नहीं है।

लाला भवानीदीन (जिन्हें पंजाब घराने के कलाकार भवानीदास के नाम से सम्बोधित करते हैं) पंजाब की परम्परा के आदि प्रवर्त्तक थे। 'पोथी' में भी पंजाब की मृदंग की परम्परा के आद्यपुरुष का नाम भवानीदास ही बताया गया है।

प्रामाणिक रूप से मृदग के जिन प्राचीन कलाकारों का नामोल्लेख हकीम मोहम्मद करम इमाम की पुस्तक 'मअद्दन उल मूसिकी' (सन् १८५५ ई०) में मिलता है उसमें 'क़िरपा' मृदगवादक तथा 'घासीराम' मृदंगवादक के नाम प्रमुख हैं, जिन्हे औरंगजेब तथा मोहम्मद शाह रंगीले के युग से सम्बन्धित बताया गया है।

आचार्य कैलाशचन्द्र देव बृहस्पति की पुस्तक 'मुसलमान और भारतीय सगीत' में भी इनका उल्लेख मिलता है। नाम से ये दोनों कलाकार पंजाबी लगते हैं।

मध्य युग से ही पंजाब के अनेकों हिन्दू एव मुसलमान मृदगवादक अपनी वादन निपुणता के कारण देश भर में प्रसिद्ध हो गये थे। पजाब के गुरुद्वारों में आज भी कुछ इने-गिने मृदगवादक विद्यमान है जो भजन-कीर्तन के साथ ही ध्रुपद-धमार गायकी की संगति में भी अपना दखल रखते है।

पन्द्रहवीं, सोलहवी तथा सत्रहवीं शताब्दी में मृदंग पर कौन सा बाज बजाया जाता था, वह किस प्रकार बजता था, उसमें स्वतंत्र वादन किया जाता था, या नही और किया जाता था तो किस प्रकार उसका प्रस्तुतीकरण हुआ करता था, इन सब बातों से हम अनभिज्ञ हैं। अतः औरंगजेब के युग का 'क़िरपा' मृदंगवादक या मोहम्मदशाह रंगीले के दरबार का 'घासीराम' मृदंकवादक अपना स्वतन्त्र-वादन किस प्रकार प्रस्तुत करते रहे होंगे यह हमारे लिए केवल अनुमान का विषय है। हमारे पास मृदग की जो संचित जानकारी बोल बन्दिशों के रूप में आज उपलब्ध है, वह केवल दो शती ही पुरानी है।

पंजाब घराने के प्रमुख प्रतिनिधि कलाकारों की मान्यतानुसार वर्तमान समय का पंजाब घराना लाला भवानीदास से सम्बन्धित है। यह उनके द्वारा किस प्रकार से प्रशस्त हुआ इसकी पीठिका में भी एक कहानी छिपी है जो कलाकारों में इस प्रकार प्रसिद्ध है :

एक बार लाहौर के सूबेदार ने भवानी दास को निमन्त्रण देकर अपने यहाँ बुलाया। सूबेदार उनके मृदंगवादन पर इतने मुग्ध हुये कि वे चाहने लगे कि वहाँ के कुछ स्थानीय कलाकारों को उनसे पखावज की शिक्षा मिले। उन्होंने लाला भवानीदीन के समक्ष अपनी इच्छा प्रकट की। भवानीदीन जी यह सुनकर असमंजस में पड़ गये। लोगों का कहना है कि वे अपनी परम्परागत कला को सिखाना नहीं चाहते थे, परन्तु यह बात मुझे योग्य प्रतीत नहीं होती।

ऐसा विद्वान् और महान् व्यक्ति इतनी संकीर्ण मनोवृत्ति का नहीं हो सकता। उनके 'ना' कहने का कारण कुछ और ही रहा होगा। उन दिनों पखावज की क्रियात्मक शिक्षा देने के पूर्व शिष्यों को ताल शास्त्र का पूर्ण शास्त्रीय ज्ञान कराया जाता था। कौन से प्रबन्ध के साथ कौन सी ताल बजेगी, उसे बजाने की क्या विधि होगी, इस का परिपाक निश्चित ताल के प्रयोग के द्वारा किस प्रकार और कब किया जा सकता है तथा बोलों एवं वर्णों में लघु-गुरु-प्लुत का प्रमाण किस गणित से बिठाया जायेगा, आदि अनेक शास्त्रीय बातें मृदंगवादक को क्रियात्मक ज्ञान के साथ-साथ सिखायी जाती थी। विधर्मी एवं अशिक्षित लोग अपने शास्त्र की इन विशेषताओं को एवं गहनताओं को समझ सकने में असमर्थ होंगे ऐसा सोच कर के उन्होंने कदाचित् उन लोगों को तालीम देना स्वीकार नहीं किया होगा। तत्पश्चात् परदेश में शासक वर्ग का कोपभाजन बनने से कदाचित् जान खोनी पड़े इस भय से उन्होंने उन लोगों को सिखाना स्वीकार किया होगा। इस प्रकार लाहौर में कुछ वर्ष रह कर लाला जी ने वहाँ के स्थानीय कलाकारों को पखावज की तालीम दी। वहाँ रह कर उन्होंने वहाँ के लोक-वाद्य दुक्कड़ पर एक नवीन बाज का भी आविष्कार किया और अपने पंजाबी शिष्यों को इस बाज की शिक्षा दी और इस प्रकार दुक्कड़ बाज का प्रचलन हुआ। इसी बाज का रूपान्तर आगे चल कर उनकी शिष्य परम्परा की तीसरी पीढ़ी में तबले के बाज में परिवर्तित हुआ लगता है, क्योंकि विद्वानों में यह निश्चित मान्यता व्याप्त है कि पंजाब घराने का आधुनिक तबला दुक्कड़ बाज का ही परिष्कृत रूप है।

यद्यपि यह सिद्ध हो चुका है कि कुदऊ सिंह तथा पंजाब इन दोनों परम्पराओं के मूल प्रवर्तक लाला भवानीदीन जी ही थे तथापि कुछ लोगों में यह धारणा व्याप्त है कि इन दोनों घरानों के प्रवर्तक दो पृथक् व्यक्ति रहे होंगे। पंजाब घराने के प्रतिनिधि कलाकार उस्ताद अल्लारखा लाला भवानीदीन को भवानीदास कहते हैं। उनके अनुसार भी ये दो व्यक्ति हो सकते हैं। वैसे भी दो व्यक्तियों का एक ही नाम होना कोई अस्वाभाविक बात नहीं है। किन्तु विविध पुस्तकों में पर्याप्त प्रमाण मिल जाने के कारण यह शंका निर्मूल हो जाती है।

हकीम मोहम्मद करम इमाम तथा फकीरुल्लाह भवानीदास को ताज खाँ डेरेदार तथा कुदऊ सिंह दोनों के गुरु बताते हैं।[३]

२०वीं शती के पूर्वार्द्ध में मथुरा के सुप्रसिद्ध पखावजी पं० छेदाराम द्वारा लिखी हस्तलिपि पुस्तक में, जिसे इस शोध प्रबन्ध में 'पोथी' के नाम से सम्बोधित किया गया है, पखावज की परम्परा का पूर्ण इतिहास उपलब्ध है। उन्होंने लिखा है कि लाला केवलकिशन जी के पौत्र भवानीदास ने खब्बे हुसेन ढोलकिया को प्रतियोगिता में परास्त कर उसके पुत्र अमीर अली को अपना शिष्य बनाया। बाद में अमीर अली ने पंजाब में भवानीदास द्वारा आविष्कृत दुक्कड़ बाज का प्रचार किया और अनेक शिष्य तैयार किये। 'पोथी' के अनुसार ताज खाँ डेरेदार के पुत्र नासिर खाँ पखावजी को भवानीदास के प्रशिष्य जानकीदास ने शिक्षा दी थी। (जानकीदास, भवानीदास के भतीजे टीकाराम के शिष्य थे।) बाद में नासिर खाँ बड़ौदा दरबार में नियुक्त हुये।

श्री रोबर्ट गोटलिब की पुस्तक "दि मेजर ट्रेडीशन आफ नार्थ इन्डियन तबला ड्रमिंग"

---

३. राग दर्पण : फकीरुल्लाह (दसवां अध्याय), मअदन उल मूसिकी, करम इमाम एवं खुसरो, तानसेन तथा अन्य कलाकार—पृष्ठ २१३।

में लेखक ने पंजाब घराने के उद्भव एवं विकास में भवानीदास का नाम आद्य प्रवर्तक के रूप में लिखा है, जो कि लेखक के अनुसार उस्ताद अल्लारखा की मुलाकात पर आधारित है।[४]

उस्ताद अल्लारखा खाँ पंजाब घराने के प्रतिनिधि कलाकार है। वे लाला भवानीदास को अपनी परम्परा का आद्य प्रवर्तक मानते है। वे उन्हे भवानीदीन नही वरन् भवानीदास कहते हैं। अपनी भेंट में उन्होंने बतलाया कि लाला भवानीदास का नाम उन्होंने अपने गुरु मुख से सुना था।

विविध ग्रन्थों से प्राप्त सूचनाओं के अनुसार जो ऐतिहासिक प्रमाण हमारे पास उपलब्ध हैं, उनमें कही भी ऐसा उल्लेख नही मिलता कि भवानीदीन और भवानीदास दोनो एक ही व्यक्ति के दो नाम हैं। सम्भव है कि दिल्ली और उत्तर प्रदेश की ओर दीन जी को भवानीदीन नाम से सम्बोधित किया जाता रहा हो और पंजाब में उनके शिष्यगण उन्हें भवानीदास कहते रहे हों। अतः मेरी यह निश्चित धारणा है कि भवानीदीन, भवानीदास या भवानी सिंह एक ही व्यक्ति के अलग-अलग नाम हैं, जिनसे पखावज के विविध घराने एवं परम्परायें अस्तित्व में आई हैं।

श्री बाबूलाल गोस्वामी के अनुसार लाला भवानीदीन ने दिल्ली के सुलतान मुहम्मदशाह 'रंगीले' को लक्ष परनें सुना कर प्रसन्न किया था।[५] आचार्य बृहस्पति ने भी 'रंगीले' के दरबारी कलाकार के रूप में भवानीदास का उल्लेख किया है।[६] बादशाह मोहम्मद शाह का शासन काल सन् १७१६ ई० से सन् १७४८ ई० तक का था। अतः लाला भवानीदीन का समय १८ वीं शती का मध्य काल रहा होगा। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि आज का पंजाब घराना १८वीं शती के मध्य काल से प्रारम्भ हुआ। इस घराने में पहले केवल पखावज की शिक्षा दी जाती थी। परन्तु पिछले सौ वर्षों से अर्थात् उस्ताद फकीर बख्श के समय से वहाँ तबला और पखावज दोनों का प्रचलन प्रारम्भ हुआ और उसी समय से वहाँ तबले को भी महत्व मिलने लगा। आज तो यह स्थिति आ गई है कि इस घराने में पखावज नाम मात्र को रह गया है और यहाँ के कलाकार तबला वादक के रूप मे विश्व में यश अर्जित कर रहे है।

पंजाब घराने का विकास लाला भवानी दास अथवा भवानीदीन के शिष्य-प्रशिष्यों के योगदान से हुआ है। सर्वश्री ताज खाँ डेरेदार, हद्दू खाँ लाहौर वाले, कादिर बख्श (प्रथम) तथा अमीर अली आदि भवानीदास के प्रमुख शिष्यो में से हुये, जिनसे पंजाब की परम्परा चली। अमीर अली ने दुक्कड़ बाज का विशेष प्रचार किया था, ऐसा उल्लेख ब्रज की हस्तलिपि 'पोथी' में स्पष्ट है।

उस्ताद ताज खाँ डेरेदार के पुत्र नासिर खाँ पखावजी अपने समय के प्रसिद्ध कलाकार थे। उन्होंने अपने पिता के उपरान्त मथुरा के पं० जानकीदास से, जो कुदऊ सिंह के गुरु भाई थे, शिक्षा ली थी।

करम इमाम की पुस्तक 'मअदन उल मूसीकी' के आधार पर पं० भातखण्डे ने अपनी

---

४. दि मेजर ट्रेडीशन आफ नार्थ इन्डियन ड्रमिंग, पार्ट II, रोबर्ट गोटलिब, पृष्ठ १८३।
५. मध्य प्रदेश की विभूति मृदंग सम्राट् कुदऊ सिंह : बाबू लाल गोस्वामी। बाबू शारदा प्रसाद अभिनंदन ग्रन्थ में संकलित लेख : रीवाँ, म० प्र०।
६. संगीत चिन्तामणि : बृहस्पति, पृष्ठ ३५६।

पुस्तक संगीत शास्त्र भाग ४ की पृष्ठ संख्या २३१ में लिखा है कि "उस्ताद ताज खाँ के पुत्र उस्ताद नासिर खाँ कुदऊ सिंह के समय के तथा उनकी बराबरी के कलाकार थे। उन दोनों में वादन प्रतियोगितायें हुआ करती थी।" उसी पुस्तक में उ० नासिर खाँ की श्रेष्ठता प्रदर्शित करते हुये आगे लिखा गया है कि "नासिर खाँ का हाथ कुदऊ सिंह से थोड़ा कर्कश था, परन्तु समझदारी में ताज खाँ और नासिर खाँ को कुदऊ सिंह की अपेक्षा अधिक अच्छा ही कहा जाता था।"

'मऊदन उल मूसीकी' के आधार पर श्री मधुसूदन शरण 'बेदिल' भी लिखते हैं कि "नासिर खाँ और कुदऊ सिंह में थोडा अन्तर प्रतीत होता है। कुदऊ सिंह की अवस्था प्रौढ़ होने के कारण उनका हाथ अत्यन्त मुलायम तथा साफ है और नासिर खाँ का हाथ जवान तथा अल्पवयस्क होने के कारण दबग और करारा है। नासिर खाँ के पिता ताज खाँ पखावज वादन में कुदऊ सिंह से अधिक जानकारी रखते हैं।"[६]

इन उल्लेखो से निष्कर्ष निकलता है कि पंजाब घराने के ये उस्ताद बड़े विद्वान् और गुणी रहे होंगे। इन्हीं लोगों के प्रयास से पंजाब घराना विस्तृत हुआ, जो बाद में उ० हुसेन बख्श, उ० फकीर बख्श, उ० करम इलाही, मियाँ मलंग, मियाँ कादिर बख्श आदि के प्रयत्नों से विशाल वृक्ष बन कर विस्तृत हुआ। पंजाब घराने के विकास में इन उस्तादों, उनके वंशजों एवं शिष्यों का अमूल्य योगदान रहा है।

पखावज की पंजाब परम्परा मे लाला भवानी दास के प्रमुख पाँच शिष्य हुये। उ० कादिर बख्श (प्रथम), जिनके पुत्र मियाँ हुसेन बख्श, पौत्र मियाँ फकीर बख्श तथा प्रपौत्र मियाँ कादिर बख्श थे। दूसरे उ० ताज खाँ डेरेदार—जिनके पुत्र नासिर खाँ उत्कृष्ट कलाकार थे। वे मथुरा के पं० जानकी दास के भी शिष्य थे। उ० नासिर खाँ दीर्घकाल तक जियाजी राव गायकवाड़ के राज्यकाल में बड़ौदा दरबार मे रहे तथा बडौदा के कलावन्त कारखाने में रहकर अनेक शिष्य तैयार किये, जिनमे पं० कान्ता प्रसाद प्रमुख हैं। उनकी वंश परम्परा में उनके पुत्र नासिर हुसेन, पौत्र नज़ीर खाँ आदि अच्छे कलाकार हुये हैं। तीसरे शिष्य एक अज्ञात हिन्दू व्यक्ति थे, जिनके शिष्य पं० भवानी प्रसाद से ब्रज के मक्खन लाल ने कुछ शिक्षा ग्रहण की थी। चौथे शिष्य उ० हद्दूखाँ लाहौर वाले थे, जिनसे बनारस के पं० बलदेव सहाय ने सीखा था, ऐसा पंजाब घराने के कलाकारो का दावा है और बनारस घराने के प्रतिनिधि कलाकार इस दावे का जोरदार खण्डन करते हैं। पाँचवें शिष्य अमीर अली थे, जो छब्बे हुसेन ढोलकिया के पुत्र थे। भवानी दास ने छब्बे हुसेन को हरा कर उसके पुत्र को अपना शिष्य बनाया था। अमीर अली ने पंजाब के दुक्कड़ बाज का प्रचार किया, ऐसा उल्लेख 'पोथी' में है।

इन पाँच शिष्यों के अतिरिक्त भी पंजाब की परम्परा में लाला भवानी दीन के अनेक शिष्य हुये, किन्तु उनके विषय में कोई विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं हो सकी। पंजाब घराना हिन्दुस्तान तथा पाकिस्तान दोनों देशों में फैला है। अतः लाला भवानी दीन की शिष्य परम्परा पाकिस्तान में भी विस्तृत हुई होगी, जिसके इतिहास से हम अनभिज्ञ है।

लाला दीन जी के प्रशिष्य उ० हुसेन बख्श के पुत्र उ० फकीर बख्श के सैकड़ों शिष्य

---

६. मऊदन उल मूसीकी में संगीत चर्चा (लेख) अनुवादक मधुसूदन शरण 'बेदिल': संगीत रजत जयन्ती अंक: मार्च १९६०, पृ० १६१।

थे। उनके प्रमुख शिष्यों में उनके पुत्र कादिर बख्श, मियाँ करम इलाही, बाबा मलंग खाँ, उ० फिरोज खाँ, उ० कल्लन खाँ, उ० मीरा बख्श घीलवालिया, उ० महबूब बख्श आदि के नाम गिनाये जाते हैं। विशेष उल्लेखनीय तथ्य यह है कि उ० फकीर बख्श के बाद सभी उस्तादों ने अपने शिष्य पखावज में न बनाकर तबले में तैयार किये। अतः इस परम्परा एवं घराने की आगे की तबला वादकों की पीढ़ी का वर्णन हम तबला अध्ययन के अन्तर्गत ही करेंगे। तथा इस परम्परा की तालिका भी उसी अध्याय के अन्त में आप देख सकते हैं। चूंकि आज पखावज वादन की प्रथा पंजाब से लगभग समाप्त हो चुकी है और मेरी जानकारी में वहाँ कोई श्रेष्ठ पखावज वादक नहीं है, अतः यह लिखना कि वहाँ की पखावज वादन की क्या शैली, विशेषता एवं पद्धति उन दिनों प्रचलित थी, कठिन है।

● ●

अध्याय ७

कुदऊ सिंह घराना

अट्ठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हमारा देश अंग्रेजों की पकड़ में जकड़ गया। हम गुलाम हुये। विदेशी शासन काल में हमारी कला और संस्कृति को अनेक प्रहार झेलने पड़े। विदेशी प्रभुत्व एवं राजकीय अस्थिरता के कारण संगीत राजाश्रय खो चुका था और छोटी-छोटी रियासतों में पलने लगा था।

ऐसे प्रतिकूल दिनों में, यदि हमारे कलाकारों को उन देशी रियासतों के महाराजा, नवाब तथा ठाकुरों का संरक्षण नहीं मिला होता तथा इन कला-पोषक नरेशों के द्वारा उन कलाकारों की कला का गौरव नहीं हुआ होता तो निःसंदेह हमने संगीत के क्षेत्र में बहुत कुछ खो दिया होता। भारत की सांस्कृतिक परम्परा उन गुणग्राही सामन्तों की सदा ऋणी रहेगी।

ऐसे ही एक कला-पारखी नरेश के राज-दरबार में भारत के महान् मृदंग-केशरी कुदऊ सिंह महाराज विद्यमान थे। वे मध्य प्रदेश में स्थित दतिया रियासत के राजा भवानी सिंह के दरबार के अनन्य कला रत्न थे। अपने दीर्घ जीवन काल में उन्होंने अनेक राजा महाराजाओं की महफिलों को सजाया था, किन्तु दतिया नरेश की उदारता, प्यार एवं कला-परस्ती पर वे इस कदर मुग्ध थे कि एक बार दतिया आकर बस जाने के पश्चात् जीवन के अंतिम क्षण तक वहीं रहे। अपनी बहुमुखी प्रतिभा एवं सिद्धि के बल पर इस कला स्वामी ने पखावज को अत्यन्त गौरवान्वित किया। भारतीय संगीत समाज और ताल मर्मज्ञ संगीत प्रेमीजन आज भी उनका नाम बड़े सम्मान एवं श्रद्धा के साथ लिया करते हैं।

महाराज कुदऊ सिंह का घराना पखावज वादन के क्षेत्र में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। वे उन महान् तेजस्वी लाला भवानीदीन (भवानी दास अथवा भवानी दीन) के प्रतिभावान शिष्य थे, जिनका योगदान पखावज के क्षेत्र में सर्वाधिक है।

लाला भवानी दीन के विषय में संगीत जगत् में काफी मत-मतान्तर हैं। एक मतानुसार वे अकबरयुगीन लाला भगवान दास पखावजी की वंश एवं शिष्य परम्परा में से थे। कहा जाता है कि उनके परदादा लाला भगवान दास ब्रज के श्याम जी पखावजी के चार प्रतिभावान शिष्यों में से एक थे, जिन्हें अकबर के दिल्ली दरबार में तानसेन की संगति करने का अवसर मिला था।

दूसरे मतानुसार लाला भगवान दास जावली घराने के प्रणेता थे। बादशाह अकबर ने उनके वादन से प्रसन्न होकर उनको जावली गाँव भेंट में दे दिया था। अतः उनकी परम्परा जावली परम्परा कहलायी। शाहनशाह अकबर ने भगवान दास के पुत्रों को 'सिंह' की उपाधि दी थी, तब से उनके वंश के सभी कलाकार अपने नाम के साथ 'सिंह' लगाने लगे। कुदऊ सिंह के गुरु भवानी दीन इसी भगवान दास की परम्परा के शिष्य अथवा वंशज थे।[1]

तीसरे मतानुसार भगवान दास जी मथुरा निवासी थे तथा उन्हें संत शिरोमणि स्वामी

---

१. देखिये इसी पुस्तक का अध्याय ५ : जावली घराना।

हरिदास जी का शिष्य होने का सौभाग्य मिला। तत्पश्चात् उनको अकबर के दरबार के कलाकार होने का भी गौरव प्राप्त हुआ, जहाँ वे संगीत सम्राट् तानसेन की संगति किया करते थे। भवानी दीन उन्हीं भगवान दास के पौत्र थे।

दुर्भाग्य से इन तीन मतों में से एक को भी ऐतिहासिक प्रमाणिकता प्राप्त नही है। किन्तु राग दर्पण, मअदन उल मूसीकी, खुसरो, तानसेन तथा अन्य कलाकार आदि पुस्तकों के उल्लेखानुसार इतना अवश्य निश्चित हो जाता है कि अकबर काल में भगवान दास नामक एक पखावजी थे, जो तानसेन की संगति किया करते थे। भवानी दीन उन लाला भगवानदास के तीसरी पीढी में आते हैं, जिनका समय १८ वीं शती का आरम्भ काल माना जाता है।

इन तीनों मतों के अतिरिक्त एक और मत मथुरा में व्याप्त है, जो उपर्युक्त चारों में अधिक प्रामाणिक लगता है।

मथुरा के पखावजी छेदाराम जी की 'पोथी' में, जो कि २०वीं शती के पूर्वकाल में लिखी गई है, कुदऊ सिंह के गुरु भवानी दीन को भवानी दास के नाम से सम्बोधित किया गया है। उस पुस्तक के अनुसार भवानी दास आज की कोरिया परम्परा के कलाकार थे। वे कैवलकिशन जी के पौत्र थे, दतिया दरबार में नौकर थे तथा अपने समय के सर्वाधिक प्रसिद्ध कलाकार माने जाते थे। उनसे अनेक लोगों ने सीखा था, जिनमें कुदऊ सिंह, मथुरा के टीकाराम तथा पंजाब के अमीर अली का समावेश होता है।[२]

जो भी हो किन्तु इतना निश्चित है कि पखावज की अनेक परम्पराओं के साथ भवानी दास का सम्बन्ध रहा है तथा इस क्षेत्र में उनका योगदान सर्वाधिक है।

हकीम मोहम्मद करम इमाम, फकीरुल्लाह तथा छेदाराम ने अपनी-अपनी पुस्तकों में भवानी दीन अथवा भवानी दास के शिष्यों में कुदऊ सिंह, ताजखाँ डेरेदार, टीकाराम तथा खब्बे हुसेन ढोलकिया के पुत्र अमीर अली का उल्लेख किया है। अतः इस धारणा की पुष्टि हो जाती है कि पंजाब तथा कुदऊ सिंह इन दोनों घरानों की परम्परा के आद्य प्रवर्तक लाला भवानी दीन या भवानी दास ही थे।

लाला भवानी दीन के नाम के विषय में काफी मत-मतान्तर है। कुदऊ सिंह परम्परा वाले उन्हे भवानी दीन कहते है, व्रज-मथुरा तथा पंजाब परम्परा वाले उन्हें भवानी दास कहते हैं, कोई उन्हे भवानी सिंह तो श्री लक्ष्मीनारायण गर्ग कृत 'हमारे संगीत रत्न' में उन्हें भगवान दास कहा गया है।[३]

संभव है कि जावली घराने की परम्परानुसार उनका नाम भवानी सिंह हो, किन्तु साधु वृत्ति धारण करने के कारण दीन भावना के द्योतक भवानी दीन अथवा भवानी दास नाम से पहचाने गये हों। जो भी हो, किन्तु निश्चित रूप से वे कुदऊ सिंह के गुरु थे।

मृदंग सम्राट् कुदऊ सिंह अपने युग के सर्वाधिक सुविख्यात एवं श्रेष्ठ पखावजी हुये। प्रभावशाली व्यक्तित्व तथा भक्ति-भावना से ओत-प्रोत स्वाभिमानी विचारों के स्वामी कुदऊ सिंह जी को पखावज का युग-पुरुष कहा जाता है।

---

२. देखिये इस पुस्तक का अध्याय ६ : व्रज मथुरा की कोरिया परम्परा।

३. 'हमारे संगीत रत्न', संगीत कार्यालय प्रकाशन, पृष्ठ ५४४।

गुरुकृपा से जो कुछ उन्होंने पाया उसको अपनी कल्पना और कुशाग्र बुद्धि-शक्ति से उस सीमा तक पहुँचा दिया कि आज भी उनकी वादन परम्परा अपना एक अलग अस्तित्व रखे हुए भारत के कोने-कोने में फैली हुई है। उनके बाद उनके घराने में एक से एक बढ़ कर कलारत्न पैदा हुये, जिन्होंने न केवल उनकी प्रणाली को ही आगे बढ़ाया वरन् लोप होती जा रही पखावज की प्राचीन कला को भी जीवित रखने का भगीरथ प्रयत्न किया।

कहते हैं कि कुदऊ सिंह महाराज माँ काली के परम भक्त थे। माँ उन पर अत्यधिक प्रसन्न थी। आज भी लोग उनकी कला के उत्कर्ष में भगवती दुर्गा की सिद्धि स्वीकार करते हैं। उनके चमत्कारपूर्ण मृदंग वादन की अनेक कथाएँ प्रचलित हैं, जिनमें मातेश्वरी काली का नाम लेकर मृदंग को हवा में उछालना तथा मृदंग पर हवा में अपने आप थाप बजना आदि किंवदन्तियाँ प्रमुख हैं। संगीत सम्राट् तानसेन और बैजू बावरा के बाद यदि किसी कलाकार के लिये ऐसी अलौकिक जनश्रुति फैली हो तो वह मृदंगाचार्य कुदऊ सिंह ही हैं। एक मदमस्त हाथी के सामने गज परन बजाकर उसे वश में कर लेने की चमत्कारपूर्ण बात जनश्रुति में आज भी सुरक्षित है जो विविध प्रमाणों के कारण सत्य लगती है। इस घटना का उल्लेख हमें अनेक पुस्तकों में मिलता है।

सन् १६३५ ई० में मराठी भाषा में लिखी गई श्री लक्ष्मण दत्तात्रय जोशी कृत 'संगीत शास्त्रकार व कलावन्तांचा इतिहास' पुस्तक में भी इस घटना का वर्णन मिलता है। श्री प्यारेलाल श्रीमाल ने 'मध्य प्रदेश के संगीतज्ञ' में लिखा है कि 'वह हाथी कुछ वर्ष पूर्व तक दतिया के हाथीखाने को सुशोभित करता था और उस महान् कलाकार की कला-सिद्धि का जीवित उदाहरण था।'[४]

इस विषय में श्री बाबूलाल गोस्वामी अपने लेख में लिखते हैं कि दतिया-नरेश के सेवक श्री मन्नू खिदमतदार की ओर से उनको यह जानकारी प्राप्त हुई कि उस हाथी को बाद में गौहरजान कलकत्ते वाली को दे दिया गया था। हाथी के साथ उसका महावत लाल खाँ फौजदार भी कलकत्ता गया था।[५] महाराजा छत्रपति सिंह (बिजना, म० प्र०) ने उस हाथी का नाम 'गणेशगज' बतलाया है। कुदऊसिंह के एक प्रसिद्ध शिष्य जगन्नाथप्रसाद पखावजी (जयपुर) के पुत्र ने बताया कि उसको वश में कर लेने के पश्चात् कुदऊसिंह महाराज का ब्रह्माण्ड फट गया था और उनको मोक्ष प्राप्त हो गया। ऐसा उनके पिता श्री जगन्नाथप्रसाद जी बताया करते थे। इस प्रकार की अनेक कथा-कहानियाँ उनके विषय में सुनने को मिलती हैं जो उनकी शिष्य परम्परा में तथा उनके प्रशंसकों में फैली हुई हैं।

कुदऊसिंह के प्रारम्भिक जीवन के विषय में विशेष जानकारी नहीं मिलती। उनके दामाद अथवा दौहित्र श्री काशी प्रसाद के अनुसार वे पूर्वी ब्राह्मण थे। ब्रज की हस्तलिपि 'पोथी' में उनको कान्यकुब्ज ब्राह्मण बतलाया गया है। उनका जन्म बांदा (उत्तर प्रदेश) में सन् १८१२ ई० में तथा मृत्यु १६०७ ई० मे हुई थी। 'मध्य प्रदेश के संगीतज्ञ' नामक पुस्तक में उनका जन्म सम्वत् १८७२ तथा मृत्यु सम्वत् १६६६ दिया गया है।[६] भारतीय संगीत कोश मे कुदऊ-

---

४. मध्य प्रदेश के संगीतज्ञ : प्यारेलाल श्रीमाल, पृ० २४०।

५. विन्ध्य प्रदेश की विभूति मृदंग सम्राट् कुदऊसिंह (लेख-बाबूलाल गोस्वामी—बाबू शारदा प्रसाद अभिनंदन ग्रन्थ म० प्र०, पृ० १६५।

६. मध्य प्रदेश के संगीतज्ञ : प्यारेलाल श्रीमाल, पृष्ठ २४०-४१।

सिंह का पूरा नाम कुदऊ सिंह तिवारी लिखा गया है।[७]

कुदऊ सिंह के छोटे भाई राम सिंह की वंश परम्परा के श्रीराम जी लाल शर्मा (रामपुर के स्व० अयोध्या प्रसाद के पुत्र) के अनुसार कुदऊ सिंह के पिता श्री सगुण सिंह जी तथा दादा श्री सुख लाल सिंह जी काशी दरबार के राजपुरोहित थे।

नौ वर्ष की अल्प आयु में माता-पिता का देहान्त हो जाने के कारण वे घर छोड़ कर निकल पडे तथा पखावज सीखने की ललक ने उन्हे गुरु भवानी दीन के द्वार पर पहुँचा दिया। गुरु का सहारा और स्नेह उनके जैसे अनाथ बालक के लिये ईश्वर की असीम कृपा ही सिद्ध हुई। जिन दिनों कुदऊ सिंह गुरु भवानी दीन के पास पहुँचे, दीन जी वृद्ध हो चुके थे।

ब्रज की 'पोथी' के अनुसार पखावज सीखने की तीव्र इच्छा के साथ अल्प आयु में जब कुदऊ सिंह मथुरा पहुँचे तो भवानी दास के दादा केवल किशन जीवित थे। अतः वहाँ की परम्परा के अनुसार उनको गंडा केवल किशन जी से सम्मानार्थ बँधवाया गया, जबकि उनकी पूर्ण शिक्षा भवानी दास द्वारा ही हुई।

कुछ लोगों का यह आक्षेप है कि कुदऊसिंह ने गुरु की बहुत सेवा की थी, किन्तु प्रत्यक्ष रूप में उन्हे गुरु से विद्या नहीं मिली। अपने गुरु भाइयों को सुन-सुनकर के ही कुदऊ सिंह ने दक्षता प्राप्त की। हो सकता है कि गुरु की वृद्धावस्था इसका कारण रहा हो। किन्तु कुदऊ सिंह जी के निकट सम्पर्क में रह चुके व्यक्तियों ने तथा उनके शिष्य-प्रशिष्यों ने उक्त बात को असत्य बतलाया है। उनका मत है कि दीनजी ने उन्हें पुत्रवत् पाला था। पखावज के साथ-साथ उनको राग-रागिनियो का भी ज्ञान कराया था तथा परम इष्ट की सिद्धि भी उन्हें अपने गुरु के द्वारा ही प्राप्त हो सकी थी।

माँ जगदम्बा उन पर बेहद प्रसन्न थीं। माँ की परम कृपा से ही विद्या का अमूल्य भंडार तथा विश्व को रिझाने की अद्भुत कला उन्हें प्राप्त हुई थी।

वे महान् कला-स्वामी थे। उन्होने अपने जीवनकाल मे अनेक राजदरबारो में अपनी कला प्रस्तुत करके नाम कमाया था। सन् १८४७ ई० में अवध के नवाब वाजिद अली शाह के दरबार में असाधारण मृदंगवादन प्रस्तुत करके उन्होंने 'कुँवर दास' (सदा कुवर) की उपाधि प्राप्त की थी।[८] सन् १८४८ में लखनऊ दरबार में श्री जोध सिंह पखावजी को परास्त करके एक हजार मुद्रा का पुरस्कार जीता था।[९] परन्तु 'पोथी' के अनुसार यह घटना दतिया दरबार में हुई थी।

---

७. भारतीय संगीत कोश : विमला कान्त राय चौधरी—हिन्दी अनुवाद मदनलाल व्यास, पृष्ठ २३२।

८. (अ) विध्य प्रदेश की विभूति—पृष्ठ १६६।
   (ब) संगीत शास्त्रकार व कलावन्तयांचा इतिहास, पृष्ठ १६८-१७०।
   (स) हमारे संगीत-रत्न—पृष्ठ ५४४-४५।
   (द) कुदऊसिंह परम्परा में पागलदास पखावजी : उमेश माथुर, धर्मयुग २ मई १९६५।

९. (अ) विन्ध्य प्रदेश की विभूतिः मृदंग सम्राट् कुदऊसिंह।
   (ब) संगीत शास्त्रकार व कलावन्तयांचा इतिहास : ल. दा. जोशी।
   (स) मुसलमान और भारतीय संगीत : आचार्य बृहस्पति।

सन् १८४६ में कुछ समय के लिये वे रामपुर दरबार में थे। सन् १८४६-५० में उन्होंने रीवाँ नरेश विश्वनाथ सिंह के दरबार को सुशोभित किया था। कुदऊ सिंह ने रीवाँ के दरबारी कलाकार मोहम्मद शाह को पराजित किया था, ऐसा उल्लेख मिलता है। रीवाँ नरेश ने उन्हें एक विशेष परन के लिये सवा लाख रुपये इनाम में दिये थे। वह परन 'सवा लाखी परन' के नाम से प्रसिद्ध है। (श्री बाबूलाल गोस्वामी अपने लेख में बारह हजार रुपये लिखते हैं।) सवा लाखी परन आज भी अयोध्या की पोथियों में सुरक्षित है। किन्तु ताल लिपिबद्ध न होने के कारण अलभ्य हो चुकी है।[१०]

रीवा के अतिरिक्त कुदऊ सिंह महाराज कुछ समय तक बांदा के नवाब के पास तथा मध्य प्रदेश की कवर्धा रियासत के फिंगेश्वर के ज़मींदार श्री दलगंजन सिंह के पास भी रहे थे। ज़मीन्दार श्री दलगंजन सिंह के भाई को कुदऊ सिंह ने शिक्षा दी थी।[११]

कुदऊ सिंह ने अपनी पुत्री की शादी के दहेज में चौदह सौ परनें अपने दामाद श्री काशी-प्रसाद को दी थीं, जिन्हें पुत्री धन समझ कर कुदऊ सिंह महाराज ने आजीवन नहीं बजाया। सन् १८५३ में वे झांसी के नरेश, राजा गंगाधर राव के दरबार में गये थे। महाराजा गंगाधर राव और कुदऊ सिंह के बीच मधुर सम्बन्ध थे। महाराज की मृत्यु के पश्चात् महारानी लक्ष्मी बाई ने भी उनका यथेष्ट आदर सम्मान किया था। सन् १८५७ ई० के विप्लव में जब अंग्रेजों ने झांसी पर अधिकार प्राप्त कर लिया तो कुदऊ सिंह को भी बन्दी बना दिया गया, किन्तु दतिया के महाराजा भवानी सिंह ने उन्हें कैद से मुक्त कराया और अपने दरबार में सम्माननीय स्थान दिया। इस प्रसंग की स्मृति में कुदऊ सिंह अपने दाहिने पैर में एक जंजीर पहने रहते थे। पूछने पर बतलाते थे कि "भाई, मैं स्वतन्त्र कहाँ हूँ। मैं तो दतिया नरेश का आजीवन कैदी हूँ।"

इस घटना की पुष्टि करते हुये दतिया के कर्नल रघुनाथ सिंह बतलाते हैं कि जेल में पत्थर के खम्भे पर दिन-रात अभ्यास करते रहने के कारण कुदऊ सिंह के हाथों में सदैव कम्पन होता रहता था, ठीक उसी प्रकार जैसे पखावज पर हाथ चलता रहता है। कप्तान दोस्त मोहम्मद ने भी इस बात की पुष्टि की है तथा दतिया के राजा भवानी सिंह के खिदमतगार मन्नू ने भी इस घटना की प्रामाणिकता पर बल दिया है।[१२]

ब्रज की पुस्तक 'पोथी' के अनुसार कुदऊ सिंह जी अपने गुरु भवानी दास की मृत्यु के पश्चात् उनके स्थान पर दतिया दरबार में नियुक्त हुये थे। वे दतिया दरबार के रत्नों में से थे और अन्तिम समय तक उसी दरबार की शोभा बढ़ाते रहे। उनकी निर्भीकता पर प्रसन्न होकर दतिया नरेश राजा भवानी सिंह ने उन्हें 'सिंह' की उपाधि दी थी, तब से वे कुदऊ महाराज के स्थान पर कुदऊ सिंह महाराज कहलाये जाने लगे।

उपर्युक्त राजदरबार के अतिरिक्त अयोध्या, धौलपुर, समथर, ग्वालियर आदि अनेक दरबारों में उन्होंने आदर सम्मान प्राप्त किया था।[१२]

---

१०. अयोध्या के श्री पागलदास पखावजी से भेंट के आधार पर।

११. मध्य प्रदेश के संगीतज्ञ : प्यारेलाल श्रीमाल : पृष्ठ २६८।

१२. कुदऊ सिंह (लेख) : उमेश माथुर।

तथा

कुदऊ सिंह (लेख) : बाबूलाल गोस्वामी।

मृदंग वादन की शास्त्रीय परम्परा को उन्होंने स्वनिर्मित परनों से विकसित किया था। उन्होंने हजारों परनों की रचना की। उनकी बाज-बहेरी परन (जिसमें बाज पक्षी के झपटने का वृत्तान्त है), गज परन, शिव ताण्डव परन, समुद्र लहरी परन, दहेज परन, अश्व परन, मन-मोर परन, बिजली परन, घटा तोप परन, दुर्गा परन, गणेश परन, आदि अनेक परनें प्रसिद्ध हैं। कहते है कि वे जब "जल पंच देवी" स्तुति परन को देवी के सामने बजाते थे तो रखा हुआ नारियल स्वतः टूट जाता था।[१३] ऐसी मान्यता है कि उनको बाइस सौ परनें याद थी और प्रत्येक परन कम से कम २४ आवृत्तियों की होती थी।

पखावज के क्षेत्र में कुछ विद्वान् गुणी जनो की स्वनिर्मित परनें—जैसे नीलाम्बर-पीताम्बर की परन, पहाड़ सिंह-जोहार सिंह की परन, नाथ जी महाराज की परन, रतन सिंह जी महाराज की परन, विश्वनाथ सिंह जी रीवा नरेश की परन आदि अनेक परनें प्रसिद्ध हैं, किन्तु कुदऊ सिंह की परनें उनके अनोखे ढंग तथा पृथक् वादन शैली के कारण स्वतन्त्र घराने के रूप में महत्वपूर्ण स्थान रखती हुई सबसे भिन्न लगती हैं। उनकी वादन शैली मौलिक होने के कारण उनकी परम्परा एक स्वतन्त्र घराने के रूप में प्रसिद्ध हुई। उनकी रचित परनो की हस्तलिखित प्रति उनके शिष्यों के पास उपलब्ध है। यदि वह प्रकाशित हो सके तो संगीत जगत् को बहुत लाभ होगा।

दतिया दरबार के गुण-ग्राही राजा भवानी सिंह के समक्ष अपनी कला प्रस्तुत करने के हेतु बड़े-बड़े खाँ साहब, पंडित तथा उत्तम गायक, वादक एवं नर्तक आया करते थे। अतः कुदऊ सिंह को उस समय के सभी गुणी एवं प्रतिष्ठित कलाकारों की संगति करने का अवसर मिलता रहता था।

कुदऊ सिंह की हवेली आजकल अग्रवाल धर्मशाला के नाम से दतिया में है तथा उनकी समाधि दतिया उन्नाव मार्ग पर दतिया शहर से करीब डेढ़ दो किलोमीटर की दूरी पर एक वीरान स्थान पर आज भी स्थित है।

सन् १९०७ में ९५ वर्ष की अवस्था में उनका देहान्त हुआ। कुछ लोग उनकी उम्र १२० वर्ष की बतलाते है, किन्तु वह अप्रमाणित है। कुछ लोग कहते है कि गज को वश में करने के कारण ब्रह्माण्ड फट जाने से उनकी मृत्यु हुई थी, परन्तु इसका भी कोई प्रमाण प्राप्त नहीं होता।

कुदऊ सिंह जी ने जीवन पर्यन्त मुक्त मन से विद्यादान किया था तथा सैकड़ों शिष्य तैयार किये थे। विशेष उल्लेखनीय बात तो यह है कि सभी शिष्यों को वे अलग-अलग बातें सिखाते थे। निर्धन विद्यार्थियों को स्वयं धन देकर (शिष्यवृत्ति के रूप में) उनका पालन-पोषण भी करते थे। वे इतने उदार हृदय थे कि जीवन पर्यन्त जो कुछ धनराशि कमाई उदारतापूर्वक दान कर दी। राजदरबारों में उन्हे प्रतिदिन जो धन-राशि मिलती थी उसमें से अपना खर्च निकाल देने के पश्चात् वे सब कुछ अपने शिष्यों तथा निर्धनों को बांट देते थे।

उनकी विशाल शिष्य परम्परा सम्पूर्ण भारत मे फैली है। उनके प्रमुख शिष्यो में

---

१३. राजा छत्रपति सिंह (बिजना) की झासी में ली गई मुलाकात के आधार पर। श्री छत्रपति सिंह स्वयं कुदऊ सिंह घराने के मृदंगाचार्य हैं।

निम्नलिखित व्यक्तियों के नाम उल्लेखनीय हैं—पं० मदन मोहन उपाध्याय, अयोध्या के बाबा रामकुमार दास, दरभंगा के पं० भइया लाल, उनके अपने भाई राम सिंह, राजस्थान के श्री जगन्नाथ पारीक, बंगाल के श्री दिलीप चन्द्र भट्टाचार्य, पीलीभीत के शम्भू दयाल, बनारस के बड़े पर्वत सिंह (कोई उन्हे चर्खारी तो कोई उन्हे दतिया के निवासी बतलाते हैं।), टीकमगढ़ के लाला भल्ली, दतिया के खिल्ली नागर्च, पंजाब के ज्ञानी हरनाम सिंह तथा रागी फुम्मन सिंह, महाराष्ट्र के बलवन्त राव तानें, मथुरा के चिरंजी लाल (तबला वादक श्री प्रेम बल्लभ के दादा), सिंध हैदराबाद के चेतन गिरि, पं० मदन मोहन सोरोंवाले, बदलू तथा चंतरा (दोनों भाई) भतीजे श्री जानकी प्रसाद इत्यादि, । उनकी दो बेटियां थी। उनके जमाई काशी प्रसाद ने भी उनसे सीखा था। (काशी प्रसाद को कोई दौहित्र मानते हैं।) इस प्रकार उनके वंश तथा शिष्य-शिष्यों की परम्परा काफी विशाल है।

कुदऊ सिंह के छोटे भाई पं० रामसिंह की परम्परा में भी उनकी विद्या फैली। राम सिंह स्वयं उत्कृष्ट पखावजी थे। उनके पुत्र जानकी प्रसाद को कुदऊ सिंह जी ने स्वयं तालीम दी थी। जानकी प्रसाद दतिया के दरबारी कलाकार थे। उनके पुत्र गया प्रसाद भी उच्च कोटि के कलाकार हुये। वह दतिया दरबार में रहे। गया प्रसाद के पुत्र श्री अयोध्या प्रसाद पखावजी का अभी कुछ वर्षों पूर्व देहान्त हो गया है। वे अपनी परम्परा के समर्थ कलाकार और राष्ट्रीय सम्मान 'पद्म श्री' से अलंकृत हुये थे। वे एक लम्बी अवधि तक रामपुर दरबार की सेवा में रहे। उनके चार पुत्रों में सबसे छोटे पुत्र श्रीराम जी लाल शर्मा आजकल रामपुर में हैं जो अपनी परम्परा का गौरव यथावत् सम्हाले हुये हैं। कुदऊ सिंह जी का व्यक्तित्व इतना प्रभावशाली था कि उनके समकालीन सभी कलाकारों पर उनके बाज का प्रभाव एवं प्रभुत्व देखने को मिलता था। उनके अनेक शिष्यों ने कई पुस्तकों की रचना भी की है।

पंजाब घराने के उ० ताज खां, डेरेदार के पुत्र नासिर खां पखावजी के साथ कई बार उनकी प्रतिस्पर्धा हुई ऐसा उल्लेख मिलता है। कुछ लोगो की ऐसी मान्यता है कि प्रतियोगिता में परास्त हो जाने के कारण नासिर खां ने उनका शिष्यत्व स्वीकार कर लिया था, किन्तु मुझे इसमें संदेह है, क्योंकि नासिर खां के लिये अलग-अलग पुस्तकों में अनेक उल्लेख देखने को मिलते हैं, जिनके आधार पर यह प्रमाणित होता है कि वे उच्चकोटि के वादक थे और अपने पिता ताज खां डेरेदार तथा मथुरा के पं० जानकी दास के शिष्य थे।

मथुरा के पं० जानकी दास तथा कुदऊ सिंह के बीच हुई प्रतियोगिता का उल्लेख छेदा राम कृत 'पोथी' में उपलब्ध है, जिसमें जानकी दास की गुण ग्राहिता तथा कुदऊ सिंह की अद्भुत सिद्धि का वर्णन मिलता है। इसके उपरान्त अवध दरबार में बाबू जोध सिंह को हरा कर एक हजार स्वर्ण मुद्रा जीतने का उल्लेख हमें कई पुस्तकों में देखने को मिला। ब्रज मथुरा के कलाकार इस प्रतियोगिता को दतिया दरबार में हुई बतलाते हैं।

तदुपरान्त खब्बे हुसेन ढोलकिया के साथ भी कुदऊ सिंह की प्रतियोगिता की बातें सुनने को मिलती है। यद्यपि इस दृष्टांत का सम्बन्ध कुदऊ सिंह के बदले लाला भवानी दीन के साथ जुड़ा अधिक तर्कसंगत लगता है।

कुदऊ सिंह घराने की वादन विशेषता

कुदऊ सिंह जी सिद्ध पुरुष थे। वे शक्ति के परम उपासक थे। अतः उनके बाज में

गाम्भीर्य, ओज-प्रबलता एवं भक्ति भावना स्पष्ट दृष्टिगोचर होती थी। गुरु प्राप्त विद्या के उपरान्त उन्होंने स्वयं अनेक परनों की रचना करके मृदंग साहित्य को सम्वृद्ध किया। उनके बाज में परनों की क्लिष्टता, लम्बाई एवं प्रकारों का वैचित्र्य प्रचुर मात्रा में देखने को मिलती है। मृदंग का बाज पार्श्व पाणी बाज है। कुदऊ सिंह परम्परा में इसी बाज का प्राधान्य है। हाथ की शुद्धता तथा ध्वनि एवं बोलों की स्पष्टता एवं सफाई को इस घराने में सबसे अधिक महत्व दिया जाता है। लम्बे-लम्बे बोलों को सफ़ाई और स्पष्टता से बजा कर झड़ी सी लगा देना, जिसे सुन कर गुणी जन चकित रह जायें यह उनके बाज की मुख्य विशेषता है। पाँच, सात, दस, बीस, चौबीस आवृत्तियों की परनें उनके बाज में साधारण थी। उनकी मेघ परन, घटा टोप परन, इन्द्रधनुषी परन, बूंद परन आदि अनेकानेक आवृत्तियो की हैं। गठन की दृष्टि से बोलों का सौन्दर्य उनमें कूट-कूट कर भरा पड़ा है। साहित्य की दृष्टि से वे उच्चकोटि की बंदिशें हैं।

कुदऊ सिंह का बाज नाना पानसे के बाज की अपेक्षा कड़ा बाज है। उसमें धडणण, धडान, तड़न्न, द्वै, धिलांग, घुमकिट, क्धित, धेत्ता, द्वेत्ता, तक्का, थूंगा, भुंगा इत्यादि जोरदार बोलों का प्रयोग देखने को मिलता है। अनुमान है कि शक्ति स्वरूपा माँ जगदम्बा के परम भक्त होने के कारण उन्हे ऐसा ओजपूर्ण एवं गम्भीर बाज प्रिय रहा होगा।

२७ धा की बिजली कड़क चक्करदार परन, ताल धमार

तडकत तडतड़ धित्ता किटतक तकधुम किटतक धिलांग दिगतक तक्रिटधि किटतक

धिड़न्न किटतक तकधुम किटतक धाधि किटतक ताधा तड़तड़ तूना किटतक तकधुम

किटतक गदिगन धाधा धा, किटतक तकधुम किटतक गदिगन धाधा धा, किटतक

तकधुम किटतक गदिगन धाधा धा, ऽ तीन बार।

अध्याय ८

नाना पानसे घराना

कुदऊ सिंह ने महाराज अपनी कला साधना, वादन वैशिष्ट्य, प्रभावशाली व्यक्तित्व और विशाल परम्परा के द्वारा पखावज के क्षेत्र में ऐसा प्रभुत्व जमा लिया था कि दूसरे सौ साल पर्यन्त पखावज के क्षेत्र में किसी दूसरे घराने की उत्पत्ति की कल्पना भी असम्भव सी प्रतीत होती थी। परन्तु उनके जीवन काल में ही एक अलौकिक प्रतिभा का कला की क्षितिज पर उदय हो चुका था, जिसके चौमुखी व्यक्तित्व ने आगे चल कर कला संसार को परम उज्ज्वलित किया तथा एक नवीन घराने की भेंट से उसे नवीन ज्योति दी। उस कला पुंज का नाम था 'नाना पानसे'।

तत्कालीन विद्वानों के मतानुसार उत्तर से लेकर दक्षिण तक नाना पानसे जैसा ताल मर्मज्ञ, मधुर वादक एवं ताल गणितज्ञ कोई दूसरा नहीं था। नाना पानसे को ताल शास्त्र का नायक कहा जाता था। कुदऊ सिंह जी के कारण उत्तर भारत में तो पखावज की प्रसिद्धि विपुल मात्रा में थी ही परन्तु महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश तथा दक्षिण भारत में कुछ प्रदेशों में पखावज के प्रचार एवं प्रसार का मुख्य श्रेय नाना पानसे को ही है।

कुदऊ सिंह महाराज के समकालीन बाबू जोध सिंह नामक एक उत्कृष्ट एवं सन्त प्रकृति के मृदंगाचार्य हो गये हैं। वे ही नाना पानसे के गुरु थे। नाना जैसा प्रतिभाशाली शिष्य उत्पन्न करके उन्होंने संगीत जगत् को जो देन दी है, वह सचमुच अद्वितीय थी।

बाबू जोध सिंह के गुरु के विषय में दो मत प्रचलित हैं। एक मत के अनुसार वे लाला भवानी दीन के शिष्य एवं कुदऊ सिंह के गुरु भाई थे[1]। दूसरे मत के अनुसार उनका सम्बन्ध लाला केवल किशन की परम्परा से है। प० छेदाराम कृत 'पोथी' में बाबू जोध सिंह को भवानी दास का पौत्र और टीका राम का पुत्र बतलाया है। जो भी हो किन्तु बाबू जोध सिंह एक उत्कृष्ट पखावजी थे तथा लाला भवानी दीन अथवा भवानी दास की परम्परा से ही सम्बन्धित थे। दोनों मतों के लोगों ने उनका सम्बन्ध भवानी दीन या भवानी दास से जोड़ा ही है।

कहा जाता है कि बाबू जोध सिंह प्रदर्शन और प्रसिद्धि से दूर रह कर अपनी एकान्त साधना में निमग्न रहा करते थे तथा भक्ति भाव से नित्य वीणापाणि देवी सरस्वती के चरणों में अपना मृदंग सुनाया करते थे। यद्यपि ऐसा उल्लेख मिलता है कि सन् १८४८ ई० में लखनऊ के वाजिद अली शाह के दरबार में कुदऊ सिंह के साथ बाबूजी की प्रतियोगिता हुई थी,

---

१. श्री पागल दास (अयोध्या) एवं डॉ० रमाबल्लभ (बरेली) तथा कुदऊ सिंह घराने के कुछ विद्वानों ने बाबू जोध सिंह को लाला भवानीदीन का शिष्य तथा कुदऊ सिंह का गुरु बतलाया है।
पानसे घराने के स्वर्गीय सखा राम पखावजी (लखनऊ) भी अपने दादगुरु बाबूजी को लाला भवानी दीन का शिष्य बतलाते थे।

जिसमें विजय प्राप्त कर कुदऊ सिंह ने एक हजार मुद्रा का पुरस्कार जीता था।[२] तथापि यह सिद्ध होता है कि बाबू जोध सिंह कुदऊ सिंह के समकालीन तथा श्रेष्ठ विद्वान् थे। स्वयं कुदऊ सिंह ने भी इस ऐतिहासिक प्रतियोगिता को जीतने के पश्चात् भरे दरबार में बाबू जी की विद्वत्ता की प्रशंसा करके उनका आदर किया था, ऐसा उल्लेख छेदा राम कृत 'पोथी' में उपलब्ध है। परन्तु उनके अनुसार यह प्रतियोगिता दतिया दरबार में हुई थी। कहते हैं कि कुदऊ सिंह ने अपनी सिद्धि के बल पर मृदंग को हवा में उछाल कर ऊपर 'धा' बजने के कारण प्रतियोगिता जीती थी, यूं विद्वत्ता और ज्ञान में दोनों बराबर ही थे। सम्भव है इस सार्वजनिक पराजय के कारण बाबू जोध सिंह को वैराग्य उत्पन्न हो गया हो और इस क्षेत्र से संन्यास लेकर उन्होंने केवल एकान्त साधना में निमग्न रहना ही अच्छा समझा हो। ऐसे साधु प्रकृति के साधक के चरणों में बैठ कर विद्या ग्रहण करने का सौभाग्य नाना पानसे को मिला था। उनके अतिरिक्त बाबूजी के दूसरे शिष्यों मे विन्ध्य प्रदेश के चरखेर स्टेट के एक सूरदास तथा मथुरा के जट्टाराम की परम्परा के वशज प० कुन्दन राम का नाम लिया जाता है। पं० कुन्दन राम के पुत्र गंगा राम तथा उनके शिष्य मक्खन लाल (मथुरा) और मन्नु जी (काशी) ने इस क्षेत्र में काफी कीर्ति अर्जित की। मक्खन लाल और मन्नु जी कुदऊ सिंह तथा नाना पानसे दोनों परम्पराओं से सम्बन्धित थे।

दक्षिण (महाराष्ट्र) के उत्साही होनहार बालक नाना पानसे में बचपन से ही शुद्ध संगीत के सस्कार विद्यमान थे। नाना का जन्म महाराष्ट्र के वाई के पास ववधन में हुआ था। बल्यावस्था में ही पिता से पखावज सीखकर वे मन्दिरों में भजन कीर्तन की सुन्दर संगति किया करते थे। पिता के उपरान्त नाना पानसे को पुणे के दरबारी कलाकार मन्याबा जी कोडीतकर से भी सीखने का सौभाग्य मिला। पानसे जी के बाज में जो सारणी परनें (धारा परण) सुनने को मिलती है, वह कोडीतकर घराने का ही प्रभाव है। तत्पश्चात् उन्हे वाई के चौण्डे बुवा तथा मार्तण्ड बुआ से भी शिक्षा ग्रहण करने का अवसर मि[illegible]।

सौभाग्य से किशोरावस्था में नाना पानसे को अपने पिता के साथ काशी जाने का अवसर मिला। काशी के मन्दिरों में भजन कीर्तन के साथ उनकी मृदंग संगति सुनकर वहाँ के लोग मुग्ध हो गये थे।

उन दिनों काशी नगरी में बाबू जोध सिंह रहा करते थे। लोगो के मुख से उस महान् सन्त की अपार विद्या का वर्णन सुनकर नाना अपने को रोक न सके और एक दिन उनसे मिलने उनके घर पहुँच गए। उस समय नित्य नियमानुसार बाबूजी लय में लीन होकर माँ भगवती के चरणो मे अपनी साधना का अर्घ्य अर्पण कर रहे थे। इस भक्त कलाविद् का अनोखा वादन सुनकर नाना दंग रह गये। वे आत्म विभोर होकर विद्या प्राप्ति की आकांक्षा से उनके चरणों पर गिर पड़े। गुरु ने शिष्य की भक्ति और प्रतिभा को पहचान लिया और इस प्रकार नाना की परम्परागत शिक्षा प्रारम्भ हुई। गुरु चरणों में बारह वर्षों तक विद्या ग्रहण करके तथा पखावज

---

२. विन्ध्य प्रदेश की विभूति मृदंग सम्राट् कुदऊ सिंह : लेख—बाबू लाल गोस्वामी।
मुसलमान और भारतीय संगीत : आचार्य बृहस्पति।
तथा
संगीत शास्त्रकार व कलावन्त यां चां इतिहास (मराठी) पृष्ठ १६८-१७०।

वादन में पूर्ण दक्षता प्राप्त करके नाना पानसे काशी से इन्दौर आये ।

श्री गोविन्दराव बुरहानपुरकर ने एक स्थान पर नाना पानसे के गुरुओं में प्रयाग (उत्तर प्रदेश) के माधव स्वामी का भी निम्न प्रकार से उल्लेख किया है—

"वाई में पलने के बाद तथा पिता से शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् नाना पानसे ने पुणे के मन्यावा कोडीतकर तथा चौण्डे बुवा—मार्तण्ड बुआ से भी शिक्षा ग्रहण की । बाद में वे बाबू जोध सिंह के पास काशी चले गये । वहाँ बारह साल अभ्यास करने के बाद बाबू जोधसिंह जी ने उनको प्रयाग के परम सन्त योगीराज माधव स्वामी के पास भेज दिया था । योगीराज माधव स्वामी उच्चकोटि के मृदंगाचार्य थे । उनके शिष्यत्व में नानाजी बारह वर्ष रहे । अन्त में शिक्षण पूर्ण करने के बाद माधव स्वामी को नाना पानसे ने अपनी कीमती पुस्तक, अपना मृदंग तथा आशीर्वाद देकर स्वयं जल समाधि ले ली । गुरु की जल समाधि के बाद नाना प्रयाग में नहीं रुके । वहाँ से वे इन्दौर आये और उन्हें इन्दौर के राज दरबार में आश्रय प्राप्त हुआ ।"[४]
यद्यपि नाना जी के शिष्यों में गुरु माधव स्वामी के लिए काफी मतभेद है तथापि इन्दौर की श्रीमती आशालता बोकिल ने अपने एक लेख में इस विधान का समर्थन किया है ।

जैसे कुदऊ सिंह महाराज के लिए अनेक किंवदन्तियाँ प्रसिद्ध हैं वैसे ही नाना पानसे के लिये भी अनेक आख्यायिकाएँ सुनने को मिलती हैं । कहा जाता है कि नाना पानसे का असली नाम नारायण थोरपे था । नाना बचपन में, पानसे नाम के वाई के एक सुप्रसिद्ध कीर्तनकार के साथ संगति किया करते थे । उनकी संगति इतनी सुन्दर हुआ करती थी कि लोग विशेषतः उनका पखावज सुनने के लिए कीर्तन में आया करते थे । तब से लोगों को "पानसे का पखावज सुनने जा रहे हैं" ऐसा बोलने की एक आदत सी पड़ गई थी । अतः उनका नाम थोरपे से पानसे पड़ गया । इस कथन की सत्यता को खोजने पर इनके शिष्य परिवार के एक सदस्य ने इस पर शंका व्यक्त की है । एक मत यह भी प्राप्त होता है कि उनके पांचसौ शिष्य थे । मराठी भाषा में पाँच सौ को पानसे कहा जाता है, अतः वे पानसे कहलाये ।

इन्दौर में राजाश्रय प्राप्त होने के बाद पानसे जी ने अपनी प्रज्ञा, प्रतिभा एवं मौलिक सृजन शक्ति के अनुसार गुरुमुखी विद्या में अनेक परिवर्तन किये । उन्होंने ग्रन्थों का अध्ययन किया, जिससे उनको नवीन दृष्टि मिली । इस अध्ययन के आधार पर उन्होंने गणित शास्त्र की दृष्टि से परनों का नवीनीकरण किया । नवीन ठेकों का आविष्कार किया । अनेक तालों में नवीन बंदिशों की रचनायें की तथा शिक्षा को सरल बनाने के हेतु मात्रा-बद्ध पद्धति का निर्माण करके उँगलियों पर गिनने की रीति को उन्होंने शास्त्राधार दिया । भारतीय ताल विद्या में उनकी यह अत्यन्त महत्वपूर्ण देन है ।

नाना पानसे जी बड़े ही कोमल, सरल, विनम्र, विशाल हृदयी एवं अत्यन्त निराभिमानी व्यक्ति थे । अपने जीवन में उन्होंने कभी किसी कलाकार का अपमान नहीं किया । वे हर छोटे-बड़े कलाकार की इज्जत करते थे तथा उनकी कला का यथोचित सम्मान किया करते थे । कदाचित् यही कारण होगा कि किसी कलाकार के साथ उनकी कोई प्रतियोगिता हुई थी या किसी कलाकार को उन्होंने हराया था, ऐसा कोई उल्लेख या किंवदन्ती सुनने को नहीं मिलती । कहते हैं कि ऐसा ताल पारंगत विनयी व्यक्ति सदियों में पैदा होते हैं ।

---

४. भारतीय ताल मंजरी—पं० गोविन्दराव बुरहानपुरकर

इन्दौर नरेश तुकोजी राव होल्कर के साथ नाना पानसे का अत्यन्त स्नेहपूर्ण सम्बन्ध था। तुकोजी राव उन्हें बहुत चाहते थे। एक बार ग्वालियर नरेश जियाजी राव इन्दौर पधारे। कला-मर्मज्ञ जियाजीराव ने इन्दौर दरबार में जब नाना पानसे का पखावज वादन सुना तो वे मन्त्र-मुग्ध से रह गये। उन्होंने इन्दौर नरेश से नाना पानसे की मांग की। तुकोजी राव अपने मित्र नरेश को अप्रसन्न नहीं करना चाहते थे, साथ ही नाना पानसे को भेज देना भी उनके लिये कठिन था। अतः उन्होने नाना पानसे पर इसका निर्णय छोड़ दिया। यद्यपि ग्वालियर नरेश के पास वेतन की दृष्टि से अच्छा खासा आर्थिक प्रलोभन था तथापि पानसे जी ने इन्दौर छोड़ने में अपनी असमर्थता प्रगट की और कम वेतन में ही वहाँ रहना उचित समझा। इस तरह नाना पानसे जी जीवन के अन्त तक इन्दौर में ही रहे। इन्दौर के कृष्णपुरा में, जहाँ वे रहा करते थे उनके नाम से आज भी पानसे गली है।

अद्वितीय कलाकार होने के साथ-साथ पानसे जी एक उच्चकोटि के शिक्षक भी थे। मुक्त मन तथा विशाल हृदय से उन्होंने सैकड़ों शिष्यों को शिक्षा दी थी। कहते हैं कि उनके पाँच सौ शिष्य थे। सम्भव है यह संख्या अतिशयोक्तिपूर्ण हो, परन्तु यह सत्य है कि उत्तर भारत के बाद महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश तथा दक्षिण भारत में पखावज का जो प्रचार और प्रसार हुआ है, उसके पीछे उनका तथा उनकी शिष्य परम्परा का बहुत बडा योगदान रहा है।

उनकी शिष्य परम्परा बड़ी विशाल है, परन्तु उनके शिष्यो में उनके सुपुत्र बलवन्तरॉव पानसे, नाती शकर भैया पानसे (पूणे), पं० सखाराम बुआ आगले, (इन्दौर) पं० वामन राव चद-वडकर (हैदराबाद), पं० बलवन्त राव वैद्य (जमखड़ी) पं० शंकरराव अलकुटकर (बम्बई), महा-राजा भाऊ साहब (सतारा) पं० गोविन्द राव राजवैद्य (इन्दौर), पं० बलवन्त राव बाटवे आदि के नाम लिये जाते हैं। उनके प्रशिष्यों में पं० अम्बादास पन्त आगले (इन्दौर), पं० गोविन्दराव बुरहानपुरकर (बुरहानपुर), पं गुरुदेव पटवर्धन, पं० बाबू राव गोखले (बम्बई), राजवैद्य बन्धु चन्द्रकान्त, विरेन्द्र कुमार, केशव राव तथा शिव नारायण (इन्दौर), पं० सखा राम मृदंगाचार्य (लखनऊ), पं० बलीराम पंत पाण्डे (नागपुर), श्री नारायण राव कोली (बम्बई), श्री शकर भैया तथा चुन्नी लाल पवार (इन्दौर), रंगनाथ राव देगलूरकर (महाराष्ट्र), मार्तंग बुवा (हैदरा-बाद) तथा आधुनिक पीढी में श्री कृष्ण दास बनात वाला (बुरहानपुर), कोलवाजी पिपंलधर (नागपुर), अर्जुन सेजवाल (बम्बई,) विनायक राव घायरेकर (पेन), गोस्वामी कल्याण राम गाकुलोत्सव तथा देवकी नन्दन महाराज (नाथद्वारा) इत्यादि कलाकारों के नाम उल्लेखनीय हैं।

पखावज के साथ-साथ नाना पानसे को तबला वादन तथा कत्थक नृत्य की कला भी हस्तगत थी। पखावज के आधार पर तबले में अनेक बन्दिशों की रचना करके उन्होंने एक नवीन बाज का आविष्कार किया था, जो नाना पानसे के तबला बजाने के नाम से आज भी महाराष्ट्र में प्रसिद्ध है। आपने तबला वादन एवं नृत्य में भी अनेक शिष्य तैयार किये।

नाना पानसे ने अपने सुपुत्र बलवन्त राव पानसे को उत्कृष्ट कलाकार तैयार किया, किन्तु दुर्भाग्य से वे युवावस्था में ही चल बसे। नाना पानसे पुत्र शोक से व्याकुल हो उठे। पुत्र निधन के आघात से वे अत्यन्त दुःखी एवं अस्वस्थ रहने लगे और उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में संसार त्याग कर चल बसे। खेद है कि हमें उनकी मृत्यु तिथि प्राप्त नहीं हो सकी।

नाना पानसे के अनेक शिष्यों ने तबला पखावज पर पुस्तकें लिखीं, जिनमें से मेरिस

म्यूज़िक कालेज (वर्तमान नाम भातखंडे संगीत महाविद्यालय) लखनऊके प्राध्यार्पक स्व० पं० सखा राम मृदंगाचार्य की मृदंग तबला शिक्षा तथा सुप्रसिद्ध मृदंगकेसरी पं० गोविन्द राव बुरहनपुरकर की 'मृदंग तबला वादन सुबोध' (तीन भाग) तथा 'भारतीय ताल मंजरी' प्रमुख हैं।

पानसे घराने की वादन विशेषता

नाना पानसे जी अत्यन्त निराभिमानी एवं कोमल हृदयी व्यक्ति थे। वे छोटे-बड़े सभी कलाकारों का हृदय से आदर किया करते थे। अतः कलाकारों के सम्मान की रक्षा हेतु उन्होने 'सुदर्शन' नामक एक नवीन ठेके का निर्माण किया था। किसी कलाकार की क्लिष्ट गायकी मे, तबलिये को यदि सम या ताल समझ में न आये तो अपमान से बचने के लिये उन दिनो 'सुदर्शन' ठेका तबलिये के लिये अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होता था।

उनका बाज सरल एव मुलायम था। अतिशय लम्बी-लम्बी परनें, अत्यन्त कठिन बोलों का प्रयोग उनके बाज में नही था। कुदऊ सिंह घराने के घड़ान्त, तडान्त, धिलांग आदि क्लिष्ट शब्दो के स्थान पर धुमकिट, किटतक, धडनग, तगन, गदिगन, धिरधिरकिटतक, तक तक, तिरकिट तक आदि सरल शब्दों के प्रयोग उनकी शैली में देखने को मिलते हैं। वैसे तो बोल गठन मे प्रत्येक शब्दो का समावेश उनके वहाँ भी देखने को मिलता है, किन्तु दौड़ने वाले शब्दो को उनकी शैली में विशेष महत्व दिया जाता है। उनके रेले सरल होते हुये भी मधुरता की दृष्टि से बहुत खूब-सूरत हैं और बिना किसी कष्ट के द्रुत लय में भागते हैं। कुदऊ सिंह का बाज गम्भीर, ओजपूर्ण और जोशीला बाज था जब कि पानसे जी की का बाज मुलायम, मधुर एवं सरल बाज था।

पानसे घराने की विशेषता 'ताल का बंध' माना जाता है। बोलों को प्रथम हाथ से ताल देकर लय में साधा जाता है। जब तक बोल लय में न बैठे शिष्य साज को छू नहीं सकता। गणित शास्त्र का स्थान उनकी परनों में अग्रगण्य है। उनके बाज में हिसाब की बातें ऐसी सुन्दर रीति से सजी रहती हैं कि वादक की विद्वता से लोग मंत्र-मुग्ध हुए बिना नहीं रह सकते। उनकी बन्दिशों में तीन-तीन मात्राओं के हिसाब या तीन-तीन शब्दों के खण्ड विशेषतः देखने को मिलते हैं। आज देश मे जो इने-गिने पखावज वादक बचे हैं उनमें कुदऊ सिंह और नाना पानसे घरानों का योगदान ही अधिकांश दिखलाई देता है।

नाना पानसे की एक और विशेषता यह थी कि वे जितने अच्छे पखावज वादक थे उतने ही गुणी तबला वादक और नृत्यकार भी थे। युग की पुकार सुन कर उन्होंने पखावज के साथ तबले पर भी अपनी दृष्टि स्थिर की थी। पखावज की बोलों के आधार पर घटी को प्राधान्य देकर उन्होंने अपने एक विशिष्ट तबला बाज का आविष्कार किया था जो आज भी दिल्ली, अजराड़ा, फरुखाबाद, लखनऊ, बनारस एवं पंजाब जैसे सर्वमान्य प्रचलित तबले के घरानों के बाजों से अलग है। महाराष्ट्र में ऐसे बहुत से कलाकार हैं जो नाना पानसे घराने का तबला बजाते हैं। हैदराबाद दरबार के प्रसिद्ध तबला-वादक पं० वामन राव चाँदवडकर उन्हीं के शिष्यों में से एक थे। पं० वामन राव चाँदवडकर को नाना पानसे जी ने मुख्यतः तबला ही सिखाया था।

यहाँ पर नाना पानसे जी की एक छोटी सी स्वरचित पखावज परण तथा तबले की एक रचना उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत है। पखावज की परण, उनके इन्दौर निवासी शिष्य स्व०

गोविन्द भाऊ राजवैद्य के सुपुत्रों से प्राप्त हुई तथा तबले की रचना इन्दौर के ही श्री शरद खरगोनकर जी से मिली।

पखावज की परण-ताल चौताल

धात्रकधि किट, तिरकिट कतगिन धागे तिट धिट धिट तक धुम कता गदिगन नग तिट

किट तक गदिगन धातधा, किट तक गदि गन धा, किटतकगदिगन | धा।
×

तबले की परन—ताल त्रिताल

धाऽतिर किटतक ताऽतिर किटतक धाऽतिर किटतक ताऽतिरकिट तक धाऽन धिकिट

धात्रक धिकिट धाऽनधि किट तकता धा त्रक धि किट, तकता धिरधिर किटतक

ताऽतिरकिट तक तिक्राऽन ऽति ऽधिरधिर किटतक तिरकिट धा, धिरधिर किटतक

ताऽतिर किटतक तिक्राऽन ऽति ऽधिरधिर किट तक तिरकिट धा, धिरधिर किटतक

ताऽतिर किटतक तिक्राऽन ऽति ऽधिरधिर किट तक तिरकिट। धा
×

□□

अध्याय ६

वैष्णव अथवा नाथद्वारा (मेवाड़) का घराना एवं कुछ परम्पराएँ

पखावज की कला विशेषतः दो स्थानो में पल्लवित हुई—एक राजाश्रयो में तथा दूसरे देवाश्रयों में। राजाओ की भाँति मन्दिरो मे भी पखावज के कलाकारों को सदैव संरक्षण मिला है। भारत के अनेक सुप्रसिद्ध पखावजी वर्षों पर्यन्त मन्दिरों के सेवक रहे है तथा मन्दिरो के देवी-देवताओं एव सगीत-प्रेमी भक्तों के सामने अपनी कला का प्रदर्शन करते रहे हैं।

वैष्णव सम्प्रदाय में संगीत को बहुत महत्व दिया गया है। अतः नाथद्वारा के भगवान् श्रीनाथ जी के धाम के तीन चार सेवक परिवारों में एवं गद्दीनशीन पुजारी तथा महन्तों की परम्पराओं में पखावज की विद्या पीढ़ी दर पीढी चली आ रही है। उन परम्पराओं का क्रमशः अवलोकन करते हुये सर्व प्रथम हम पं० रूप रामजी की परम्परा के इतिहास को देखेंगे, जो मूलतः जयपुर से सम्बन्धित थे।

नाथद्वारा के पं० रूप रामजी का घराना

जयपुर की पखावज परम्परा का इतिहास सदियो पुराना है। उसके कलाकारों की पीढ़ियों का विस्तार कम से कम ढाई तीन सौ वर्षो की लम्बी अवधि को पार करता हुआ दिखाई देता है। नाथद्वारा के पं० घनश्याम दास कृत 'मृदग सागर' में इस परम्परा का जो इतिहास उपलब्ध है, उससे यह ज्ञात होता है कि दादा जी तुलसीदास इसके आद्य पुरुष थे। राजस्थान के प्राचीन नगर आमेर मे यह परम्परा प्रारम्भ हुई, जयपुर मे विकसित हुई तथा पिछली दो सदियों से नाथद्वारा के श्रीनाथ जी के मन्दिर में विस्तृत एवं बहुश्रुत हुई। यही कारण है कि जयपुर परम्परा आज नाथद्वारा की परम्परा के नाम से ही प्रसिद्ध है।

लगभग पौने तीन सौ वर्ष पूर्व आमेर में पं० तुलसीदास जी के द्वारा इस जयपुर परम्परा की नीव पड़ी, जो उनके पौत्र हालु जी के समय में विशेष रूप से विकसित हुई। वे अपने समय के अच्छे पखावज वादक थे। उनके नाम से आमेर तथा जयपुर में हालुका की पोल नामक मोहल्ले थे, जो आमेर में तो खण्डहर हो चुका है, किन्तु जयपुर नगर में हालुका मोहल्ला आज भी इन कलाकारो की प्रसिद्धि एवं महत्व को सिद्ध करता हुआ स्थित है। उनकी इस जागीर में उनके कुछ वशज आज भी रह रहे हैं। गाने-बजाने वाले कलाकारों के मोहल्ले के नाम से यह हालुका मोहल्ला आज भी जयपुर में प्रसिद्ध है।

पं० तुलसी दास जी के पुत्र, पौत्र एवं प्रपौत्रों में सर्व श्री हर भगत, छबील दास, फकीर दास, हालुजी, छाजुजी, पोखार दास, देवा दास, विष्णु दास, चिम्ना जी, मान जी आदि एक से एक बढ़ कर कलाकार हुये। किन्तु उनकी पाँचवी पीढ़ी के प्रपौत्र पं० रूप राम जी से इस परम्परा में एक नवीन मोड़ आ गया। उनके पश्चात् यह परम्परा जयपुर परम्परा के उपरान्त नाथद्वारा की पखावज परम्परा के नाम से भी सविशेष प्रचलित हुई।

रूप राम जी के पूर्वजों का विस्तृत इतिहास हमें उपलब्ध नहीं हो सका। केवल उनके नाम ही लिखे मिलते हैं, जो इस परम्परा के वयोवृद्ध वंशज प० पुरुषोत्तम दास जी के पास संचित है। रूप राम जी के बाद का क्रमानुसार वर्णन हमें 'मृदंग सागर' में मिलता है जो घन श्याम दास जी की कृति है। पुरुषोत्तम दास जी की व्यक्तिगत भेंट के अवसर पर बहुत सी ऐसी गुप्त बातें हमें प्राप्त हो सकी हैं, जो इस परम्परा की विशेषताओं पर प्रकाश डालती हैं तथा उसे दूसरे घरानों से पृथक् करती हैं।

आमेर निवासी रूप राम जी (जन्म संवत् १७९१ अर्थात् १७३५ ई०) जयपुर से जोधपुर आ गये और वहां के दरबार में नियुक्त हो गये। कहते है ताण्डव नृत्य एवं रास-लीला की सैकड़ों परनें उन्हें कंठस्थ थीं, जिन्हें वे बड़ी खूबी के साथ बजाते थे। संवत् १८५९ में (संभवतः सन् १८०३ ई०) वयोवृद्ध रूप रामजी तथा उनके युवा पुत्र वल्लभदास जी नाथ द्वारा के श्री १०८ बड़े गिरधारी जी महाराज की आज्ञा से नाथद्वारा आकर ठाकुर जी की सेवा में लग गये। तब से आज तक उनके घराने की परम्परा नाथद्वारा की मृदंग परम्परा के नाम से ही देश भर में प्रसिद्ध है।

उन दिनों जोधपुर दरबार में अकबरयुगीन लाला भगवान दास की परम्परा के उत्तरा-धिकारी उत्कृष्ट पखावज वादक पहाड़ सिंह जी भी दरबारी कलाकार के पद पर विद्यमान थे। यद्यपि रूप रामजी तथा पहाड़ सिंह जी समकक्ष थे, तथापि रूप रामजी अपने कलाकार मित्र पहाड़ सिंह जी की कला के बडे प्रशंसक थे तथा उनका बड़ा आदर सम्मान किया करते थे। यही कारण है कि रूप रामजी के पुत्र बल्लभ दास जी की शिक्षा-दीक्षा विशेष रूप से पहाड़ सिंह जी के पास सम्पन्न हुई।

बल्लभ दास जी का जन्म सम्वत् १८२६ में जोधपुर में हुआ था। बचपन में बल्लभ दास जी ने अपने पिता रूपराम जी से सीखना प्रारम्भ किया था, किन्तु उनकी दीर्घ तालीम श्री पहाड सिंह के पास पूर्ण हुई। उन दिनों विद्या प्राप्त करना सरल न था। कहते हैं पहाड़ सिंह जी सिखाने मे बडे कृपण थे। वे अपने पुत्र जौहार सिंह के सिवा किसी को भी उदारता से विद्या नही देते थे। किन्तु वल्लभ दास जी बड़े बुद्धिमान व्यक्ति थे। उन्होंने गुरु पहाड़ सिंह की बहुत सेवा सुश्रूषा करके उन्हें राजी कर लिया था। वल्लभदास पहाड़ सिंह जी के पुत्र जौहार सिंह के घनिष्ठ मित्र थे। अतः पिता पुत्र से रिश्ता रखकर उन्होने विद्या प्राप्त कर ली थी। सम्वत् १८७७ में वल्लभ दास जी ने अपने गुरु पहाड़ सिंह जी को भी नाथद्वारा बुला लिया।

बल्लभ दास जी के तीन पुत्र हुये। सर्वश्री चतुर्भुज, शंकर लाल तथा खेमलाल। चतुर्भुज जी उदयपुर में रहते थे। शंकरलाल तथा खेमलाल जी का जन्म क्रमशः सम्वत् १८८६ और १८८९ में नाथद्वारा में हुआ था। वे दोनों भाई मृदंग वादन में अत्यन्त प्रवीण थे तथा मात्राओ के भेद और तालों के विषय में गहरी जानकारी रखते थे। संम्वत् १८०६ में वल्लभ दास जी का देहान्त हो गया। तब तक उन्होने अपने दोनों पुत्रों को जी खोल कर यह विद्या सिखा दी थी। खेमलाल ने अपने बड़े भाई शंकरलाल जी से भी बहुत कुछ सीखा था। खेमलाल जी को बड़ी-बड़ी तालों का सग्रह करने का बहुत शौक था। तालो में मात्रा भेद के गणित का अभ्यास करने में वे सदैव लगे रहते थे।

सम्वत् १९११ में जामनगर के गोस्वामी श्री व्रजनाथ जी महाराज, गोस्वामी श्री द्वार-

क्षेश नाथ जी महाराज तथा सौराष्ट्र के सुप्रसिद्ध पखावजी पं० आदित्य राम जी सौराष्ट्र से नाथद्वारा आये। कहते हैं कि उन दिनों नाथद्वारा में गुणी जनों का एक मेला सा रहा करता था, जिसमें उच्चकोटि के गायक, पखावज वादक, पंडित, शास्त्राकार, एवं साधु महात्मा बड़ी सख्या में रहते थे। इन सब गुणी जनों में विद्या की चर्चा हुआ करती थी, जिनमें शंकर लाल खेमलाल और आदित्य राम के बीच हुए ताल विषयक शास्त्र सम्वाद महत्वपूर्ण थे। श्री खेमलाल जी ने इन्हीं वार्ताओं में अपने जिन मतों का समर्थन पाया उनके आधार पर 'मृदंग सागर' नामक पुस्तक की रचना में लग गये।

'मृदंग सागर' में बड़ी-बड़ी तालों के चक्र, मात्रा भेद सहित सग्रहित हैं। इनमें से बहुतों को उन्होंने प्राचीन ग्रन्थो से प्राप्त किया था और कुछ उनकी अपनी नवीन रचनाएं थी। इस पुस्तक की रचना में खेमलाल जी को अपने ज्येष्ठ पुत्र श्यामलाल जी से काफी सहयोग मिला। वे बोलते थे और उनके पुत्र उसे लिपि बद्ध किया करते थे। खेमलाल जी के दूसरे पुत्र का नाम रघुनाथ था। श्यामलाल को भी एक पुत्र था, जिसका नाम विठ्ठल था।

जिन दिनों खेमलाल जी नाथद्वारा में पुस्तक रचना मे तल्लीन थे, उनके बड़े भाई शंकरलाल जी अपनी कला प्रदर्शन के लिए राजा-महाराजाओं के दरबारों में घूमा करते थे। जयपुर, जोधपुर, बड़ौदा, उदयपुर, डूगरपुर आदि अनेक राजदरबारों में यश, धन, कीर्ति कमाकर जब वे नाथद्वारा वापस लौट रहे थे कि रास्ते में अचानक उनका शरीर रोग ग्रस्त हो गया। जैसे-तैसे वे नाथद्वारा पहुँचे। पहुँचते ही दुर्भाग्यवश उनके परिवार में एक ऐसी करुण घटना घटी कि उससे उनको गहरा धक्का लगा। सम्वत् १९३४ में उनके छोटे भाई खेमलाल जी की अचानक एवं असामयिक मृत्यु हो गई। पिता के निधन का ऐसा सदमा पहुँचा कि उनके पुत्र श्यामलाल जी का तुरन्त निधन हो गया।

शंकर लाल जी अपने अनुज खेम लाल को बहुत प्यार करते थे। वे बीमार तो थे ही, अचानक अपने प्रिय भाई एव भतीजे श्याम लाल के निधन से उनको गहरा सदमा पहुँचा, परिणाम-स्वरूप उनका चित्त भ्रमित हो गया। इस तरह 'मृदंग सागर' की रचना अधूरी रह गई।

उन दिनों शंकर लाल जी के पुत्र घनश्याम दास जी की अवस्था ६ वर्ष की थी। उनका जन्म संवत १९३६ में नाथ द्वारा में हुआ था। अत्यन्त अल्प आयु में ही घनश्याम दास जी की मृदंग शिक्षा पिता एवं चाचा के निर्देशन में प्रारम्भ हो गया था। परन्तु अचानक चाचा का निधन एवं पिता का चित भ्रम हो जाने के कारण, उस छोटे से बालक की प्रगति अवरुद्ध हो गई।

पिता जी को लेकर घनश्याम दास अनेक तीर्थ धाम घूमें। इस यात्रा के दौरान उन्हे अनेक गुणीजनों का सानिध्य प्राप्त हुआ, जिसके फलस्वरूप घनश्याम दास जी को काफी ज्ञान लाभ हुआ। सात वर्ष तक तीर्थ यात्रा करने के पश्चात् जब वे नाथद्वारा पहुँचे, तब तक उनके पिता जी की दिमागी हालत ठीक हो गयी थी। अतः शंकर लाल जी ने पुनः अपने पुत्र को शिक्षा देना प्रारम्भ कर दिया।

संवत् १९५० में शंकर लाल जी का अवसान हुआ। पिता के स्थान पर घनश्याम दास जी को श्री नाथ जी की सेवा का अवसर मिला। इस प्रकार वे ईश्वर के दरबार में नित्य अपनी

कला का प्रदर्शन करते रहें और अनेक राज दरबारों में भ्रमण कर धन, यश और कीर्ति अर्जित की।

चाचा खेमलाल जी की पुस्तक 'मृदंग सागर' अधूरी रह गई थी, इसका घनश्याम दास जी को बहुत खेद था। अतः अवसर मिलते ही उन्होंने इस कार्य को उठा लिया तथा अपने पूर्वजों के ज्ञान और विद्या के आधार पर अपने चाचा खेमलाल जी की अधूरी पुस्तक पूर्ण की। बीसवीं सदी के प्रारम्भ में इस पुस्तक का प्रकाशन हुआ, जिसमें अनेक तालों की जानकारी तथा चक्करदार परन, रेले आदि लिखे गये थे। आजकल यह पुस्तक अप्राप्य है।

पं० पुरुषोत्तम दास जी घनश्याम दास जी के अनुज तथा इस परम्परा के अन्तिम वयोवृद्ध वंशज हैं। वे देश के उच्च कोटि के पखावज वादकों में से एक माने जाते हैं। पांच वर्ष की अल्पायु में हाथ से ताल दे कर बोलो को पढ़ने से उनकी शिक्षा, उनके पिता श्री घनश्याम दास जी के द्वारा प्रारम्भ हुई। पिता जी जब मन्दिर जाते थे तो छोटे से पुरुषोत्तम दास को अपने साथ ले जाते थे और घर में अक्षरों के निकास की प्रारम्भिक तालीम देकर उनमें कला संस्कार का सिंचन करते थे।

पुरुषोत्तम दास जी जब नौ वर्ष के थे तभी दुर्भाग्य से उनके पिता का देहान्त हो गया और उस निराधार बालक के कमजोर कन्धों पर अपनी परम्परा को निभाने की गम्भीर जिम्मेदारी आ पड़ी। इस छोटे से बालक ने इस कठोर जिम्मेदारी को किस प्रकार निभाया तथा अपनी कला साधना को अविरत रखा इसकी कहानी काफी लम्बी और दर्द-भरी है। किन्तु पुरुषोत्तम दास जी इस कठिन परीक्षा में पूर्णतः सफल हुए। उनका नाम आज भारत के उत्कृर्प उत्कृष्ठ पखावजियों में गिना जाता है। यह उनकी योग्यता तथा कठिन साधना का प्रमाण है। अपने पूर्वजों के कदम पर चल कर अपने पिता के स्थान पर नाथद्वारा के मन्दिर में वे वर्षों तक सेवा में रहे। तत्पश्चात् दिल्ली के 'भारतीय कला केन्द्र' में आ गये और बाद में दिल्ली के ही 'कथक केन्द्र' में गुरू के पद पर प्रतिष्ठित हो कर आज कल अपना शेष जीवन व्यतीत कर रहे हैं। उनको कोई पुत्र नहीं है। उनके प्रमुख शिष्यों में उनके नाती प्रकाशचन्द्र, दोनों भानजे रामकृष्ण एवं श्यामलाल (नाथद्वारा), तेज प्रकाश, तुलसी, दुर्गालाल कथक, महाराज छत्रपतिसिंह (बिजना), रामलखन यादव, भागवत उपरेती, हरिकृष्ण बहेरा, तोताराम शर्मा, मुरलीधर गुरव, गौराग चौधरी, भीमसेन, मदन लाल आदि कलाकारो के नाम उल्लेखनीय हैं।

नाथद्वारा के पं० रूप राम घराने की वादन विशेषता

(१) इस घरानें की वादन शैली नाना पानसे घराने की शैली से पृथक है किन्तु कुदऊ सिंह घराने की शैली से कुछ मिलती-जुलती है।

(२) इस वादन शैली में विशेषतः तिट से अधिक किट अथवा किटी का प्रयोग होता है। धा किट तक ता किटी तका, धिन तिटकिट तकता, किटतक थुंथुं, क्रधेत्क टित धा, त किट धाधिता, आदि बोल समूहों का प्रयोग बराबर होता रहता है।

(३) बायें पर ता और दायें पर का बजाने की प्रथा भी यहां देखने को मिलती है, जो परम्परागत शैली के विपरीत जान पड़ती है।

(४) ता दि थुं ना किट तक गदि गन धा—इस प्रकार मुख्य अक्षरों द्वारा, प्रारम्भिक अभ्यास के लिये एक छोटी सी परन प्रसिद्ध है, जो इस प्रकार है।

ताल—त्रिताल

ताता ताता दिंदिं दिंदिं | थुंथुं थुंथुं नाना नाना |
× | २

किटकता गदिगन धा, किटकता | गदिगन धा, किटकता गदिगन | धा
×

प्राथमिक अक्षरों के निकास के बाद, लय पर अधिकार प्राप्त करने के लिये एक दूसरी परन विद्यार्थियों को सिखायी जाती है, जो चौताल में निबद्ध इस प्रकार है :

ता ता ता ता ता किट किट तक ता ता ता ता ता किट किट तक ता ता ता किट

किट तक ता ता ता किट किट तक ता ता किट तक ता ता किट तक ता किट तक ता

किट तक ता किट तक ता किट तक थुं थुं थुं थु थुं किट किट तक थुं थुं थुं थुं

थुं किट किट तक थु थु थुं किट किट तक थुं थु थुं किट किट तक थुं थु किट तक

थुं थुं किट तक थुं किट तक थुं किट तक थुं किट तक थुं किट तक दिं दिं दिं दिं

दिं किट किट तक दि दि दि दि दिं किट किट तक दि दि दि किट किट तक दि दिं

दिं किट किट तक दि दि किट तक दि दि किट तक दि किट तक दि किट तक दि किट

तक दि किट तक ना ना ना ना ना किट तकिट तक ना ना ना ना ना किट किट तक

ना ना ना किट किट तक ना ना ना किट किट तक ना ना किट तक ना ना किट तक

ना किट तक ना किट तक ना किट तक ना किट तक ता ता थुं थु दिं दिं ना ना

किट कता गदि गन धा ऽ ऽता ता थुं थुं दिं दिं ना ना किट कता गदि गन धा

ऽ ऽ ता ता थुं थु दिं दि ना ना किट कता गदि गन | धा
×

(५) वादन में 'धिन नक' का प्रयोग इस घराने की विशेषता है। पं० पुरुषोत्तम दास जी के अनुसार इस घराने में अन्य घरानों की अपेक्षा धिन नक का अधिक प्रयोग होता है। धिन नक का निम्न रेला, जो पं० पुरुषोत्तम दास जी से हमें प्राप्त हुआ है, वह इस परम्परा की विशेषता को प्रदर्शित करते हुये इस वादन शैली का परिचय देता है :

ताल चौताल

धाऽधिन नकधिट धिननक धिननक धाऽधिन नकधिट धिननक धिननक धिननक धिननक

जयपुर अथवा नाथद्वारा के पंडित रूपराम का घराना

तालिका संख्या - ९

तुलसी दास

- हर भगत (पु॰)
- छबी छबील दास (पु॰)
  - हालू जी (पु॰)
    - दाधू जी (पु॰)
      - मान जी (पु॰)
      - चिम्ना जी (पु॰)
        - रूप राम (पु॰)
          - चन्द्र भान (पु॰)
          - बल्लभ दास (पु॰)
            - श्री कृष्ण (पु॰)
            - राधा कृष्ण (पु॰)
            - चतुर्भुज (पु॰)
            - शंकर लाल (पु॰)
              - घनश्याम दास (पु॰)
                - पुरुषोत्तम दास (पु॰)
                  - रामचन्द्र (भान्जे)
                  - श्यामलाल (भान्जे)
                  - प्रकाशचन्द्र (नाती)
                  - तेजप्रकाश तुलसी
                  - दुर्गादास कत्थक
                  - भीमसेन
                  - रूपसिंह बिजना
                  - भगवत उप्रेती
                  - रामलखन यादव
                  - मदनलाल
                  - तोताराम शर्मा
                  - हरिकृष्ण बोहरा
                  - मुरलीधर गुरव
                  - गौरांगचौधरी
            - खेम लाल (पु॰)
              - श्याम लाल (पु॰)
              - रघुनाथ (पु॰)
          - मोती राम (पु॰)
    - पोखर दास (पु॰)
    - देवा दास (पु॰)
    - विष्णु दास (पु॰)
- फकीर दास (पु॰)
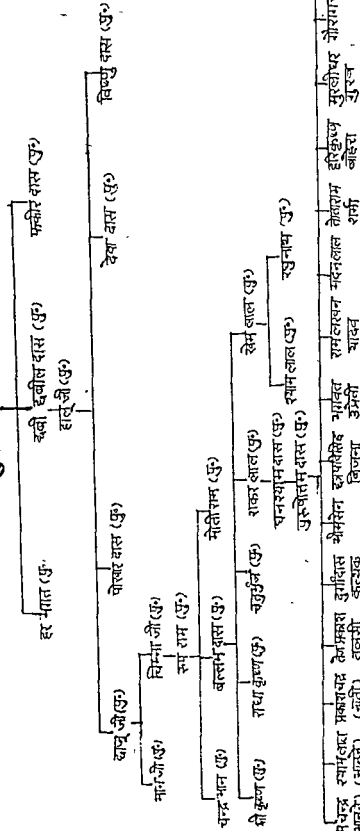
टिप्पणी :- उपरोक्त तालिका का आधार नाथ द्वारा के वयोवृद्ध मृदंगाचार्य पुरुषोत्तम दास जी तथा श्री घनश्याम दास की कृति 'मृदंग सागर' है।

नोट :- जिन नामों के साथ कोई सूचना नहीं है, उन सभी को शिष्य समझा जाए

धिननक धिननक धिटधिट धिननक धिननक धिननक धिटधिट धिननक धिननक धिननक

धिटधिट धिननक धिटधिट धिननक धिटधिन नकधिट धिननक धिटधिन नकधिट

धिननक धिननक धिननक धिटधिन नकधिट धिननक धिननक

तिहाई

धिटधिन नकधिट धिननक धिटधिन नकधिट धिननक धा, धिननक धिननक धिटधिन

नकधिट धिननक धिटधिन नकधिट धिननक धा, धिननक धिननक धिटधिन नकधिट

धिननक धिटधिन नकधिट धिननक | धा
×

इस परम्परा की उपर्युक्त जानकारी मुझे निम्न सूत्रों से प्राप्त हुई है :

(१) 'मृदंग सागर' : लेखक पं० घनश्याम दास — जीवनी अध्याय।

(२) पं० पुरुषोत्तम दास पखावजी तथा नाथद्वारा के कुछ कलाकारों की भेंट वार्ता के आधार पर।

नाथद्वारा (मेवाड़) की रणछोड़ दास की वंश परम्परा

श्री रणछोड़ दास की चौथी पीढ़ी के प्रपौत्र मूलचन्द्र जी नाथद्वारा में रहते हैं, वे अत्यन्त वृद्ध हो चुके हैं। उनके श्री मुख से इस घराने के इतिहास को सुनने का अवसर मिला है, जो कुछ इस प्रकार है :

मूलचन्द्र के प्रपितामह रणछोड़ दास जी वृन्दावन के निवासी थे तथा वहाँ से नाथद्वारा आकर श्री नाथ जी की सेवा में रत हुये थे। वे मृदंग के अतिरिक्त सितार-वादन में भी अत्यन्त दक्ष थे। उनके पुत्र देव किशन जो पिता से ही सीख कर अच्छे कलाकार सिद्ध हुए। वे आजीवन ठाकुर जी की सेवा में रहे। देव किशन के पुत्र परमानन्द अपने दादा की तरह बहुमुखी प्रतिभा के कलाकार थे। उन्हें गायन, सितार, बीन तथा मृदंग-वादन पर समानाधिकार था। वे भी श्री नाथ जी की सेवा में रहे। उनके चार पुत्र हुये। दो गायक हैं जो नाथद्वारा में ही रह रहे हैं। रतन लाल नामक एक पुत्र भिलवाड़ा चले गये और एक मूलचन्द्र जी आज भी नाथद्वारा में मृदंग वादक के रूप में प्रसिद्ध है। वे इस वयोवृद्ध अवस्था में आज भी ठाकुर जी की सेवा में निष्ठापूर्वक अर्पित हैं तथा मन्दिर द्वारा संचालित एक संगीत विद्यालय में पखावज और तबला वादन की शिक्षा दे रहे हैं।

तालिका नं० ६

नाथद्वारा की दूसरी परम्परा

रण छोड़ दास जी
|
देव किशन जी (पुत्र)
|
परमानन्द दास जी (पुत्र)
|
मूल चन्द (पुत्र) (पखावज वादक) — रतन लाल (पुत्र) (पखावज वादक) — गायक (पुत्र) — गायक (पुत्र)

नाथ द्वारा के विट्ठल दास के मन्दिर के महाधीशों की वंश परम्परा

नाथ द्वारा में विट्ठल नाथ जी के मन्दिर के मठाधीशों की वंश परम्परा में कला के संस्कार तथा गायन-वादन की शास्त्रोक्त शिक्षा चली आ रही है। श्री बल्लभ सम्प्रदायाचार्य पीठाधीश्वर गोस्वामी श्री गोविन्द दास जी महाराज को सितार तथा पखावज का अच्छा ज्ञान है। उनके सुपुत्र गोस्वामी श्री देवकी नन्दन जी महाराज पखावज के अच्छे ज्ञाता थे। उनके पुत्र गोस्वामी श्री कृष्ण राय जी महाराज पखावज तथा तंतुवादन में दक्ष थे। उनके सुपुत्र गोस्वामी श्री गिरधर लाल जी महाराज ने भी अपने पिता के संगीत संस्कार एवं ज्ञान गरिमा को वंश परम्परागत प्राप्त किया था। आज नाथ द्वारा में गोस्वामी श्री गिरधर लाल जी महाराज के पुत्र गोस्वामी श्री कल्याण राय जी महाराज गद्दी पर विराजमान हैं। उनके दो छोटे भाई गोस्वामी श्री गोकुलोत्सव जी महाराज तथा गोस्वामी श्री देवकी नन्दन जी महाराज सहित तीनों भाई पखावज वादन में अत्यन्त निपुण हैं। छोटी उम्र में इन तीनों प्रतिभावंत महाराजों ने पं० दीना नाथ कीर्तनकार, श्री चुती लाल पवार, शिव नारायण गोविन्द भाऊ राजवैद्य (इन्दोर), तथा श्री कृष्ण दास बनातवाला (बुरहानपुर) से शिक्षा प्राप्त करके अपनी वंश परम्परा के संगीत संस्कार को उज्जवल किया है। वे पानसे घराने के शिष्य हैं और उसी घराने का बाज बजाते है। पखावज के अतिरिक्त वे ध्रुपद एवं ख्याल गायकी का भी ज्ञान रखते है तथा अपनी बन्दिशो को लिपि-बद्ध करके पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया है।

तालिका नं० ७

नाथ द्वारा (मेवाड़) की तीसरी वंश परम्परा

गोस्वामी श्री गोविन्द राय जी महाराज

|

गोस्वामी श्री देवकी नन्दन जी महाराज (पुत्र)

|

गोस्वामी श्री कृष्ण राय जी महाराज (पुत्र)

|

गोस्वामी श्री गिरिधर लाल जी महाराज (पुत्र)

गोस्वामी कल्याण राय जी (पुत्र)	गोस्वामी गोकुलोत्सव जी (पुत्र)	गोस्वामी श्री देवकी नन्दन जी महाराज (पुत्र)
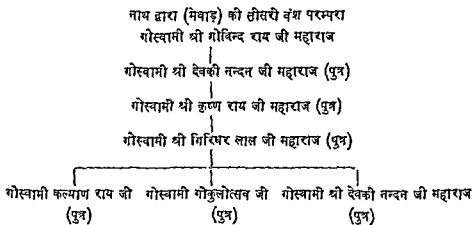
सौराष्ट्र की वैष्णव परम्परा

पोरबन्दर (सौराष्ट्र) के गोस्वामी घनश्याम लाल और उनके पुत्र गोस्वामी द्वारकेश लाल हवेली संगीतकारों के रूप में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। आज से पचास वर्ष भारत के कलाकार पोरबन्दर को कला का तीर्थ धाम मानते थे और गोस्वामी घनश्याम लालजी तथा गोस्वामी द्वारकेश लालजी का अच्छे कलाकार एवं संगीत-प्रेमी के रूप में प्रतिष्ठा थी। हवेली संगीत के उन वैष्णव कलाकारों ने आज भी ध्रुपद गायकी एवं पखावज वादन को जीवित रखने का भगीरथ प्रयास किया है। गोस्वामी द्वारकेश लालजी हारमोनियम वादन के अतिरिक्त मृदंग और तबला वादन में प्रवीण थे। उनके बड़े भाई गोस्वामी दामोदर लाल ने भी पखावज वादन में दक्षता प्राप्त किया था। आज भी पोरबन्दर में गोस्वामी द्वारकेश लाल के दो पुत्र गोस्वामी

माधवराय और गोस्वामी रसिकराय ने अपने वश की परम्परा जीवित रखी है।

दतिया के ब्रज मंडल के मंदिरों के समाजी कलाकार

दतिया के ब्रज मंडल के मन्दिरों में विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी के बाद 'समाज गायन' को प्रधानता मिलनी प्रारम्भ हो गयी थी (दतिया) के बुन्देला राजाओं ने इसे ब्रज जैसा धार्मिक केन्द्र बनाने के हेतु उसमें विशाल वैष्णव मन्दिरों का निर्माण किया तथा वृन्दावन की पूजा पद्धति के अनुसार वहाँ समाज का गठन किया।

समाजी लोग देव मन्दिरों में भक्ति प्रधान पदों को सामूहिक रूप से गाकर प्रभु भक्ति का पवित्र वातावरण उत्पन्न करते हैं। उनके गायन का प्रयोजन राजाश्रय या द्रव्योपार्जन नहीं होता। उनका गायन प्रायः ध्रुपद ही होता है। अतः समाजी वर्ग में भी अच्छे संगीतज्ञ तथा मृदंगाचार्य हुये हैं, जिनमें गत पीढ़ी के कलाकारों में कुदऊ सिंह के शिष्य खिल्ली नागार्च, गवदे दुबे, राधा गोविन्द नागार्च, गोपीनाथ गोस्वामी, मुन्नालाल नागार्च आदि तथा आधुनिक पीढ़ी के कलाकारों में राधागोविन्द नागार्च के दो पुत्र मदन मोहन तथा राधा मोहन नागार्च भगवान दास राणा, हर प्रसाद अवस्थी, किशोरी शरण मिश्र, सोनाराम भट्ट, शिया शरण भट्ट, भगवान दास भट्ट आदि प्रमुख हैं। इस प्रकार दतिया में मृदंग वादन की परम्परा में राजाश्रित कलाकारों की भाँति ही वैष्णव समाजियों का योगदान भी महत्वपूर्ण रहा है।

इस पुस्तक के पांचवें अध्याय में ब्रज की वैष्णव परम्परा की विस्तृत चर्चा की जा चुकी है, अतः उसकी पुनरावृत्ति यहाँ अनावश्यक है।

□□

अध्याय १०

बंगाल का पखावज घराना तथा कुछ परम्परायें

एक युग था जब उत्तर भारत, मध्य भारत एवं पंजाब की तरह बंगाल में भी पखावज का बोल-बाला था। मन्दिरों में कीर्तन के साथ खोल का प्रचार था तथा पखावज वादन में सिद्ध कलाकारों का बाहुल्य था। आज स्थिति भिन्न है और ढूँढने पर भी पूरे बंगाल में दस बारह पखावजी ही मिल सकेंगे।

भारत के विभाजन के पूर्व बृहद बंगाल के संगीत समाज में पखावज की निम्न तीन प्रमुख परम्परायें प्रसिद्ध थी—

(१) ब्रज-मथुरा के लाला केवलकिशन के द्वारा स्थापित परम्परा।
(२) विष्णुपुर घराने की परम्परा।
(३) ढाका की परम्परा।

इन तीनों परम्पराओं का पीढ़ी दर पीढ़ी इतिहास प्राप्त होता है। इनके उपरान्त भी बृहद बंगाल में कुछ ऐसे कलाकारो तथा उनके दो-चार पीढ़ियो के वंशजों का इतिहास मिलता है, इन तीन मुख्य परम्पराओं पर आगे विचार करेंगे, तत्पश्चात् दूसरे पखावज वादकों एवं उनके वंशजों की चर्चा करेंगे।

लाला केवलकिशन जी पखावज परम्परा

श्री रायचन्द बोराल के अनुसार बंगाल में पखावज की मुख्य परम्परा लाला केवलकिशन जी के द्वारा स्थापित हुई। बंगाल सहित देश के अनेक विद्वान् इस मत के पोषक हैं। ब्रज-मथुरा के निवासी केवलकिशन जी 'कोढ़िया' घराने के प्रमुख कलाकार थे। वे देश भर में घूमते रहे और लखनऊ एवं बंगाल में लम्बी अवधि तक रहे। कुछ लोग उन्हे लाला भवानीदीन का भाई बताते हैं, किन्तु ब्रज की हस्तलिखित 'पोथी' में कोढ़िया परम्परा के प्रतिनिधि कलाकार छेदा राम जी ने केवलशिकन जी को लाला भवानीदीन का दादा तथा गुरु माना है। बंगाल में उनसे सीख कर जो परम्परा फैली, वह बंगाल के पखावज घराने के नाम से प्रसिद्ध हुई।

लाला केवलकिशन जी से तीन प्रतिभाशाली चक्रवर्ती बन्धुओं सर्वश्री निमाई, रामचन्द्र तथा निताई ने पखावज की शिक्षा प्राप्त की। इन तीनों भाइयो के दीर्घ परिश्रम के कारण ही बंगाल में पखावज की परम्परागत कला का प्रचार हुआ। उनके पश्चात् उनके घराने में बड़े समर्थ एवं उत्कृष्ट पखावजी पैदा हुये जिन्होंने इस परम्परा को और भी समृद्ध एवं विस्तृत किया।

श्री मुरारी मोहन गुप्त अपने समय के एक नामी पखावजी हो गये हैं। उन्होंने सर्वश्री रामचन्द्र चक्रवर्ती एवं निमाई चक्रवर्ती से शिक्षा प्राप्त की। श्री गुप्त ने न केवल एक कलाकार के रूप में ख्याति अर्जित की, वरन् अनेक शिष्य तैयार करके बंगाल में इस कला का यथेष्ठ प्रचार भी किया। श्री मुरारी मोहन के प्रमुख शिष्यों में सर्वश्री दुर्लभ चन्द्र भट्टाचार्य (दुलो बाबू —आपने कुदऊ सिंह से भी सीखा था), केशव चन्द्र मित्र (आपने श्री रामचन्द्र चक्रवर्ती से

भी सीखा था), केशव चन्द्र मुकर्जी, प्रमथ गुप्त, देवेन्द्र नाथ दे (सुबोध बाबू), जगदिन्द्र नाथ राय (महाराजा नाटोर), नरेन्द्र नाथ दत्त (स्वामी विवेकानन्द), वीरेन्द्र किशोर राय चौधरी (नाटोर राज के वंशज), सत्य शरण गुप्ता, सतीश चन्द्र दत्त, लालचन्द बोराल आदि प्रमुख माने जाते हैं। ऐसा कहा जाता है कि पं० दुर्लभ चन्द्र भट्टाचार्य ने एक बार अपने घर पर एक संगीत समारोह का आयोजन किया। उसमें पखावज बजाते समय ही उनके प्राण निकल गये थे।

इस घराने के शिष्य प्रशिष्यो में श्री केशव चन्द्र मित्र के शिष्य श्री दीना नाथ हजारा तथा पं० दुर्लभ चन्द्र भट्टाचार्य के शिष्य श्री प्रताप चन्द मित्र का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। तदुपरान्त सर्व श्री नगेन्द्र नाथ मुखोपाध्याय, अरुण प्रकाश अधिकारी (केवल बाबू), राजिब लोचन दे, भूपेन्द्र कृष्ण दे, रतन लाल भट्ट, शम्भू मुकर्जी तथा शिवदास अधिकारी भी इस घराने के योग्य उत्तराधिकारियों के रूप में प्रसिद्ध हुये।

१—बंगाल की पखावज परम्परा और खब्बे हुसेन ढोलकिया

बंगाल की पखावज परम्परा पर खब्बे हुसेन ढोलकिया का काफी प्रभाव रहा। ऐसा बहुत से लोगों का मत है। अतः यहाँ पर उनके विषय में चर्चा कर लेना योग्य होगा।

एक किवदन्ती, जिसका प्रमाण छेदा राम कृत 'पोथी' में उपलब्ध है, के अनुसार लाला भवानी दास ने एक संगीत प्रतियोगिता में खब्बे हुसेन ढोलकिया को परास्त किया था। शर्त के अनुसार खब्बे हुसेन (ख्वाब हुसेन) की उँगलियाँ काट दी गईं। अपमानित होकर खब्बे हुसेन बंगाल चले गये और उन्होंने पखावज के स्थान पर ढोलक को अपना लिया। आपने इस वाद्य पर एक नवीन वादन शैली का निर्माण करके ऐसा बेमिसाल ढोलक वादन किया कि संगीत जगत् में उनका नाम 'खब्बे हुसेन ढोलकिया' से प्रसिद्ध हो गया। कहते हैं कि स्वयं भवानी दीन जी उनका हृदय से आदर करते थे और गुणीजनों के समक्ष उनकी विद्या की प्रशंसा किया करते थे। बंगाल में ढोलक और खोल के प्रचार में भी खब्बे हुसेन का उल्लेखनीय योगदान रहा। खेद है कि उनके बंगाली शिष्यों की परम्परा का लिखित इतिहास उपलब्ध नहीं है। उनके पुत्र अमीर अली भवानी दास के शिष्य हुये। उनकी कर्म-भूमि मुख्यतः पंजाब रहा। उनकी वंश एवं शिष्य परम्परा के विषय में भी हम अंधकार में हैं।

२—विष्णुपुर की पखावज परम्परा

बंगाल में विष्णुपुर एक ऐसा स्थान है जहाँ स्वर और लय का नशा सदियों से छाया हुआ है। संगीत के हर पहलू के साथ विष्णुपुर का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। चाहे ध्रुपद हो या ख्याल गायकी, पखावज हो या तबला वादन, विष्णुपुर की अपनी एक शैली है एवं प्राचीन परम्परा है जो अभी तक चली आ रही है। यद्यपि आज की परिस्थिति में ध्रुपद गायकी एवं पखावज वादन की परम्परा विलुप्त होती जा रही है और उसका स्थान ख्याल गायकी और तबला वादन लेता जा रहा है।

विष्णुपुर घराने में पखावज की परम्परा की दो मुख्य शाखायें देखने को मिलती हैं। एक बेचा राम चट्टोपाध्याय द्वारा तथा दूसरी राम प्रसन्न वन्द्योपाध्याय द्वारा स्थापित परम्परा। दोनों परम्पराओं का प्रारम्भ पखावज से हुआ है और आगे चल कर उनका रूपान्तर तबले में हो गया। हम इन दोनो के विषय में आगे चर्चा करेंगे—

एक परम्परा—लगभग १५० वर्ष पूर्व श्री वेचा राम चट्टोपाध्याय नामक एक उत्कृष्ट पखावज एवं तबला वादक विष्णुपुर में हुये। हमारे पास विष्णुपुर घराने के तबला एवं पखावज का जो इतिहास उपलब्ध है, उसका प्रारम्भ श्री चट्टोपाध्याय के पश्चात् ही प्राप्त होता है। उनके पूर्व विष्णुपुर में पखावज का प्रचार नही था, ऐसा कहना अनुचित होगा। वहाँ की ध्रुपद एवं पखावज की परम्परा तो बहुत पुरानी है, स्वयं वेचा राम जी ने पखावज की शिक्षा उसी परम्परा से प्राप्त की थी।

श्री सुबोध नन्दी कृत 'तबला कथा' में विष्णुपुर घराने की चर्चा में उल्लेख मिलता है कि श्री बेचा राम चट्टोपाध्याय तबला वादन में फर्रुखाबाद घराने के प्रवर्तक उस्ताद हाजी विलायत अली खाँ के शिष्य थे और उन्ही के प्रयास से विष्णुपुर में तबले का प्रचार हुआ। इसके पूर्व वहाँ तबला नहीं था, केवल पखावज ही बजता था।

श्री बेचा राम चट्टोपाध्याय की परम्परा में तबला तथा पखावज दोनों का प्रचार हुआ, उनके मुख्य शिष्यों में उनके भतीजे गिरीश चन्द चट्टोपाध्याय का नाम प्रमुख है। गिरीश चन्द के पुत्र नारायण चट्टोपाध्याय तथा उनके शिष्यों में सर्व श्री भैरव चक्रवर्ती, ईश्वर चन्द्र सरकार, निताई तंतु बाई, जगेन्द्र नाथ राय (नाटोर), हरि पदा करमकार आदि का नाम उल्लेखनीय है। श्री ईश्वर चन्द्र सरकार अपने समय के बहुत प्रसिद्ध कलाकार थे। श्री वेचा राम चट्टोपाध्याय के प्रशिष्यो में श्री विजन चन्द्र हजारे और श्री स्थिति राम पांजा मुख्य हैं। विष्णुपुर की इस पीढ़ी के बाद की शाखा के विषय में अधिक जानकारी प्राप्त नहीं होती।

दूसरी परम्परा—विष्णुपुर घराने के पखावज-तबला की दूसरी परम्परा श्री राम प्रसन्न वन्द्योपाध्याय द्वारा फैली है। उनको दोनो वाद्यों पर समान अधिकार प्राप्त था। श्री वन्द्योपाध्याय ने पखावज की तालीम विष्णुपुर घराने के किसी कलाकार से एवं तबले की शिक्षा लखनऊ घराने के उस्ताद मम्मन खाँ से ली थी।[1]

श्री राम प्रसन्न वन्द्योपाध्याय का शिष्य परिवार काफी बड़ा था, उसमें सर्व श्री खुदीराम दत्त, बिजन चन्द्र हजारे, नकुल चन्द्र नन्दी, नित्यानन्द गोस्वामी, पशुपति नाथ सखा तथा बृज लाल माँझी प्रमुख है। इनके प्रशिष्यों में सर्व श्री अजीत हजारे, मनोज दे, बाँके बिहारी दत्त, सुबोध नन्दी, शिव प्रसाद गोस्वामी, विपिन बिहारी दास (विपिन बाबू) सत्तार अली, कालिपाद चक्रवर्ती, भाल चन्द्र परमणिक, विश्वनाथ कर्मकार तथा सुप्रसिद्ध श्री ज्ञान प्रकाश घोष (विपिन बाबू से पखावज की शिक्षा प्राप्त की थी) आदि मुख्य हैं।

ढाका की पखावज परम्परा

ढाका में तबला पखावज का प्रचार मुख्यतः विष्णुपुर के कलाकारों द्वारा हुआ, अतः वहाँ कीपरम्परा पर विष्णुपुर परम्परा का प्रभाव है। वहाँ पखावज के प्रचार एवं उसकी परम्परा की स्थापना में स्थानीय बासक परिवार का विशेष योगदान रहा है। श्री राम कुमार बासक वहाँ पखावज परम्परा के आद्य पुरुष थे। उनके पुत्र उपेन्द्र कुमार बासक तथा परिवार के सदस्य गौर मोहन बासक इस क्षेत्र में अग्रगण्य रहे। पखावज वादन में गौर मोहन बासक का तो विशेष स्थान था। वे उच्चकोटि के कलाकार एवं योग्य गुरु थे। उनके शिष्यों में उनके वंशज शशी मोहन बासक तथा आनन्द मोहन बासक ने काफी ख्याति प्राप्त की थी। शशी मोहन पखावज

१. तबला कथा (बंगला), श्री सुबोध नन्दी "विष्णुपुर घराना"।

के साथ-साथ तबले के भी अच्छे कलाकार थे और ढाका के सुप्पन खाँ के शिष्य थे। ढाका के दूसरे अग्रगण्य कलाकार श्री प्रसन्नकुमार साहा वाणिक्य, गौरमोहन बासक के ही शिष्य थे। बासक परिवार के सदस्यों में श्री पाणिन्द्र कुमार बासक तथा श्री सतीशचन्द्र बासक व शिष्यों में सर्वश्री गगन चौधरी, भगवत साहा तथा गौड़ा के नाम प्रसिद्ध हैं।

बंगाल की अन्य परम्परायें

बंगाल की उपर्युक्त तीन महत्वपूर्ण पखावज परम्पराओं के उपरान्त कुछ अन्य परम्पराओं का इतिहास भी हमें प्राप्त होता है, जिनमें से दो वैष्णव सम्प्रदाय से सम्बन्धित हैं।

सशोधन के आधार पर कहा जा सकता है कि लाला केवलकिशन की तरह वृन्दावन से दूसरी दो वैष्णव परम्परायें भी बंगाल में फैली, जिनमें से एक श्री केशव देव तथा उनके पुत्र श्री नवद्विप चन्द्र बृजवानी के द्वारा बंगाल में पल्लवित हुई और दूसरी मुर्शिदाबाद के निवासी श्री वैष्णव चरण दत्त के द्वारा फैली।

बंगाल को वैष्णव परम्परा—एक

श्री केशव देव ने वृन्दावन में किससे सीखा, इसकी जानकारी प्राप्त नहीं होती। उन्होंने केवलकिशन जी या जयराम जी की ब्रज परम्परा के किसी कलाकार से ही सीखा होगा, ऐसा अनुमान है। केवल इतनी जानकारी प्राप्त हो सकी है कि श्री केशव देव अच्छे पखावजी थे तथा वैष्णव सम्प्रदाय के अनुयायी थे। वृन्दावन में बंगाली वर्ष १८८६ में उनके घर एक पुत्ररत्न का जन्म हुआ, जो बाद में श्री नवद्विप चन्द्र ब्रजवासी के नाम से प्रसिद्ध हुआ। वे अपने समय के अत्यन्त प्रसिद्ध एवं उत्कृष्ट खोल वादक, कीर्तनकार एवं पखावज वादक थे। कहा जाता है कि स्वामी रामकृष्ण परमहंस जी (जन्म सन् १८३६ ई० और मृत्यु १८८६ ई०) उनके कीर्तन एवं वादन पर मुग्ध थे। उनके मुख्य शिष्यों मे रायबहादुर श्री खगेन्द्रनाथ मित्र, अर्पणा देवी, श्री दिलीपकुमार राय तथा श्री परेशकुमार मजुमदार (गोविन्दपुर) आदि प्रमुख थे। श्री ज्ञानप्रकाश घोष ने भी अल्पावस्था में खोल वादन तथा पखावज की कुछ शिक्षा नवद्विप चन्द्र से प्राप्त की थी। श्री ब्रजरखाल दास उनके प्रमुख शिष्य हैं।

बंगाल की वैष्णव परम्परा—दो

वैष्णव सम्प्रदाय की दूसरी परम्परा मुर्शिदाबाद के निवासी श्री वैष्णव चरण दत्त के द्वारा फैली, जो बृज एवं वैष्णव सम्प्रदाय से सम्बन्धित होते हुए भी मुख्यतः त्रिष्णुपुर में फैली।

श्री वैष्णव चरण दत्त के गुरु का नाम अज्ञात है, किन्तु उन्होंने पखावज वादन को अपनी शैली का खूब प्रचार किया। उनके पुत्र, पौत्र एवं वंश परिवार में भी उनकी कला का विस्तृत विकास और विस्तार हुआ। उनके पुत्र हरिपाद दत्त, गोविन्दप्रसाद दत्त तथा यशोभूषण दत्त पखावज वादन में प्रवीण थे। उनके पौत्र रामरंजन कुन्दु ने भी अपनी कला में काफी ख्याति अर्जित की थी। उन्होंने अपने दादा श्री वैष्णव चरण दत्त के उपरान्त श्री अवधूत बनर्जी से भी सीखा था।

श्री वैष्णव चरण दत्त के शिष्यों में गौरदास मोहन्ती, परिपाद बैरागी, भगवान् दास, शरद चन्द्र मांडल, नरेन्द्र चन्द्र अधिकारी, चिन्तामणि दास, कालीदास बैरागी आदि प्रमुख हैं। श्री रामरंजन कुन्दु के शिष्यों में उनके सुपुत्र रुद्र नारायण कुन्दु के उपरान्त मुरलीधर छाबाली,

मुरारी मोहन दास, जमुना दास तथा व्रज राखाल दास प्रमुख हैं।

बंगाल के कुछ मुसलमान कलाकार

बंगाल के पखावजियों में कुछ मुसलमान कलाकारों के नाम भी मिलते हैं, जिनमें कादु खाँ पखावजी, उनके शिष्य छोटे खाँ तथा छोटे खाँ के पुत्र खादीम हुसेन खाँ प्रमुख हैं। तदुपरान्त नानु मियाँ नाम के एक पखावजी का नाम भी उन दिनों प्रसिद्ध था, परन्तु उनके गुरु का नाम अज्ञात है। नानु मियाँ ढोलक वादन में भी दक्ष थे। सम्भव है इन बंगाली मुस्लिम कलाकारों का खब्बे हुसेन ढोलकिया के साथ कोई परम्परागत सम्बन्ध रहा हो, किन्तु हमें इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता।

इन मुसलमान कलाकारों के उपरान्त सर्वश्री भागन चन्द्र सेन, सरदेन्दु सिंहा तथा ललित मोहन मैत्र के नाम भी पखावज के क्षेत्र में प्रसिद्ध हैं। ललित मोहन मैत्र स्वयं जमीन्दार और कलाकारों के पोषक थे और पखावज के अच्छे कलाकार थे। वे अमीर खाँ बीनकार के साथ संगत किया करते थे। आज बंगाल में सर्वश्री विट्ठलदास गुजराती, जीवनलाल मुखिया, राजीवलोचन डे आदि कलाकारों के नाम प्रसिद्ध हैं।

ढाका घराना
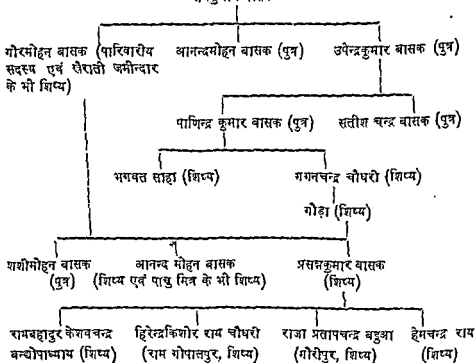
नोट—इस अध्याय में समाविष्ट बंगाल के सभी घरानों तथा कलाकारों का इतिहास निम्नलिखित विद्वानों की भेंट-वार्ताओं एवं पुस्तकों पर आधारित है :—

१—बंगाल के सुप्रसिद्ध संगीतज्ञ श्री रायचन्द बोराल (आर० सी० बोराल)

२—संगीतज्ञ श्री ज्ञानप्रकाश घोष

३—तबला नवाज स्व० उस्ताद करामत उल्ला खाँ

तालिका संख्या - ८

बंगाल का परवावज घराना

लाला केवल किशन — लाला हर किशन

- निमाई चक्रवर्ती
  - मुरारी मोहन गुप्त
- रामचन्द्र चक्रवर्ती
  - मुरारि मोहन गुप्त
  - केशव चन्द मिश्र
- निताई चक्रवर्ती

मुरारि मोहन गुप्त / केशव चन्द मिश्र के शिष्य:

- नन्दी भट्ट
  - अलाउद्दीन खाँ (मैहर)
    - यार रसूल खाँ उर्फ फुलझड़ी खाँ (भाई)
      - अन्नपूर्णा शुक्ल (शिष्या)
      - खादिम खाँ
    - खादिम खाँ
- प्रमथ गुप्त (पुत्र)
- देवेन्द्र नाथ डे (सुबोध बाबू)
  - राजीव लोचन डे
- केशव चन्द मुखर्जी
  - दीनानाथ हजारा
  - नरेन्द्र नाथ मुखर्जी
- नरेन्द्र नाथ दत्त स्वामी विवेकानन्द
- ब्रजेन्द्र किशोर रायचौधरी (गौरीपुर)
- जगदीन्द्र नाथ राय नाटोर नरेश
- सतीशचन्द्र दत्त
- सत्य सरण गुप्त
- लालचन्द्र बोराल (पुत्र)
- दुर्लभ चन्द्र भट्टाचार्य
- केशवचन्द्र मित्र
  - दीनानाथ हजारा
- प्रबोध घो[ष]

दीनानाथ हजारा / नरेन्द्र नाथ मुखर्जी के शिष्य:

- नगेन्द्र नाथ मुखोपाध्याय
- अरुण कुमार अधिकारी उर्फ केवल बाबू
  - राजीव लोचन अधिकारी
  - शिवदास
  - भूपेन्द्र कृष्ण डे
  - रतन लाल भड
  - शम्भु मुकर्जी
- बिपिन बाबू घोष
- ठनी बाबू

राजीव लोचन डे के शिष्य:

- सुखमय चौधरी
- कालिपद चौधरी
- पनय मुखर्जी
- तमील पाल
- पार्थ घोष
- गुरुदास घोष
- अनील चन्द्र डे

दुर्लभ चन्द्र भट्टाचार्य के शिष्य:

- हरिशंकर घोष
- प्रताप नारायण
- पियारी दास
- राजीव लोचन डे
- खगेन्द्र नाथ चटर्जी
- रामचन्द्र चटर्जी
- विनय चटर्जी

नोट :- जिन नामो के साथ कोई सूचना नहीं है, उन सभी को शिष्य समझिये।

बंगाल की अन्य परम्परायें

तालिका सख्या

१· वैष्णव परम्परा (जो बगाल मे ब्रज से आई)

केशव बाबू देव
|
नवदीप चन्द्र बृजवासी (पुत्र)

- रायबहादुर खगेन्द्र नाथ मित्र
- परेश कुमार मजूमदार
  - बृज राखाल दास
- दिलीप कुमार राय
- श्री मती अपर्णा देबी
- ज्ञान प्रकाश घोष (कलकत्ता) (खोल वादन सीर
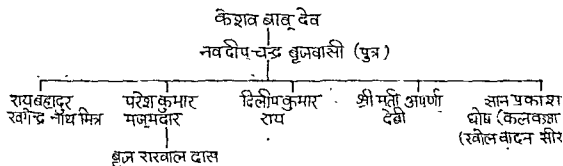
२· वैष्णव परम्परा (जो विष्णुपुर मे फैली)

वैष्णव चन्द्र दत्त, मधुर मृदग (मुर्शिदाबाद)

- हरिपाद दत्त पुत्र)
- गोविन्द प्रसाद (पुत्र)
- शशिभूषण (पुत्र)
  - राम रंजन कुन्द् (पुत्र)
- गौरदास मोहन्ती
- हरिपाद वैरागी
- भगवान दास
- रामरंजन कुन्दू (पौत्र)
- कालीदास वैरागी
- सारद चन्द मंडल
- चिन्ता मणि दास
  - नरेन्द्र
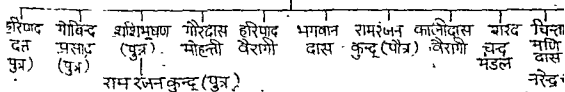
नोट:- जिन नामो के साथ कोई सूचना नही है, उन सभी को शिष्य समझिये

४—श्री हिरेन्द्रकुमार गांगुली (हीरू बाबू)
५—रायबहादुर श्री केशवचन्द्र बनर्जी

पुस्तकें

१—तबला कथा, भाग १, २ (बंगाली)—लेखक श्री सुबोध नन्दी
२—तबलार इतिवृत्ति (बंगाली)—लेखक श्री शम्भुनाथ घोष
३—भारतीय संगीत कोश—लेखक श्री विमलाकान्त राय चौधरी
४—तबला शास्त्र प्रभाकर—लेखक श्री जयकृष्ण महत्ती

□□

अध्याय ११

महाराष्ट्र की गुरव परम्परा एवं मंगलवेढेकर घराना

भारतीय संगीत के प्रति महाराष्ट्र का योगदान सदा से बहुमूल्य रहा है। काव्य, नाट्य और संगीत जैसे कलात्मक क्षेत्रों में वहाँ के कलाकारों का अपना विशेष स्थान प्राचीन काल से ही रहा है। 'कर्पूर मंजरी', 'साहित्य दर्पण', इत्यादि अनेक प्रसिद्ध ग्रन्थों में महाराष्ट्रीय कलाकारों की गौरव गाथा का वर्णन हमें मिलता है। प्रो० रानाडे के अनुसार, "According to 'Sahitya Darpan' Maharashtra was considered as the best by the poet Dandi who describes it as a veritable ocean of gem-like proverbs and wise sows.

The association of Maharashtra with music seems to have reached its' climax during the tenth century as is evident from 'Karpur Manjari' a Prakrit comedy of that period by Raja Shekhar written to please his wife Avanti Sundari, the daughter of Maharashtrian Prince."[1]

देवाश्रय तथा राजाश्रय में संगीत का विकास

भारत के संगीत के इतिहास में १३वीं शताब्दी का अपना महत्वपूर्ण स्थान है। यादव वंश के राजाओं ने संगीत को सदैव प्रोत्साहन दिया, जिसके फलस्वरूप 'संगीत रत्नाकर' जैसे अमूल्य ग्रन्थ की रचना शार्ङ्गदेव ने की, जो काश्मीरी ब्राह्मण थे एवं देवगिरि (दौलताबाद) के निवासी थे।

भरत के 'नाट्यशास्त्र' के बाद 'संगीत रत्नाकर' को ही संगीत का आधार ग्रन्थ माना गया है। 'भरत का संगीत सिद्धान्त' के पृष्ठ ३०३ पर आचार्य बृहस्पति ने लिखा है कि "सिंह भूपाल (चौदहवीं शती) का कथन है कि आचार्य शार्ङ्गदेव से पूर्व समस्त संगीत पद्धति बिखर गयी थी, जिसे स्पष्ट रूप से शार्ङ्गदेव ने संजो दिया। आचार्य शार्ङ्गदेव ने अनेक मतों का मन्थन करके अपनी अमर कृति 'संगीत रत्नाकर' का प्रणयन किया जो उपलब्ध संगीत ग्रन्थों का मुकुट है।"

मुस्लिम युग के बाद मुगल युग में महाराष्ट्र के लोकजीवन पर सन्तों का प्रभाव बराबर बना रहा। महाराष्ट्र के सन्तों ने सदैव संगीत के माध्यम को अपनाया है। सन्त रामदास, सन्त नामदेव, संत एकनाथ, संत दासोपन्त, सन्त गणेशनाथ, संत तुकाराम इत्यादि भक्तों ने तथा वाडकरी सम्प्रदाय जैसे भक्ति सम्प्रदायों ने संगीत के द्वारा प्रभु को रिझाने का प्रयत्न किया था। सन्त नामदेव कहते थे :

"ज्ञान से भक्ति का मार्ग अधिक सरल है और संगीत के बिना भक्ति सम्भव नहीं है। मेरे प्रभु को गाना-बजाना पसन्द है, अतः मैं उसे संगीत से रिझाना चाहता हूँ।"

1. Music in Maharashtra : Prof G. H. Ranade. P. 8, 9

इससे जनता में भक्तिपूर्ण संगीत के प्रति आदर भावना उत्पन्न हो सकी थी। संगीत में मनुष्य को ऊपर उठाने की क्षमता है तथा वह मोक्ष प्राप्ति का सरलतम साधन है। इस महत्व-पूर्ण तथ्य से जनता को परिचित करवा कर, महाराष्ट्रीय सन्तों ने उचित पथ निर्देश किया, इससे जन साधारण में संगीत को आदर मान तो मिला ही, समाज में स्फूर्ति, चेतना और भक्ति का वातावरण भी फैल गया, फलस्वरूप राष्ट्रीय भावना, एकसूत्रता, आत्मशुद्धि तथा जिन्दादिली की भावना पनप उठी। विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि महाराष्ट्र का भक्ति संगीत, शास्त्रीय संगीत पर आधारित रहा है, अतः शुद्ध संगीत का प्रचार जन समाज में छाया रहा।

यह तो देवाश्रय की बात हुई। राजाश्रय में भी महाराष्ट्र की सांगीतिक परिस्थिति पर शुद्ध शास्त्रीय संगीत का ही बोल-बाला रहा जिसका मुख्य श्रेय बीजापुर की आदिलशाही और वहाँ के कलाप्रेमी राजाओं की कलापरस्ती को जाता है। १४वीं शताब्दी के बाद उत्तर भारत के साथ महाराष्ट्र का सांगीतिक सम्बन्ध, मुख्यतः बीजापुर की आदिलशाही का प्रभाव है जिसके फलस्वरूप महाराष्ट्रीय राजाओं के दरबार में शास्त्रीय गायन वादन को प्रधानता मिल सकी। यही कारण है कि जिन दिनों उत्तर भारत में राजकीय परिस्थिति अस्थिर और अशोभनीय हो गयी थी तथा राजा और प्रजा विलासिता के वशीभूत हो चुके थे, वहाँ महाराष्ट्र प्रान्त में संगीत का शुद्ध एवं भक्तिमय रूप प्रचलित था। मराठी जनता ने अपनी भक्ति परायणता से शास्त्रीय संगीत के गहन रूप को सदैव शुद्ध रखने का प्रयत्न किया। हिन्दू संस्कृति का प्रभाव हमें वहाँ अधिक देखने को मिलता है।

वहाँ के कलाकारों ने संगीत को व्यवसाय के रूप में कम और कला के रूप में अधिक महत्व दिया। अतः वहाँ के समाज में संगीतज्ञों का उच्च स्थान था। फलतः जीवन और संगीत के बीच उत्तर भारत में जो फासला दिखाई देता था वह वहाँ नहीं था। महाराष्ट्रीय जनता ने संगीत को विद्या और संस्कृति का आवश्यक माध्यम ही समझा था, पेशा नहीं।

"In Maharashtra music was an inseparable part of the study."[३]

मुग़ल तथा मराठा काल में महाराष्ट्र में राग-रागिनियों की साधना अधिकतर हुआ करती थी। ठुमरी, कव्वाली और गजल का प्रभाव बहुत कम था। सार्वजनिक उत्सवों में सितार के स्थान पर वीणा और तबले के स्थान पर मृदंग का प्रयोग ही अधिक देखने को मिलता था। वैसे जन साधारण के जीवन में पवाडा भावगीत जैसे लोकगीत तथा लावणी, बोरी जैसे लोक-नृत्य का भी प्रचलन था।

सत्रहवीं शताब्दी में शिवाजी महाराज के राज्याभिषेक के उत्सव में गायन, वादन तथा नृत्य का कार्यक्रम एक सप्ताह तक चलता रहा। ऐसा उल्लेख कई स्थानों पर उपलब्ध है। पेशवाओं के दरबार में भी संगीत तथा संगीतकारों का आदर था। प्रो० जी० एच० रानाडे लिखते हैं :

> "From the Peshwa Dapthar it is clear that there used to be dozens of musicians of all types at the Peshwa's court. They patronized music and paid handsome salaries to their court musicians. The last Peshwa Bajirao II was extremely fond of music and had in his service great musicians such as Devidas Bahirji and Nagu Gurav, the reputed Pakhavaj players of their time."[४]

3. Maharashtra's contribution to Music : V. H. Deshpande.
4. Music In Maharashtra : Prof. G. H. Ranade, P. 28.

सुप्रसिद्ध ईरानी विद्वान् अकिमर ने मराठा काल के संगीत की शिल्पज्ञता के लिये जो कुछ कहा है, उसकी चर्चा करते हुए श्री उमेश जोशी भारतीय संगीत के इतिहास में लिखते हैं :

"मराठा काल के संगीत की शिल्पज्ञता की उच्चता की समानता उस काल का यूरोपीय संगीत भी नहीं कर सकता।"[५]

अतएव उस युग में महाराष्ट्र में भारतीय संगीत गौरव एवं कीर्ति के शिखर पर विराजमान था। कोल्हापुर, सागली, सतारा, मिरज, औंध आदि महाराष्ट्रीय राज्यों में तथा महाराष्ट्र के बाहर ग्वालियर, इन्दौर, बड़ौदा, धार जैसे राजदरबारों में महाराष्ट्रीय राजाओं ने संगीत का बड़ा सम्मान किया तथा गुणी संगीतकारों को राजाश्रय देकर अपने राज दरबारों को गौरवान्वित किया था।

गुरव परम्परा

हम देख चुके हैं कि महाराष्ट्र में भक्तिमय संगीत का महत्व रहा है। देव के आश्रय में जिस जाति विशेष ने पुरातन काल से महाराष्ट्र में पखावज और ध्रुवपद गायकी का बड़े प्यार और जतन से लालन-पालन किया, जिसने वंशपरम्परागत उसे सीखा और सम्भाला, जिसने अपनी दीर्घ साधना से उसे संवारा और जनसाधारण में सम्मान दिलवाया वह जाति महाराष्ट्र में 'गुरव' नाम से प्रसिद्ध है। मन्दिर की सेवा और भगवान की पूजा के साथ भजन, कीर्तन, ध्रुपद गायन और पखावज वादन द्वारा अपने इष्ट देव-देवियों को रिझाने की परम्परा उनमें सदियों से चली आ रही है। आज भी महाराष्ट्र के छोटे-बड़े गांवों और शहरों के गुरव परिवारों में हमें वंशपरम्परागत संगीत साधना देखने को मिलती है। महाराष्ट्र में जो कुछ थोड़ा बहुत पखावज आज जीवित रह सका है इसके पीछे गुरव परम्परा का योगदान मुख्य है।

वैसे देखा जाये तो हमें पखावज के विविध घरानों का क्रमबद्ध इतिहास सत्रहवीं शताब्दी के अंत से तथा अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ काल से प्राप्त होता है। यद्यपि अकबर के युग के पखावज वादकों की कुछ जानकारी उपलब्ध हो सकी है और वह भी क्रमबद्ध इतिहास के रूप में नहीं। उसी प्रकार व्रज की परम्परा भी बहुत प्राचीन है तथा जयपुर घराने के कुछ कलाकारों का इतिहास तो तीन सौ वर्ष से अधिक पुराना लगता है। गुरव परम्परा तो सदियों पुरानी है, किन्तु इनमें से किसी भी परम्परा का क्रमबद्ध विकास प्राप्त नहीं होता।

गुरव परिवारों में पखावज वादन की परम्परा कैसे आरम्भ हुई, उसके आदि संस्थापक कौन हैं, किन घरानों से परम्परा सम्बन्धित है आदि बातें सर्वथा अज्ञात हैं।

इस तथ्य को जानने के लिये बहुत प्रयत्न किया गया, गुरव परिवारों के गुणी और वयोवृद्ध कलाकारों से भेंट की गई, उनसे प्रश्नोत्तर किये गये किन्तु इस विषय में कोई ठोस जानकारी प्राप्त नहीं हो सकी। उनमें से बहुतों का कहना था कि "हमने तो अपने बाप दादाओं से यह विद्या सीखी है और हमारे परदादा को देवी देवताओं की कृपा से यह विद्या मिली है।"

सम्भव है कि संगीत उन्हें अपने बाप दादाओं से विरासत में मिली हो और देवी देवताओं की कृपा से उनके वंश में फूली फली हो, किन्तु निःसंदेह किसी न किसी व्यक्ति के द्वारा ही उसका प्रचार हुआ होगा। उनके कोई न कोई गुरु रहे होंगे, कहीं किसी विद्वान् गुरु से उनके

---

५. भारतीय संगीत का इतिहास : उमेश जोशी : पृ० ३०५

आदि पुरुषों ने सीखा होगा। बिना सीखे मृदंग-पखावज जैसी कठिन विद्या कैसे प्राप्त हो सकती है ?

खेद की बात है कि हमारे पास इसका कोई इतिहास उपलब्ध नहीं है। अतः हमें मौखिक बातों पर तथा कहीं किसी पुस्तक में लिखी गयी अल्प सी सामग्री पर आधार रखना पड़ता है। गुरव संप्रदाय में बहुत से गुणी एवं विद्वान् कलाकार हो गये हैं। उनका उल्लेख क्रमशः इतिहास के रूप में न सही, व्यक्तिगत रूप में कहीं किसी पुस्तक में मिल ही जाता है, जिनकी संक्षेप में चर्चा आवश्यक है।

श्रीमन्त नाना साहेब पेशवाई दरबार के मृदंगवादक श्री धर्मा गुरव का उल्लेख मिलता है, जो अत्यन्त गुणी तथा कला जगत् में सुप्रसिद्ध थे।[६]

बाजीराव पेशवा (दूसरे) के दरबार में श्री नागु गुरव तथा श्री देवीदास बहीरजो का आदरणीय स्थान था।[७]

पुणे के मान्यबा कोंडिनकर, जिनसे सुप्रसिद्ध मृदंग केसरी नाना पानसे ने अपनी किशोरावस्था में विद्या प्राप्त की थी, गुरव परिवार के कलाकार थे।[८]

वाई के मार्तंड बुवा और चौडे बुवा भी गुरव परिवार से सम्बन्धित थे। कहा जाता है कि नाना पानसे ने अपने बाल्यकाल में चौडे बुवा तथा मार्तंड बुवा से भी सीखा था।[९]

इन्दौर के सुप्रसिद्ध मृदगाचार्य पंडित सखाराम पन्त आगले तथा उनके सुपुत्र पं० अम्बादास पन्त आगले जाति के गुरव थे। पं० सखाराम पन्त ने पखावज की शिक्षा का आरम्भ अपने पिताजी से ही किया था। बाद में उन्होंने इन्दौर के नाना पानसे जी से सीखा।

पुणे के पार्वती देवस्थान के नौकर ज्ञानबा राजूरीकर का नाम भी गुरव सम्प्रदाय में श्रद्धा से लिया जाता है।[१०]

कुरुन्डवाद के निवासी तथा मिरज में अत्यत प्रसिद्ध रामभाऊ गुरव की रसमय सगत को आज भी लोग याद करते हैं।[११]

पुणे के मृदंगाचार्य शंकर भैया घोरपडकर जाति के गुरव थे। वे नेरगांव के विट्ठल मंदिर तथा पुणे के प्रसिद्ध बेलगांव के भगवान श्री विष्णुलक्ष्मी मन्दिर के आजीवन सेवक रहे। उनके सुपुत्र बसन्तराव घोरपडकर आज भी पुणे के बागेश्वरी मन्दिर के सेवक हैं।[१२]

पंढरपुर के सुप्रसिद्ध मंगल वेढेकर घराने के आदि पुरुष पं० विट्ठलाचार्य जोशी मंगल-

६. संगीत शास्त्रकार व कलावन्त यांचा इतिहास (मराठी) : लक्ष्मण दत्तात्रय जोशी (पुणे), पृ० १६७।
७. Music in Maharashtra : Prof. G. H. Ranade : P. 28.
८. संगीत शास्त्रकार व कलावन्त यांचा इतिहास, पृ० १७६—ल० द० जोशी।
९. वही, पृ० १७७।
१०. वही, पृ० १८०।
११. मिरज में श्री भानू दास गुरव परिवार के वृद्ध विद्वानों से भेंट वार्ता के आधार पर।
१२. संगीत शास्त्रकार व कलावन्त यांचा इतिहास : पृ० १८४ तथा श्री बसन्तराव घोरपडकर की पुणे में ली गई मुलाकात के आधार पर।

वेटेकर जी मंगलबेढा गाँव के एक मन्दिर के पुजारी थे। यह मंगलवेढेकर घराने की विशेषता है कि उनकी वंश परम्परा का प्रत्येक कला निपुण व्यक्ति पखावज के साथ-साथ वैदिक परम्परा में भी अपना अधिकार रखता है।[१३]

अथणी के परशुराम गुरव, जो कि जनार्दनपन्त जोशी मंगलवेढेकर जी के शिष्य थे, उच्च कोटि के कलाकार हो गये।

सतारा के तासगाँव के रहने वाले धर्मा जी गुरव तथा उनके पुत्र रघुनाथ बुवा गुरव के नाम कलाकार के रूप में प्रसिद्ध हैं। कहा जाता है कि सतारा के महाराजा श्रीमंत भाऊ-साहब को धर्मा जी गुरव पखावज सिखाते थे।

बाजी घनश्याम गुरव (पर्वतकर) गोवा के रहने वाले थे, जिनसे सुप्रसिद्ध तबला पट्ट श्री कामुराव मंगेशकर ने सीखा था।[१४]

अहमदनगर निवासी तथा पानसे घराने के शिष्य केशव बुवा दीक्षित, उनके भाई नाथ बुवा दीक्षित तथा नाथबुवा के सुपुत्र बाला साहेब दीक्षित वंशपरम्परागत देव सेवा में समर्पित हैं। आज भी अहमदनगर के दत्त मंदिर में बाला साहेब दीक्षित सेवारत हैं। साथ ही साथ वे दत्त संगीत महाविद्यालय भी चलाते हैं।[१५]

केडगाँव के भोलोबा गुरव और उनके सुपुत्र बापूराव गुरव (अहमदनगर) भी अपनी कला के सिद्धहस्त कलाकार हैं।[१६]

श्री गोंडुजी गुरव और श्री नारायणराव जी गुरव ग्वालियर के निवासी थे जो पर्वतसिंह पखावजी के समकालीन थे।

इन्दौर के मुन्नालाल पवार और चुन्नीलाल पवार वहाँ के वैष्णव मन्दिर के सेवक थे और जीवन के अन्त समय तक देवसेवा में संलग्न थे।[१७]

जलगाँव के शंकर भैया गुरव महाराष्ट्रीय कीर्तनों की उत्तम संगत करते थे। वे नट सम्राट् बालगन्धर्व के समकालीन एवं उनके मित्र थे। उनके पुत्र बालाभाऊ गुरव भी उच्च-कोटि के कलाकार थे।[१८]

पं० गणपतराव गुरव जलगाँव के रहने वाले थे जो इसी सम्प्रदाय से सम्बन्धित थे।

इनके उपरान्त दामुअण्णा गुरव, श्री श्रीकृष्ण श्रीधर बालाजी वाले (बुरहानपुर), जानकीराव गुरव (धुले), लक्ष्मण राव, मधुकर, कालूराम, भीखाजी तथा सदाशिव गुरव (सभी

---

१३. मंगलवेढेकर घराने के कलारत्न पं० नारायणराव जोशी मंगलवेढेकर, पं० दत्तोपन्त जोशी मंगलवेढेकर तथा पं० शंकरराव जोशी मंगलवेढेकर की पंढरपुर तथा शोलापुर में ली गयी व्यक्तिगत भेंटों के आधार पर।

१४. कामुराव मंगेशकर (गोवा) पर लिखे गये एक अप्रकाशित लेख के आधार पर।

१५. श्री बाला साहेब दीक्षित की अहमदनगर में ली गयी भेंट के आधार पर।

१६. श्री बापूरावजी गुरव की अहमदनगर में ली गयी भेंट के आधार पर।

१७. स्व० श्री चुन्नीलाल पवार की इन्दौर में ली गयी भेंट के आधार पर।

१८. पं० शंकर भैया गुरव के सुपुत्र श्री बालाभाऊ गुरव की जलगाँव में ली गयी भेंट के आधार पर।

धुले निवासी), राघोजी गुरव (कोपरगाँव), पांडुरंग गुरव (श्रीरामपुर), भानुदास गुरव तथा गणपतराव फोडेकर (मिरज) आदि के नाम गुरव सम्प्रदाय में उल्लेखनीय हैं।[१६]

मंगलवेढेकर घराना

आज से करीब पौने दो सौ वर्ष पूर्व उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में, महाराष्ट्र के शोलापुर जिले के एक छोटे से गाँव मंगलवेढ़ा में एक प्रतिभाशाली ब्राह्मण का जन्म हुआ, जिसका नाम था विट्ठलाचार्य जोशी। मंगलवेढ़ा गाँव के श्री सन्त दामाजी पन्त की समाधि के वे पुजारी थे तथा स्वयं अच्छे गायक, कीर्तनकार, वैदिक कर्मकाण्डी ब्राह्मण, ज्योतिषी तथा मृदंगाचार्य थे। कीर्तन, भजन की संगत तक सीमित मृदंगवादन की अपनी अल्प जानकारी को इन्होंने आगे चलकर योग्य शिक्षा तथा अपने बुद्धि कौशल से इस प्रकार विकसित किया कि पखावज के क्षेत्र में एक नवीन शैली का निर्माण हुआ जो मंगलवेढ़ेकर घराने के नाम से आज भारत भर में सुविख्यात है। यद्यपि पं० विट्ठलाचार्य जोशी जी ने अपने समय में किस गुरु से शिक्षा प्राप्त की थी, इस बात से उनके वंशज तक अनभिज्ञ हैं। तथापि यह निश्चित है कि जो कुछ भी इन्होंने सीखा अपने बुद्धिबल से विकसित किया तथा एक नवीन घराने के रूप में पल्लवित किया। आज पिछली छः पीढ़ियों से यह घराना अपनी निजी विशेषताओं को सम्भाले हुए चला आ रहा है। खूबी इस बात की है कि केवल पखावज वादन ही नहीं वरन् ख्याल गायकी, ध्रुपद-धमार, कीर्तन, वैदिक परम्परा, नृत्यकला तथा ज्योतिष विद्या भी इस घराने की अपनी निधि है, जो वंश-परम्परागत चली आ रही है।

कुछ विद्वानों का यह मंतव्य है कि मंगलवेढेकर घराना भी भवानीदीन या कुदऊसिंह परम्परा से ही संबन्धित है। सम्भव है कि इस बात में कुछ तथ्य हो किन्तु हमारे पास उसका कोई प्रमाण नहीं है। इस घराने के प्रमुख वंशज भी इस मत से असहमत हैं और अपनी परम्परा को एक स्वतन्त्र परम्परा के रूप में ही मानते हैं।

पं० विट्ठलाचार्य जोशी के एक पुत्र का नाम जनार्दन पन्त जोशी था। पं० विट्ठलाचार्य ने अपने पुत्र जनार्दन पन्त को सम्पूर्ण विद्या सिखायी थी। जनार्दन पन्त सच्चे अर्थ में विद्वान् कलाकार थे। माणिक नगर के सद्गुरु मार्तंड माणिक प्रभु महाराज उनके पखावज वादन पर अत्यन्त मुग्ध थे। अतः इन्होंने जनार्दन पन्त को दो साल अपने यहाँ रख कर उनसे शिक्षा ग्रहण की थी। जनार्दन पन्त के अन्य कई शिष्य थे, जिनमें इनके दो पुत्र पं० काशीनाथ बुवा तथा पं० केशव बुवा का स्थान मुख्य है।

पं० काशीनाथ बुवा गायनाचार्य बने और पं० केशव बुवा मृदंगाचार्य। पं० केशव बुवा ने अपनी विद्या और कला के प्रसार एवं प्रदर्शनार्थ बहुत भ्रमण किया, गुणी लोगों की संगत की तथा अनेक नवीन बोलों की रचना करके अपने घराने की परम्परा को समृद्ध किया था। वे जितने गुणी थे उतने ही प्रेमी स्वभाव के व्यक्ति थे। उन्होंने मुक्त हृदय से विद्यादान किया था। पं० नारायण राव जोशी मंगलवेढेकर भी उन्हीं के पुत्र थे, जिनकी निःशुल्क विद्यादान वृत्ति तथा असाधारण कला समृद्धि पर महाराष्ट्र गर्व कर सकता है।

---

१६. मिरज, सांगली, धुले, बुरहानपुर, जलगाँव, कोपरगाँव, शिर्डी, अहमदनगर, श्रीरामपुर, सतारा, कराड, कोल्हापुर आदि स्थलों पर व्यक्तिगत सम्पर्क से प्राप्त सूचनाओं के आधार पर।

मंगलवेढेकर घराने का विकास

मंगलवेढेकर घराने का विकास पं० नारायण राव के समय में हुआ। नारायण राव जी ने गायन एवं पखावज की शिक्षा अपने पिता श्री केशव बुवा तथा चाचा श्री काशीनाथ बुवा से प्राप्त की थी। कहा जाता है कि वे अपने समय के धुरन्धर पंडित एवं उच्चकोटि के वादनाचार्य थे। उनकी मृत्यु १३ जून सन् १६८० को हो गयी। देश भर में भ्रमण करके उन्होंने अपनी कला का प्रदर्शन किया था। अपने परम्परागत पखावज वादन में संशोधन करके उन्होंने सैकड़ों बन्दिशों की रचना की थी। क्लिष्ट लयों को सहज रूप से स्पष्ट, मधुर और तैयारी के साथ प्रकट करना और लय ताल में अपने साथ श्रोताओं को भी खींच ले जाना उनकी अपनी विशेषता थी। वे जितने गुणी थे उतने ही संत प्रकृति के व्यक्ति थे।

आज से करीब ७५ साल पूर्व संगीत शिक्षा के इच्छुक विद्यार्थियों को विद्या प्राप्ति के लिए जिन कठोर कष्टों का सामना करना पड़ता था उन्हें देखकर नारायण राव जी का हृदय द्रवित हो जाता था। उनका निजी अनुभव था कि अधिकतर कलाकार गाने-बजाने में तो प्रवीण होते हैं परन्तु शिक्षा देने की विधि से अनभिज्ञ एवं कृपण होते हैं। कलाविद् होना एक बात है और उत्तम गुरु होना दूसरी बात है। दोनों का मेल किसी एक में बहुत कम दिखायी देता है। यह सब सोचकर उन्होंने निःशुल्क विद्यादान का दृढ़ निश्चय किया। उन्होंने निजी सुखों का त्याग किया, द्रव्योपार्जन का मोह छोड़ दिया और सभी प्रकार के कष्टों और प्रतिकूल परिस्थितियों का धैर्यपूर्वक सामना करके तन, मन, धन से विद्यादान प्रसंग में तल्लीन हो गए।

पं० नारायणराव ने अपने मित्र पं० नारायण बुवा थिट्टे के सहयोग से सन् १६१४ में विट्ठल के परमधाम पंढरपुर में "धर्मार्थ महाराष्ट्र संगीत विद्यालय" नामक संगीत संस्था की नींव डाली। तब से आज तक इस संस्था के अन्तरगत निःशुल्क विद्यादान द्वारा सैकड़ों विद्यार्थी संगीत के क्षेत्र में तैयार हो चुके हैं। गरीब विद्यार्थियों को शिक्षण के साथ-साथ आवास, भोजन, कपड़ों की सुविधा का प्रबन्ध भी वहाँ किया जाता है। इनकी एकनिष्ठ साधना और त्याग ने एक नवीन मार्ग का संचालन किया है, जिस पर उनके वंशज तथा शिष्यगण उनके संन्यास के बाद भी पिछले कई वर्षों से लगातार चले आ रहे हैं। पच्चीस वर्ष पर्यन्त विद्यालय का सुन्दर संचालन करने के पश्चात् उसकी बागडोर अपने छोटे भाई पं० दत्तोपन्त मंगलवेढेकर तथा शिष्य पं० जगन्नाथ बुवा पंढरपुरकर के हाथ में सौंप करके नारायणराव निवृत्त हुए।

पं० नारायणराव की शिष्य परम्परा को सँभालने, सँवारने तथा कायम रखने में पं० दत्तोपन्त मंगलवेढेकर का योगदान भी असाधारण है। उन्होंने अपने बाज में अनेक संशोधन एवं परिवर्तन किए, रचनाएँ की तथा युग की आवश्यकता को ध्यान में रखकर अपने घराने मे प्रथम बार पखावज के साथ-साथ तबला वादन भी प्रारम्भ किया।

पं० दत्तोपन्त पखावज एवं तबला के अतिरिक्त नृत्य तथा जलतरंग वादन में भी प्रवीण हैं। इस क्षेत्र में भी उनके अनेक शिष्य हैं। अपनी कला के प्रसारण के हेतु उन्होंने समूचे भारत में भ्रमण किया तथा स्वतन्त्र वादन एवं संगति मे नाम कमाया। महाराष्ट्र में आकाशवाणी के सर्वप्रथम मृदंगवादक होने का श्रेय उन्हीं को प्राप्त है। गान्धर्व महाविद्यालय के हीरक जयन्ती महोत्सव के अवसर पर उन्हें मानपत्र तथा महावस्त्र से विभूषित किया गया था।

पं० दत्तोपन्त की शिष्य-परम्परा बहुत विशाल है, जिसमें उनके छोटे भाई पं० शंकर राव मंगलवेढेकर, पं० माधवराव मंगलवेढेकर दो पुत्र श्री तात्याराव तथा श्री नरसिंह राव, सिने तारिका नृत्यांगना शान्ता आप्टे आदि मुख्य हैं।

मंगलवेढकर घराना

विठ्ठल दास जोशी मंगलवेढेकर (सन् १८३० ई० के आसपास)

जनार्दन पंत जोशी (पुत्र)

काशीनाथ बुआ (पुत्र) — केशव बुआ (पुत्र) — परशुराम गुरव (अथणी) — मर्तण्ड माणिक प्रभु महाराज

नारायण राव जोशी (पुत्र) — बालकृष्णा जोशी (पुत्र) — दामु अण्णा कानेरकर — शंकर राव जंगमे — भाऊ साहब रानवाडे

दत्तोपंत जोशी मंगलवेढेकर (भाई) — जगन्नाथ बुवा पंढरपुरकर — नबीलाल — रंगनाथ बुआ देगलूरकर — आयाचित बुआ — ज०र० देशपाण्डेय — नारायण राव वेदान्ति (परली) — बेरिस्टर बाला साहब ताजगी वाले — दामु अण्णा जोशी (चचेरा भाई) — तिनाथक रा-

शिवराम (पुत्र) — मुधोलकर — सजीव राव — जयपाल राव

शंकर राव जोशी मंगलवेढेकर (भाई) — ताताराव जोशी (पुत्र) — नरसिंह जोशी (पुत्र) — माधव राव जोशी (भाई) — बाजी राव सोनवणे — शान्ता आप्टे (नृत्य की शिष्या) — श्यामा राव जोशी — अनन्त राव साठे — वामन राव आलतेकर — भीमसिंह राजपूत — प्रो० बसन्त राव देव — जगन्नाथ दलवी

मोहन राव जोशी मंगलवेढेकर (पुत्र)

रमेश जोक — स० गी० पटवर्धन — नारायण जोशी — ज्ञानोबा लटपटे — बालासाहब हिरमेठ — देवीदास कुलकर्णी — सखाराम देशमुख — रघुनाथ बाघमारे — बाबूराव भोसले — जी० बी० जोशी — हरिभाऊ जजूरीकर — सुधाकर जोशी

पण्णा जोशी (पुत्र)

नोट:- जिन नामो के साथ कोई सूचना नहीं है, उन सभी को शिष्य समझे।

पं० दत्तोपन्त से तालीम प्राप्त करके ही उनके छोटे भाई शंकरराव मंगलवेढेकर तैयार हुए हैं, जो एक उत्कृष्ट कलाकार के रूप में अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। उनके पखावज एवं जलतरंग के कार्यक्रम सारे भारत में प्रदर्शित हुए हैं। वे शास्त्र के भी अच्छे ज्ञाता हैं। आजकल वे अपने सुपुत्र मोहनलाल मंगलवेढेकर को शिक्षा दे रहे हैं। इसके उपरान्त 'धर्मार्थ महाराष्ट्र संगीत विद्यालय' के आचार्य के रूप में अनेक शिष्य तैयार कर रहे हैं। परम्परागत विद्या भंडार तो उन्हें कठस्थ है ही, स्वयं बोलों की रचना भी करते हैं तथा आकाशवाणी से अपने कार्यक्रम द्वारा पखावज की प्राचीन कला का प्रसार एवं प्रचार भी कर रहे हैं।

उनके चचेरे भाई स्व० दामुअण्णा मंगलवेढेकर काशीनाथ बुवा के सुपुत्र थे तथा पूणे रेडियो के 'स्टाफ आर्टिस्ट' थे। वे पखावज के तथा तबला के उत्कृष्ट कलाकार थे। दुर्भाग्य से वे कम उम्र में ही चल बसे।

मंगलवेढेकर घराने के कुछ प्रमुख शिष्यो में सर्वश्री परशुराम बुवा गुरव, बालशास्त्री जोशी, दामुअण्ण कानेरकर, शंकरराव जंगम, भाऊसाहब राजवाड़े, जगन्नाथ बुवा पढरपुरकर, रगनाथ बुआ देगलुरकर, देशपाण्डेय (बैरिस्टर) बाला साहेब खाजगीवाले, बापुराव गुरव, शान्ता आप्टे, जगन्नाथ दलवी, नारायण जोशी, बाजीराव सोनवणे, हरिभाऊ जेरूरीकर आदि के नाम लिए जा सकते हैं।

आज की नवीन पीढ़ी में दत्तोपन्त के दोनों पुत्र तात्यासाहेब तथा नरसिंह राव, शंकर राव के पुत्र मोहनराव तथा दूसरे शिष्य भी उसी पथ पर अग्रसर हैं। लगभग १७५ वर्ष पुराने इस घराने को चिरंजीव रखने का उत्तरदायित्व उन्हीं के ऊपर निर्भर है।

पखावज के बहुतेरे कलाकारों को राजाश्रय का सौभाग्य मिला था, किन्तु मंगलवेढेकर घराने के कलाकारों को यह सुविधा प्राप्त नही हो सकी। यह घराना महाराष्ट्र के छोटे से गाँव में विकसित हुआ है। अतः इन कलाकारों को सदैव आर्थिक कष्टों का सामना करना पड़ा है। नि.शुल्क विद्यादान प्रवृत्ति के कारण उनकी आर्थिक स्थिति कभी अच्छी न रही।

मंगलवेढेकर घराने की वादन शैली

मंगलवेढेकर घराने का बाज पखावज के दूसरे घराने के बाजों से पृथक् बाज है, जो ओजपूर्ण एवं शक्तिपूर्ण है। उसमें लय बांट की कला का अनोखा समन्वय उल्लेखनीय है। उसकी बन्दिशों की भाषा, लय गूंथने की पद्धति, पूरे पंजे का प्रयोग, हाथ तैयार करने का प्राथमिक तरीका तथा द्रुत लय में हाथ तैयार करने की पद्धति दूसरे घरानो से पृथक् दिखती है, जो इसके स्वतंत्र विकास का परिचायक है।

भिन्न-भिन्न लयकारी के सहस्त्रों रचनाओं का भण्डार निश्चित रूप में अन्तिम छः पीढ़ियों से इनके पास संचित है। नारायण राव, दत्तोपन्त तथा शंकर राव जैसे गुणी कलाकारों ने अपना सम्पूर्ण जीवन पखावज जैसे जटिल वाद्य को लोकप्रिय बनाने हेतु तथा महाराष्ट्र में उसका उदार मन से अधिकतम प्रचार करने के हेतु लगा दिया है।

उनके घरानों में बोलों की रचना की विविधता के उपरान्त लय की बांट, हिसाब को समझाने का तरीका तथा प्रत्येक पाव मात्रा (¼) से उठने वाली कमाली चक्रदार परनों की विशेषता महत्वपूर्ण स्थान रखती है।[1]

---

१. सर्वश्री पं० नारायणराव, दत्तोपन्त तथा शंकराव जोशी मंगलवेढेकर से शोलापुर तथा पंढरपुर में किए गए व्यक्तिगत वार्तालाप तथा धर्मार्थ महाराष्ट्र संगीत विद्यालय के निरीक्षण पर आधारित।

अध्याय १२

ग्वालियर परम्परा

कुदऊ सिंह महाराज का काल, भारत के ताल वाद्य का स्वर्णयुग कहा जा सकता है, क्योंकि संयोग से उसी काल के ५० वर्ष के बीच कुदऊ सिंह के उपरान्त बाबू जोधसिंह जी, नाना पानसे, ग्वालियर के श्री जोरावर सिंह, लखनऊ के उ० मोदू खां, बख्शू खां, अजराड़ा के उ० कल्लू खां, उ० मीरू खां, फरुखाबाद के उ० हाजी विलायत अली खां तथा बनारस के पं० रामसहाय जी जैसे कला निपुण व्यक्ति पैदा हुए, जिनकी कला साधना एवं विद्वत्ता से भारतवर्ष में अनेक परम्पराएँ चल पड़ीं जो विविध घरानों में परिवर्तित होकर समृद्ध एवं विस्तृत हुईं।

पखावज की ग्वालियर परम्परा के आद्य संस्थापक जोरावर सिंह जी माने जाते हैं। वे कुदऊ सिंह के समकालीन एव उनके मित्र थे। कुछ विद्वानों का मत है कि वे भी लाला भवानीदीन के शिष्य थे, किन्तु इस विषय में कोई प्रमाण प्राप्त नही होता और उनके गुरु के विषय में भी कोई जानकारी प्राप्त नहीं होती। ग्वालियर परम्परा के कलाकार एवं वंशज अपने को स्वतन्त्र परम्परा का मानते हैं और अपना सम्बन्ध भवानी दीन या किसी भी दूसरे कलाकार के साथ स्वीकार नही करते।

जोरावर सिंह ग्वालियर के महाराज जनकोजी राव सिन्धिया के आश्रित कलाकार थे, महाराज उन्हे बहुत प्यार करते थे। राजाश्रय मिलने के कारण वे ग्वालियर में बस गए और जीवन के अन्तिम क्षण तक वही रहे, इसीलिए इनकी परम्परा ग्वालियर परम्परा के नाम से प्रचलित हुई।

यद्यपि ग्वालियर परम्परा को हम विस्तृत घराना नहीं कह सकते तथापि जोरावर सिंह के बाद उनकी शैली वंशपरम्परागत एवं शिष्यपरम्परागत चार-पांच पीढ़ियों से चली आ रही है। अतः यहाँ इसका उल्लेख करना आवश्यक हो जाता है।

श्री जोरावर सिंह ने अपने पुत्र श्री सुखदेव सिंह को पखावज की उत्तम शिक्षा दी। पिता के समान उन्हे भी ग्वालियर दरबार के कलाकार होने का सौभाग्य मिला। श्री सुखदेव सिंह के पुत्र एवं देश के सुप्रसिद्ध पखावज वादक श्री पर्वत सिंह अपने पिता से भी सवाये निकले। बाल्यावस्था में ही वे अपने पिता से शिक्षा ग्रहण करके तैयार हो गए थे तथा ग्वालियर दरबार में कलाकार का स्थान भी पा चुके थे। उन दिनों ग्वालियर दरबार में अनेक गुणी कलाकार आते थे। उनमें से बहुतों के साथ संगत करने का अवसर श्री पर्वत सिंह को मिलता रहा, जिससे उनके ज्ञान एवं अनुभव में वृद्धि हुई। उ० अल्लादिया खां, पं० विष्णु दिगम्बर, सितारवादक उ० बरकत उल्ला खां, उ० नजीर खां, पं० भास्कर बुवा बखले आदि अनेक नामी कलाकारों की संगति करने का उन्हें स्वतः अवसर मिलता गया। वे पन्द्रह वर्षों तक बम्बई में भी रहे। अतः उनकी कला को निखरने का और भी अवसर मिला। पिता के देहान्त के

पश्चात् वे ग्वालियर आ गए और श्रीमन्त माधव राव जी के दरबारी हो गए। वहाँ उस्ताद हाफ़िज अली खाँ, पं० कृष्ण राव शंकर पंडित, उ० उमराव खाँ, आदि कलाकारों से उनका मेलजोल बढ़ता गया। उन दिनों उ० हाफ़िज अली खाँ (सरोद) और पर्वत सिंह (पखावज) की जोड़ी सारे देश में प्रसिद्ध हो गयी थी। पर्वत सिंह के छोटे भाई कनैया भी निपुण पखावज वादक थे। पर्वत सिंह जी पखावज के साथ-साथ तबला वादन में भी दक्ष थे। उनके तीनों पुत्र सर्व श्री विजय सिंह, माधो सिंह तथा गोपाल सिंह ने अपने घराने की परम्परा को कायम रक्खा। उसमें माधो सिंह का तो विशेष उल्लेख किया जा सकता है जो वर्षों तक बम्बई में वल्लभाचार्य श्री गोकलदास जी महाराज के यहाँ रहे। पर्वत सिंह के छोटे पुत्र गोपाल सिंह दिल्ली विश्वविद्यालय में संगीत विभाग के अध्यापक थे और आज भी उनके एक पुत्र उसी विद्यालय से सलग्न हैं। यद्यपि जोरावर सिंह तथा उनके वंशज अप्रतिम कलाकार थे परन्तु वे उदार शिक्षक नहीं थे। अतः उनकी शिष्यपरम्परा उतनी विस्तृत नहीं हुई जितनी होनी चाहिए थी। ग्वालियर के भ्रमण में मुझे ऐसे बहुत कम व्यक्ति मिले जो दृढ़तापूर्वक यह कह सकें कि वे उस परम्परा के शिष्य हैं। विशेष प्रयास के बाद इस परम्परा का जो इतिहास प्राप्त हो सका है वह इस प्रकार है—

श्री जोरावर सिंह के प्रमुख शिष्य ग्वालियर निवासी श्री नारायण प्रसाद दीक्षित अग्निहोत्री थे। वे उच्चकोटि के वादक एवं उदार शिक्षक थे। उनकी शिष्यपरम्परा ग्वालियर और महाराष्ट्र में फैली हुई है।

जोरावर सिंह तथा नारायण प्रसाद इन दोनो गुरु-शिष्य के विषय में एक रोचक कथा ग्वालियर के वयोवृद्ध विद्वान् पं० रामचन्द्र अग्निहोत्री से सुनने को मिली जो इस प्रकार है— ग्वालियर दरबार की किसी महफ़िल में एक बार श्री जोरावर सिंह किसी कारणवश नहीं पहुँच सके। बाहर से कोई बड़ा गायक आया हुआ था। अतः जोरावर सिंह की अनुपस्थिति से ग्वालियर नरेश बड़े व्यग्र हो गए। संयोग से वहाँ जोरावर सिंह के शिष्य नारायण प्रसाद दीक्षित अग्निहोत्री उपस्थित थे। नरेश के आदेशानुसार नारायण प्रसाद पखावज पर बैठ गए और दरबार की प्रतिष्ठा बचा ली। उन्होंने ऐसी कुशल संगत की कि महफ़िल की रौनक में चार चाँद लग गए। अतिथि गायक ने भी इस युवक पखावज वादक की भूरि-भूरि प्रशंसा की। ग्वालियर नरेश भी बहुत प्रसन्न हुए और अनेक भेंट उपहार से उनका अभिवादन किया। दूसरे दिन जब जोरावर सिंह दरबार में पहुँचे तो महाराज ने कहा कि—"उ० कल तो नारायणप्रसाद ने इतनी अच्छी संगत की कि आपकी अनुपस्थिति मालूम ही नहीं हुई।" प्रशंसा सुनकर जोरावर सिंह बहुत प्रसन्न नहीं हुए। कुछ दिनों के बाद नारायण प्रसाद के जीवन में एक भारी दुर्घटना घटी। दुर्भाग्य से किसी विदेशी ने उनके हाथो पर किसी ऐसे तेल की मालिश कर दी कि उनके हाथों की नसें दुर्बल पड़ गयीं और वे बजाने के योग्य नहीं रह गए। इस प्रकार द्वेष और स्वार्थ ने एक कलाकार का जीवन नष्ट कर दिया। इस घटना से नारायण प्रसाद जी को गहरा सदमा हुआ और उन्होंने संकल्प किया कि वे अपनी विद्या को अपने वंशजों एवं शिष्यों में बाँट कर कला को जीवित रखेंगे। कहते हैं उन्होंने बहुत से शिष्य तैयार किए और आज भी ग्वालियर तथा महाराष्ट्र में उनकी शिष्य परम्परा फैली हुई है। उनके वंश में उनके पुत्र वेंकट राव दीक्षित तथा पौत्र शंकरराव दीक्षित कुशल कलाकार हुए तथा शिष्यों में गणपत राव गुरव का स्थान अग्रगण्य है। बड़े-बड़े गायक वादक भी गुरव का लोहा मानते थे। कहते हैं कि कभी-कभी पर्वत सिंह भी उनसे कुछ बातें सीखने के लिए चले आते थे। पं० गणपत राव ने अपने पुत्र

माधव राव गुरव एवं अन्य शिष्यों को शिक्षा दी जिनमें बालकृष्ण पाटकर का नाम उल्लेखनीय है।[1]

श्री जोरावर सिंह जी के पुत्र सुखदेव सिंह के शिष्यों में उनके दोनो पुत्र पर्वत सिंह एवं कनैया और श्री राम प्रसाद तथा उ० मिट्ठू के नाम उल्लेखनीय हैं। श्री रामप्रसाद के पुत्र श्री कान्ता प्रसाद भी अच्छा पखावज बजाते थे।

पर्वत सिंह के शिष्यों में उनके तीनों बेटे माधव सिंह, विजय सिंह तथा गोपाल सिंह के उपरान्त उनके दामाद जमना प्रसाद तथा रामदास पाठक के नाम लिये जाते हैं। रामदास पाठक से कानपुर के तेज बहादुर निगम ने तबला सीखा है। तदुपरान्त श्री रामाराव काटे का नाम भी इसी परम्परा से सम्बन्धित है।

श्री माधव सिंह जी ने हीरालाल त्रिपाठी तथा ग्वालियर की एक दूसरी तबला परम्परा के वंशज श्री नारायण प्रसाद रतौनिया को भी सिखाया है।

ग्वालियर की दूसरी परम्परा

ग्वालियर के रतौनिया परिवार में पिछली पाँच पीढ़ियों से तबला तथा पखावज की विद्या वंशपरम्परागत चली आ रही है। श्री नारायण प्रसाद रतौनिया तथा उनके दो पुत्र श्री रामस्वरूप तथा भोगीराम आजकल इस परम्परा को आगे बढ़ाने का उत्तरदायित्व निभा रहे हैं। वैसे उनके परिवार की पांचवीं पीढ़ी के परदादा गणेश उस्ताद इस परम्परा के आद्य पुरुष माने जाते हैं। गणेश उस्ताद ने किस गुरु से शिक्षा पायी थी, इसका उल्लेख नहीं मिलता, किन्तु वे अपने समय में ग्वालियर दरबार के दरबारी कलाकार थे। उनके पुत्र दयाराम उस्ताद को उनके पिताजी से ही शिक्षा प्राप्त हुई थी जो स्वयं अच्छे कलाकार थे। दयाराम उस्ताद के भानजे दाताराम भी नामी कलाकार हो गए हैं। दाताराम उर्फ दानसहाय श्रीमंत माधवराव सिन्धिया के दरबार के सुप्रसिद्ध कलाकार माने जाते थे। नारायण प्रसाद रतौनिया श्री दाताराम के पुत्र है। उन्होंने अपने पिता के उपरान्त अपने पिता के गुरुभाई (दयाराम उस्ताद के शिष्य) पं० राम प्रसाद से, पं० माधव सिंह से तथा अपने ससुर भिलाई राम से भी तालीम ली है। आजकल उनके युवा पुत्र रामस्वरूप तथा भोगीराम अपने वंश के उत्तराधिकारी हैं तथा अच्छे वादकों के रूप में नाम कमा रहे हैं। इस रतौनिया परम्परा में पखावज के उपरान्त मुख्यत: तबले की परम्परा ही चली आ रही है।

ग्वालियर के आधुनिक कलाकारों में रतौनिया भिलाई के अतिरिक्त श्री राजेन्द्र प्रसाद (रज्जन), उनके भाई सज्जन लाल, उ० फैयाज खाँ, उमेश कम्पूवाला तथा मुकुन्द भाले का नाम उल्लेखनीय है। खेद है कि वे सब तबला ही बजाते हैं, पखावज की परम्परा तो ग्वालियर से शनैः शनैः विलीन ही हो रही है।[2]

---

१. तथा २. पं० रामकृष्ण अग्निहोत्री तथा पं० कृष्णराव शंकर पंडित से ग्वालियर में लिये गए साक्षात्कार के आधार पर।
ग्वालियर के विविध संगीत विद्यालयों के प्राध्यापकों, संचालकों, शिक्षको एवं दूसरे कलाकारों से भेंट के आधार पर।
श्री नारायण प्रसाद रतौनिया तथा उनके दोनों पुत्रों की मुलाकात के आधार पर।

तालिका संख्या- १२

ग्वालियर परम्परा-१

जोरावर सिंह

(श्री मंत जनकोजी राव सिंधिया के राज्याश्रित एवं कुदऊ सिंह के समकालीन)

सुखदेव सिंह (पुत्र)   नारायण प्रसाद दीक्षित अग्निहोत्री

पर्वत सिंह (पुत्र)   कन्हैया (पुत्र)   रामप्रसाद   मिट्ठू खाँ   व्यंकटराव दीक्षित (पुत्र)   गणपत राव गुरव

कान्ता प्रसाद (पुत्र)   शंकर राव दीक्षित (भतीजा)

विजय सिंह (पुत्र)   माधव सिंह (पुत्र)   गोपाल सिंह (पुत्र)   जमुना प्रसाद (दामाद)   रामदास पाठक   माधव राव गुरव (पुत्र)   बाल कृष्ण पाटकर

तेजबहादुर निगम (कानपुर)

बालकृष्ण (पुत्र),   सीताराम
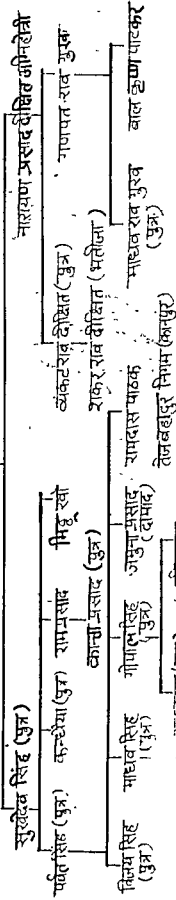
नारायण प्रसाद रतोनिया   हीरा लाल त्रिपाठी   लल्लू सिंह (साला, आगरा)

रामस्वरूप रतोनिया (पुत्र)   भोगीराम रतोनिया (पुत्र)

ग्वालियर परम्परा-२

गणेश उस्ताद

दयाराम उस्ताद

दाताराम उर्फ दान सहाय (भानजा)   राम प्रसाद

नारायण प्रसाद रतोनिया (पुत्र)   कान्ता प्रसाद (पुत्र)

राम स्वरूप (पुत्र)   भोगीराम (पुत्र)
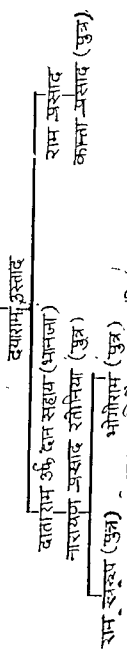
ग्वालियर परम्परा की वादन विशेषता

ग्वालियर परम्परा का बाज सरल, मुलायम तथा गम्भीर है। वादन में माधुर्य तथा संगत में दक्षता एवं सूझ ग्वालियर परम्परा की प्रमुख विशेषता है। ग्वालियर में दो विविध परम्परायें चली हैं और दोनों परम्पराओं में पखावज एवं तबले की विद्या का प्रचार रहा है। श्री जोरावर सिंह तथा गणेश उस्ताद तबला और पखावज दोनों पर समानाधिकार रखते थे। किन्तु श्री जोरावर सिंह की परम्परा में अधिकतर पखावज को ही प्रधानता दी गयी। यद्यपि पर्वत सिंह ने तबले के कई शिष्य तैयार किये। इसके विपरीत गणेश उस्ताद की परम्परा में विशेष रूप से तबला ही बजता आया है।

□□

अध्याय १३

रायगढ़ दरबार की मृदंग-परम्परा

मध्य प्रदेश की रायगढ़ रियासत का संगीत प्रेम सुविख्यात है। वहाँ के गुणग्राहक नरेशों ने वर्षों पर्यन्त संगीत एवं उसके कलाकारों को आश्रय दिया था। यही कारण है कि रायगढ़ दरबार में संगीतकारों एवं नृत्यकारों का सदैव मेला लगा रहता था।

रायगढ़ रियासत में संगीत की नींव डालने वाले महारथी नरेश मदन सिंह की छठवी पीढ़ी के राजा घनश्याम जी के समय से गणेशोत्सव में संगीत सम्मेलनों का आयोजन हुआ करता था। उनके पुत्र भूपदेव सिंह जी भी संगीत-रसिक थे तथा समय-समय पर उत्सवों तथा गणेश पर्व में संगीत सम्मेलनों का आयोजन किया करते थे। किन्तु भूपदेव सिंह के द्वितीय पुत्र महाराज चक्रधर सिंह सन् १९२३ ई० से सन् १९४७ ई० का राज्यकाल रायगढ़ में संगीत का स्वर्णकाल माना जाता है।

महाराज चक्रधर सिंह जी केवल गुणग्राही शासक ही नहीं थे वरन् स्वयं उच्चकोटि के शास्त्रज्ञ, संगीतज्ञ एवं रचनाकार थे। भारत के श्रेष्ठ कलाकार इनके समक्ष अपनी कला को प्रस्तुत करने में गौरव का अनुभव करते थे। श्रेष्ठतम कलाकारों से उनका दरबार भरा रहता था। वे स्वयं मृदंग, तबला, सितार तथा कत्थक नृत्य में प्रवीण थे तथा लखनऊ में आयोजित संगीत सम्मेलन में 'संगीत-सम्राट्' की उपाधि से विभूषित किये गए थे। उनके भाई श्रीमान् नटवर सिंह जी भी मृदंग वादन में प्रवीण थे।

नृत्य एवं तबला-पखावज में महाराज चक्रधर सिंह जी की विशेष रुचि होने के कारण उनके दरबार मे ऐसे किसी तबला पखावज वादक की कला का प्रदर्शन बाकी नहीं रहा जिनकी गिनती भारत के उत्कृष्ट कलाकारों में की जाती हो। ऐसे आमन्त्रित कलाकारों के उपरान्त कुछ कलाकारगण उनके दरबार में आश्रय प्राप्त कर चुके थे, जिनमें पखावज के क्षेत्र में ठाकुर लक्ष्मण सिंह, पं० सखाराम, पं० शम्भू महाराज (बांदा), पं० रामदास, पं० वासुदेव पखावजी, ठाकुर भीखम सिंह, ठाकुर जगदीश सिंह 'दीन' आदि प्रमुख थे।

महाराज चक्रधर सिंह के दरबार में ठाकुर लक्ष्मण सिंह नामक एक विद्वान् पखावज वादक थे। उनका शिष्यत्व ग्रहण करके महाराज ने इस विद्वान् कलाकार का यथेष्ट सम्मान किया था। ठाकुर लक्ष्मण सिंह जी, चक्रधर सिंह महाराज के पिता भूपदेव सिंह के काल से ही राज कलाकार थे।

ठाकुर लक्ष्मण सिंह ने रायगढ़ के मठाधीश संगीताचार्य महन्त श्री गोपालदास से पखावज एवं तबला वादन की शिक्षा प्राप्त की थी। वे गायन, घटवाद्यम, जलतरंग तथा सितार वादन में भी सुगम थे। उन्हें प्रचलित-अप्रचलित तालों की विशद जानकारी प्राप्त थी तथा कमाकारों की विविधता सहज साध्य थी। महाराज चक्रधर सिंह के ग्रन्थ निर्माण कार्य में उनका योगदान अमूल्य था।

ठाकुर लक्ष्मण सिंह जी उदार व्यक्ति थे। उन्होंने महाराज के अतिरिक्त अनेक विद्या-

थियों को निःशुल्क विद्या दी थी, जिनमें उनके भतीजे ठाकुर भीखम सिंह 'मृदंग प्रभाकर', डॉ० हरिसिंह तथा भानजे ठाकुर जगदीश सिंह 'दीन' मृदंगार्जुन के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

ठाकुर लक्ष्मण सिंह के भतीजे ठाकुर भीखम सिंह ने अपने चाचा के उपरान्त कुदऊ सिंह घराने के सन्त मृदंगाचार्य अयोध्या निवासी बाबा ठाकुरदास से तथा नाना पानसे घराने के पखावजी पं० शंकरराव अलकुटकर से भी शिक्षा प्राप्त की थी। इसके उपरान्त रायगढ़ दरबार के गुणीजनों से भी वे यथासम्भव मार्गदर्शन लेते रहे थे।

ठाकुर जगदीश सिंह 'दीन' रायगढ़ दरबार के सम्माननीय कलाकार थे। उन्होंने अपने मामाजी तथा अयोध्या के बाबा ठाकुरदास जी, शम्भू महाराज पखावजी (बांदा), नृत्य-सम्राट् जयलाल महाराज (जयपुर), उ० कादिर बख्श खां (पंजाब), उस्ताद नत्थू खां (दिल्ली), तथा बाबा मलंग खां (पंजाब) से मार्गदर्शन भी प्राप्त किया था। आजकल रायगढ़ में उनके पुत्र ठाकुर वेदमणि सिंह उनकी कला के उत्तराधिकारी हैं तथा अपने पिता द्वारा स्थापित 'ठाकुर लक्ष्मण सिंह संगीत विद्यालय' का संचालन करते हुये अपने कुल की परम्परा को निभा रहे हैं। उनके प्रमुख शिष्यों में सर्वश्री धर्मराज सिंह, महेन्द्रप्रताप सिंह तथा केशव आनन्द शर्मा हैं। उनके सुपुत्र श्री धुरन्धर सिंह भी उसी मार्ग पर अग्रसर हैं । श्री केशव आनन्द शर्मा की शिष्या कु० नीलम गुप्ता ने भी इस क्षेत्र में पदार्पण किया है।

महाराज चक्रधर सिंह ने अपने कानपुर दरबार के आश्रित विद्वानों एवं कलाकारों की सहायता से स्वयं संगीत के पाँच अमूल्य ग्रन्थों की रचना की थी, जो आप में अनूठे हैं। इन हस्तलिखित विशालकाय ग्रन्थों में रागों पर आधारित "रागरत्न मञ्जूषा", नृत्य पर आधारित "नर्तन सर्वस्व" तथा लय ताल पर आधारित "ताल तोय निधि", "ताल बल पुष्पाकर" एवं "मुरज परन पुष्पाकर" प्रमुख हैं।

इन सभी ग्रन्थों में "ताल तोय निधि" लय ताल के विषय का एक महत्वपूर्ण एवं आधारभूत ग्रन्थ है, जिसका वजन ३२ किलोग्राम है। वह करीब दो हजार संस्कृत श्लोकों में लिखा गया है। "भरत नाट्य शास्त्र", "संगीत रत्नाकर" तथा "संगीत कलाधर" पर आधारित इस विशालकाय हस्तलिखित ग्रन्थ में दो से लेकर तीन सौ अस्सी मात्रा तक तालों का तालचक्र सहित विशद वर्णन है।

इन ग्रन्थो की रचना के पीछे दरबार के अनेक गुणी कलाकारों के सहयोग के उपरान्त गुरु ठाकुर लक्ष्मण सिंह, पं० भगवान जी पांडेय, अयोध्या निवासी पं० भूषण महाराज तथा संस्कृत श्लोकों के लिये महामहोपाध्याय पं० सदाशिव दास शर्मा का भी विशेष योगदान रहा है।

तालिका १३

रियासत रायगढ़ की परम्परा

- महन्त श्री गोपालदास जी
  - ठाकुर लक्ष्मण सिंह जी (शिष्य)
    - महाराज चक्रधर सिंह (महाराजा रायगढ़)
    - नटवरसिंह जी (महाराजा चक्रधर सिंह के छोटे भाई)
    - ठाकुर जगदीश सिंह 'दीन' (भानजे)
      - ठाकुर वेदमणि सिंह (पुत्र)
        - धुरन्धर सिंह (पुत्र)
        - महेन्द्रप्रताप सिंह (शिष्य)
        - धर्मराज सिंह (शिष्य)
        - केशव आनन्द शर्मा (शिष्य)
          - श्रीमती नीलम शर्मा
    - ठाकुर भीखम सिंह (भतीजे)
    - डॉ० हरिसिंह (शिष्य)

□□
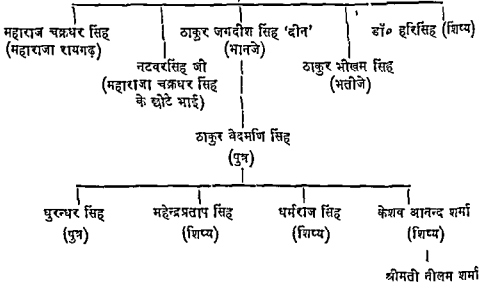
गुजरात-सौराष्ट्र तथा राजस्थान की मृदंग परम्परायें

संगीत जगत् में साधारणतया ऐसी भ्रामक धारणा फैली हुई है कि गुजरात एवं सौराष्ट्र संगीत कला से विमुख हैं। वहां केवल व्यापारी लोग ही रहते हैं, अतः संगीत को समझने, चाहने एवं सराहने वाले लोग वहां बहुत कम हैं किन्तु वास्तविकता कुछ और ही है। गुजरात सौराष्ट्र के देशी राज्यों में करीब सवा सौ वर्षों तक जो शिल्प, चित्र, साहित्य एवं संगीत का विकास हुआ, वह असाधारण है।

इतिहास साक्षी है कि भारतवर्ष में सर्वप्रथम अखिल भारतीय संगीत परिषद् का आयोजन गुजरात राज्य के बडोदरा (बड़ौदा) नगर में ही हुआ। पं० विष्णुनारायण भातखण्डे जी ने श्रीमन्त सियाजी राव गायकवाड़ की अध्यक्षता में अखिल भारतीय स्तर की इस संगीत परिषद् का आयोजन सन् १९१६ मे बड़ौदा में किया था, जो अपने स्तर का प्रथम सम्मेलन था।[1] जनता में संगीत शिक्षण के हेतु शास्त्रीय संगीत के विद्यालय का प्रारम्भ भी वड़ोदरा में सन् १८८६ की फरवरी में श्रीमन्त सियाजी राव गायकवाड़ के द्वारा हुआ था, जो भारत में अपने ढंग का प्रथम विद्यालय माना जाता है।[2]

बड़ोदरा के श्रीमन्त साहब ने 'कलावन्त कारखाने' नाम का एक खास विभाग अपने दरबार में आरम्भ किया था जो पं० हिरजी भाई डाक्टर की निगरानी में वर्षों पर्यन्त चलता रहा। इसमें भारत के अनेक कलाकार सम्मिलित होते थे। आफताबे मूसिकि उ० फैयाज खां सहित भारत के करीब १५० गुणी कलाकार 'कलावन्त कारखाने' को सुशोभित करते थे। श्रीमन्त साहब ने इस कारखाने के योग्य संचालन के हेतु सुप्रसिद्ध वीणा वादक तथा शास्त्रज्ञ पं० हिरजी भाई डाक्टर को नियुक्त किया था तथा वाद्य के क्षेत्र में नासिर खां पखावजी तथा उनके शिष्य कान्ता प्रसाद, गंगाराम मृदंगाचार्य, तबला नवाज करीमबख्श, गुलाबसिंह तथा उनके दोनों पुत्र कुबेर सिंह एवं गोविन्द सिंह आदि इस 'कलावन्त कारखाने' के कलाकार थे।[3]

पंजाब घराने के कुछ सुप्रसिद्ध तबला वादक, उ० ताज खां डेरेदार के पुत्र उ० नासिर खां पखावजी वर्षों पर्यन्त बड़ोदरा दरबार के दरबारी कलाकार रहे थे। वे महाराज खाण्डेजी राव तथा महाराज सियाजी राव के दरबार के उत्कृष्ट कलारत्न थे। नासिर खां ने अपने पिता के उपरान्त मथुरा के पं० जानकी प्रसाद से शिक्षा ली थी। उ० नासिर खां ने बड़ोदरा में अनेक शिष्य तैयार किये, जिनमें पं० कान्ता प्रसाद, हिम्मतराम बक्षी, विष्णुपन्त जोशी, गणपत राव बसईकर, कृष्णराव लक्ष्मण शिलेदार तथा नासिर खां के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। उ० नासिर खां के एक प्रमुख शिष्य श्री नरहर शंभुराव भावे ने उ० नासिर खां की वादन

१. गुजरात अने संगीत (गुजराती लेख), पुस्तक 'संगीत चर्चा', प्रो० आर० सी० मेहता, पृष्ठ ६।
२. वही, पृष्ठ ६-७।
३. प्रो० हिरजी भाई डाक्टर से भेंट के आधार पर।

शैली का विस्तृत परिचयात्मक विवेचन करते हुए मराठी भाषा में एक पुस्तक तैयार की है, जिसका नाम है "मरहुम नासिर खां याचां मृदंगबाज।"

बड़ोदरा के उपरान्त गुजरात के अहमदाबाद शहर में भी मृदंग की लोकप्रियता रही है। नाना पानसे घराने के उत्तराधिकारी मृदंगाचार्य पं० गोविन्द राव बुरहानपुरकर दीर्घकाल तक अहमदाबाद के सुप्रसिद्ध साराभाई परिवार से संबंधित थे।

श्री अम्बालाल साराभाई की पुत्री श्रीमती दुर्गा साराभाई ने पं० बुरहानपुरकर से मृदंगवादन की दीर्घ तालीम ली थी। आजकल वे बड़ोदरा में रहती हैं।

जामनगर की बलदेव सा परम्परा

गुजरात की तरह ही सौराष्ट्र के रजवाड़ों में भी मृदंग की परम्परा काफी विकसित हुई थी। सौराष्ट्र में जामनगर के पं० आदित्यराम जी की 'बलदेव सा परम्परा' अपना विशेष महत्व रखती है। जामनगर के समर्थ मृदंगाचार्य पं० आदित्यराम जी को लोग आज भी बड़ी श्रद्धा के साथ याद करते हैं और *गुजरात-सौराष्ट्र का स्वामी हरिदास* कहकर इनका गौरव करते हैं।

पं० आदित्यराम जी जूनागढ के निवासी थे तथा जूनागढ के नवाब बहादुर खां के दरबारी कलाकार भी थे। उन्होने 'संगीतादित्य' नामक ग्रन्थ की रचना की। गिरनार के किसी सिद्ध योगी से इन्होंने पखावज वादन में अद्भुत योग्यता प्राप्त की थी। इनके बारे में एक किंवदन्ती सुनने को मिलती है कि कुदऊ सिंह की तरह इन्होने भी अपने लाजवाब मृदगवादन से एक मदमस्त हाथी को वश में किया था। प० आदित्यराम जी करीब-करीब कुदऊ सिंह के समकालीन थे। सन् १८४१ में वे जूनागढ़ छोड़कर जामनगर चले गए और अन्त तक जामनगर में ही रहे।

जामनगर के महाराजा जाम रणमल जी संगीत के बहुत प्रेमी थे। आदित्यराम जी के साथ उनका स्नेहपूर्ण सम्बन्ध था। उनके दरबार में आदित्यरामजी को अत्यन्त सम्माननीय स्थान प्राप्त था। वे जाम साहब के युवराज को भी तालीम देते थे। जामनगर में पं० आदित्यराम जी ने अनेक शिष्य तैयार किये जिनमें पं० बलदेव शंकर भट्ट प्रमुख हैं। बम्बई के कलाकार पं० चतुर्भुज राठौर बलदेव शंकर भट्ट के शिष्य हैं। चतुर्भुज राठौर के दोनों पुत्र भी आदित्य घराने की परम्परा को निभा रहे हैं। पं० आदित्यराम जी की जन्मभूमि जूनागढ़ होते हुए भी उनकी कर्मभूमि जामनगर रही है, अतः उनका घराना 'जामनगर का बलदेव सा घराना' कहलाता है।

जूनागढ़ के दरबारी कलाकारों में उ० मंगल खां का नाम भी विशेष उल्लेखनीय है।

वैष्णव सम्प्रदाय के कलाकारो मे पोरबन्दर के गोस्वामी घनश्याम लाल जी तथा उनके पुत्र गोस्वामी द्वारकेश लाल जी तथा गोस्वामी दामोदर लाल जी के नाम प्रसिद्ध हैं। यद्यपि वैष्णव परम्परा में इनका उल्लेख हो चुका है तथापि सौराष्ट्र की परम्परा मे भी उनका उल्लेख अनिवार्य है। उनके समय में भारत के प्रसिद्ध कलाकार पोरबन्दर को कला का तीर्थधाम मानते थे। गोस्वामी द्वारकेश लाल जी के दो पुत्र गोस्वामी माधव राव तथा गोस्वामी रसिक राव भी संगीत के ज्ञाता एवं आश्रयदाता हैं। वे सभी लोग ध्रुवपद गायकी एवं पखावज तथा तबला वादन में भी प्रवीण हैं।

वैष्णव सम्प्रदाय के इन पोरबन्दरी कलाकारों के उपरान्त भड़ौच के जगदीश मन्दिर वाले मंगु भाई पखावजी, हालौल के जीवन लाल पखावजी तथा डाकोर के ज्येष्ठाराम पखाव जी के नाम भी मिलते है।

नोट—गुजरात सौराष्ट्र की मृदंग परम्परा की जानकारी निम्नलिखित पुस्तकों एवं साक्षात्कारों पर आधारित है—

(अ) संगीत चर्चा (गुजराती) : प्रो० आर० सी० मेहता।

(व) भारत ना संगीत रत्नो : भाग १, २ (गुजराती) : पं० मूलजी भाई पी० शाह।

(स) बड़ौदरा के वयोवृद्ध विद्वान् पंडित हिरजी भाई आर. डाक्टर से व्यक्तिगत भेंट तथा पत्र व्यवहार पर आधारित।

(द) गुजरात सौराष्ट्र के कुछ कलाकारों की तथा एम. एस. म्यूजिक कालेज बड़ौदरा के प्राध्यापकों की भेंट पर आधारित।

राजस्थान की मृदंग परम्परा

(१) जयपुर की परम्परा—राजस्थान में जयपुर का "गुणीजन खाना" वहाँ के शासको की कला भक्ति और कद्रदानी का उत्कृष्ट उदाहरण है। सन् १७२७ में सवाई जयसिंह द्वारा जयपुर अथवा जयनगर की स्थापना हुई। भारतीय गणराज्यों में जयपुर राज्य के विलय तक के करीब सवा दो सौ साल तक "गुणीजन खाना" नाम की यह ऐतिहासिक संस्था राज्य की ओर से चलती रही थी। जयपुर के राजाओं में पीढ़ी दर पीढ़ी से संगीत प्रेम चला आ रहा था, अतः इन दिनो समग्र देश के सैकड़ो कलाकार "गुणीजन खाने" में आश्रय पाकर उदर-पोषण एवं आत्म सम्मान पाते थे।

मुगल साम्राज्य के पतन के पश्चात् दिल्ली दरबार के बहुत से कलाकार वहाँ से दूसरे राज्यों में चले गए, जिनमे लखनऊ, हैदराबाद, रामपुर, रायगढ, इन्दौर, दतिया, अलवर, जयपुर, जोधपुर, बड़ौदरा आदि राज्य प्रमुख थे।

इन दिनों दिल्ली से अनेक कलाकार जयपुर दरबार में आए और "गुणीजन खाने" में स्थान पाकर सम्मानित हुये। यही कारण है कि दिल्ली घराने के तबले और पखावज का प्रचार और प्रभाव जयपुर की ओर अधिक रहा। तत्पश्चात् स्थानीय प्रभाव एवं तत्कालीन परिस्थितियों के अनुरूप एक नवीन वादन शैली का प्रारम्भ जयपुर में उन दिनो हुआ जो दिल्ली घराने पर आधारित तथा दूसरे घरानों से प्रभावित होती हुई भी पृथक् था।

"गुणीजन खाने" मे गायन, वादन तथा नृत्य के कार्यक्रमों एवं सम्मेलनो के उपरान्त पुस्तकों की रचना भी होती थी। वहाँ राजाओं के द्वारा प्रोत्साहन मिलने के कारण विद्वानों एवं शास्त्रज्ञों द्वारा अनेक उत्कृष्ट ग्रन्थों की तथा रागों की चित्रावलियों की रचना हो सकी। आज भी जयपुर के राजकीय पुस्तकालय के खास "मोहर विभाग" में मूल्यवान पोथियों, पांडु-लिपियों एवं रागों की चित्रावलियों का संग्रह है, जो वहाँ के राजाओं के संगीत प्रेम का साक्षी है।

महाराज रामसिंह (द्वितीय) के समय में 'गुणीजन खाने' मे सत्रह पखावजी नियुक्त थे, ऐसा उल्लेख मिलता है। महाराजा माधोसिंह (द्वितीय) के समय में गुणीजन पखावजी मुलाजिम थे जिनके नाम इस प्रकार मिलते हैं—सर्वश्री छुट्टन खाँ,

इनायत अली, मदतअली, कुतुब अली, किल्पे भूरवख्श, भुवनी, चोथु, रामकँवर, सबलदास, अजीजुद्दीन, जगन्नाथ पारिख आदि। इन सब में पखावजी जगन्नाथ प्रसाद पारीक का देहान्त कुछ वर्ष पूर्व ही हुआ है। इन पखावजियों में कुछ लोग पखावज के साथ-साथ अच्छा तबला भी बजा लेते थे। अब तो इस 'गुणीजन खाने' का कोई भी कलाकार जीवित नहीं बचा है।[1]

(२) जयपुर की हालुका अथवा नाथद्वारा की परम्परा—'गुणीजन खाने' के पखावजियों के साथ ही जयपुर में एक दूसरी परम्परा भी पूर्वकाल से विख्यात थी, जिसकी चर्चा हम वैष्णव सम्प्रदाय की परम्पराओं के इतिहास मे कर चुके हैं।

आगरे मे आरम्भ हुई, राजस्थान के जयपुर में विकसित हुई तथा नाथद्वारा के श्रीनाथ जी के मन्दिरो मे पिछली दो सदियो में समृद्ध एवं विस्तृत हुई यह शिक्षित परम्परा संगीत जगत् में जयपुर अथवा नाथद्वारा की परम्परा के नाम से आज भी अत्यन्त सुप्रसिद्ध है। इस परम्परा में पिछली दस पीढ़ियो से वंशपरम्परागत शिक्षा चली आ रही है। यद्यपि इस परम्परा का विस्तृत इतिहास हम नाथद्वारा की वैष्णव परम्परा में देख चुके हैं और यहाँ उसे दोहराना अनावश्यक होगा तथापि जयपुर घराने के इस विशिष्ट अध्याय में उसका संक्षिप्त उल्लेख करना आवश्यक जान पड़ता है।

लगभग ढाई सौ से भी अधिक साल पूर्व राजस्थान के आमेर शहर में इस परम्परा के आदि पुरुष प० तुलसीदास जी हुए, जो पखावज की कला के अच्छे ज्ञाता थे। इनके वंश मे इनके पौत्र हालुजी एक अच्छे कलाकार थे, जिनके कारण यह परम्परा सुदृढ हुई। हालुजी के नाम से आमेर शहर मे, जो उन दिनो राजधानी था, हालुका की पोल बनी थी जहाँ कलाकार रहा करते थे। आज तो आमेर के पतन के साथ बड़े पोल भी खण्डहर बन चुकी है। तत्पश्चात् जयपुर शहर का उत्थान हुआ और वह राजपूत महाराजाओं की राजधानी बना। अतः बहुतेरे कलाकार जयपुर आकर बस गए। जयपुर में भी उनके पूर्वज के नाम से हालुका का मुहल्ला बस गया। घराने के कुछ वंशज एवं शिष्यगण आज भी रहते हैं।

हालुजी की चौथी पीढ़ी में पं० रूपराम जी हुए, जो स्वयं उच्चकोटि के पखावजी थे। उन्होंने सम्वत् १७६१ में जयपुर से जोधपुर प्रस्थान करके दरबारी कलाकार के रूप में आश्रय प्राप्त किया था। अपनी उत्तरावस्था में वे अपने युवा पुत्र वल्लभदास जी के साथ जोधपुर दरबार की नौकरी छोड़कर श्री १०८ बडे गिरधारी जी महाराज की आज्ञा से नाथद्वारा आकर बस गए थे। वहाँ श्री नाथ जी के मन्दिर में वे ठाकुर जी की सेवा में आजीवन सेवारत रहे। तब से आज तक उनके वंशज नाथद्वारा में ही ठाकुर जी की सेवा करते आये हैं। यही कारण है कि यह परम्परा जयपुर परम्परा के अतिरिक्त नाथद्वारा की मृदंग परम्परा के नाम से अधिक पहचानी जाती है। इस वंश में पं० वल्लभदास जी के दो पुत्र शंकर लाल तथा खेम लाल एवं उनके पौत्र घनश्याम दास तथा श्याम लाल हुए हैं जो अपने समय के उत्कृष्ट मृदंगाचार्य थे। श्री खेम लाल ने 'मृदंग सागर' नामक एक वृहद् ग्रन्थ लिखना आरम्भ किया था। दुर्भाग्यवश इनके जीवन काल में वह पूरा नहीं हो सका जो इनके भतीजे घनश्याम जी ने पूर्ण किया एवं बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में उसे छपाकर प्रसिद्ध भी किया। इस वंश के

---

१. गुणीजन खाना : लेख डा० चन्द्रमणि सिंह, राजस्थान पत्रिका : १८ नवम्बर १६७७, पृ० ६ तथा जयपुर के कलाकारों की भेंट के आधार पर।

अन्तिम वंशज पुरुषोत्तम दास जी घनश्याम दास जी के पुत्र हैं। इनकी शिष्यपरम्परा काफी विस्तृत है, जिसमें उनके नाती प्रकाश चन्द्र का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

जयपुर के हालुका मोहल्ले में अनेक कलाकार हैं जिनमें पं० नारायण जी, पं० मांगीलाल जी तथा पं० बद्री जी के नाम प्रमुख हैं। जयपुर के श्री बद्रीनारायण पारीक के अनुसार हालुका घराने के सुप्रसिद्ध पखावजी मांगी लाल जी तथा पं० बद्री जी के नाम प्रमुख हैं। जयपुर के श्री बद्रीनारायण पारीक के अनुसार हालुका घराने के सुप्रसिद्ध पखावजी मागीलाल से जयपुर के गुणीजन खाने के कलारत्न जगन्नाथ प्रसाद पारीक ने अपनी प्रारंभिक शिक्षा प्राप्त की थी।

जयपुर मे जोरावर सिंह नामक एक पखावजी भी हुए थे। नाथद्वारा के कुछ पखावजी इस परम्परा से भी संबधित थे, ऐसा कुछ का मन्तव्य है। (यह जोरावर सिंह ग्वालियर के जोरावर सिंह से पृथक् है तथा इनका उल्लेख घनश्याम दास कृत मृदंगसागर में नहीं मिलता है)।

जोधपुर के कलाकार—जोधपुर के दरबारी कलाकार श्री पहाड़ सिंह करीब ढाई सौ वर्ष पूर्व हुए थे। वे अपने युग के काफी प्रसिद्ध पखावजी माने जाते थे। वे दिल्ली घराने से सम्बन्धित थे तथा जोधपुर के कला रसिक राजाओं के आमन्त्रण से वहाँ आकर बसे थे। उनके पुत्र जौहार सिंह भी अच्छे पखावज वादक थे, जो जोधपुर दरबार के आजीवन आश्रित कलाकार रहे। श्री पहाड सिंह और श्री रूपराम दोनों समकालीन थे तथा दोनों जोधपुर दरबार के आश्रित कलाकार थे। श्री पहाड सिंह के प्रति रूपराम जी को बहुत आदर-सम्मान था। रूपराम जी ने अपने पुत्र बल्लीन दास को पहाड़ सिंह जी से शिक्षा दिलवायी थी। फलस्वरूप नाथद्वारा की इस परम्परा में श्री पहाड सिंह की विद्या का भी कुछ अंश उपस्थित है।

जयपुर घराने की विशेषता

जयपुर घराने का बाज वजनदार बाज है। इसमें प्राय: जोरदार बोल वजते हैं। 'धुं धुं' 'कुं कुं' 'धड़ान्त' 'तड़ान' आदि बोलों का प्राधान्य इसमें देखने को मिलता है। दिल्ली और कुदऊ सिंह इन दोनों घरानो का प्रभाव जयपुर के बाज पर दिखाई देता है। यद्यपि कुदऊ सिंह घराने के बाज से वह अधिक निकट लगता है तथापि वह उससे कुछ भिन्न भी है।

जयपुर में मुख्यत: दिल्ली से बहुतेरे कलाकार आकर बसे थे। अत: दिल्ली घराने की मृदुता एवं माधुर्य तथा कुदऊ सिंह के बाज की प्रबलता और गम्भीर्य दोनों का सुन्दर समन्वय जयपुर के बाज में देखने को मिलता है। यद्यपि आज तो जयपुर, जोधपुर, उदयपुर और राजस्थान के प्रमुख शहरों में पखावज वादक प्राय: शेष हो चुके हैं तथापि नाथद्वारा की परम्परा में आज भी कुछ पखावजी जीवित हैं जो इस परम्परा की विद्या को तथा इसकी खूबियों को सँभालने में प्रयत्नशील हैं।

जयपुर परम्परा का इतिहास निम्नलिखित पर आधारित है —

(१) 'मृदंग सागर' घनश्याम दास पखावजी जीवनी अध्याय, पृ० १ से १० तथा पृ० ११ से ४०।

(२) नाथद्वारा के वंशपरम्परागत कलाकार पं० पुरुषोत्तम दास पखावजी के आधार पर।

(३) पखावजी जगन्नाथप्रसाद पारीक के पुत्र बद्रीप्रसाद पारीक से प्राप्त जानकारी के अनुसार।

(४) गोस्वामी कल्याण राय तथा गोस्वामी गोकुलोत्सव महाराज की नाथद्वारा में ली गयी भेंट के आधार पर।

प्रकीर्ण

उक्त पखावज के घराने तथा उनकी वंश परम्पराओं के उपरान्त कुछ ऐसे कलाकारों का उल्लेख यहाँ अनिवार्य हो जाता है जिनके नाम घरानेदार परम्परा में सम्मिलित करना सम्भव नहीं हो सका है किन्तु कलाकार के रूप में वे निस्सन्देह अपना विशेष योगदान रखते हैं तथा उनका व्यक्तिगत योगदान पखावज के क्षेत्र में महत्वपूर्ण है।

सर्वप्रथम मोहम्मद शाह रंगीले के युग के तथा १६वीं शताब्दी के कुछ पखावजियों को देखेंगे। इन दिनों अखिल भारतीय स्तर के प्रख्यात कलाकारों में ढोलक वादक हुसैन खाँ, उनके शिष्य धन्ना, शाह दरवेज शाहबाद कासिम खाँ, पूरन खा, सुजान खा, रघुनाथ सिंह, मखदूम बक्श, भब्बू, अधावन आदि कलाकारों के नाम प्रमुख हैं।[१]

दक्षिण महाराष्ट्र में १६ वी शती के अन्त में श्री मोगरी रामैय्या नाम के उत्कृष्ट पखावज वादक हो गये है जो लयकारी पर अद्भुत प्रभुत्व रखते थे और कहते थे कि यदि मैं ताल चूकूँगा तो पखावज फोड़ दूँगा। अतः इनका नाम मोगरी रामैय्या पड गया था।[२]

तदुपरान्त भारत के समर्थ पखावज वादकों में जमखडी के पखावजी दादा खरे, वाई के मार्तन्ड बुआ चोन्डे (इनका अपना स्वतन्त्र बाज था), गोवे के मुरखा गोवेकर, सांगली के दाढा कुंटे, बम्बई के पुरुषोत्तम पन्त दामले, कोल्हापुर के बाबूराम दिन्डे, चौल अलीबाग के पांडुरंग आठवले, रत्नागिरि के गो० मो० आठले, अबेजो गाई के माधवराव पुजारी, सहारनपुर के बब्बू खा पखावजी, खा साहब जगबख्श रमई, प्यारेलाल दर्जी, विनोद बाबू कुन्ज्या, ढूंढे महाराज तथा उनके पुत्र जानकी प्रसाद भट्ट, अयोध्या के मन्ना मास्टर आदि अनेक उल्लेखनीय नाम हैं जिनके गुरुओं के नाम अज्ञात होने के कारण इन्हे घरानों के दायरों में सम्मिलित करना सभव नहीं हो सका है।[३]

उत्तर भारत की तरह ही, दक्षिण भारत तथा उड़ीसा के मन्दिरों में भी गायन, वादन, नृत्य की परम्परा तथा देवदासियों की प्रथा सदियों से रही है। आधुनिक युग मे प्रचलित, इन दोनों प्रणालियों के संगीत को सुन करके हम कह सकते हैं कि इन दोनों शैलियों में काफी अन्तर सुस्पष्ट है। अतः इनकी मृदंग वादन शैली के साथ हमारे मृदंग पखावज की शैली का मेल

---

१. मयदन उन मूसिकि : मोहम्मद करम इमाम : पृ० २३ से ५०।

२. संगीत शास्त्रकार व कलावंत यांचा इतिहास : मराठी ल० द० जोशी, पृ० १७५।

३. संगीत शास्त्रकार व कलावंत यांचा इतिहास : मराठी, लक्ष्मण दत्तात्रय जोशी।
"मध्यप्रदेश के संगीतज्ञ" : प्यारेलाल श्रीमाल।
"गोमान्तक की प्रतिभा" : सं श्री वा. द.।
"हमारे संगीत रत्न" : लक्ष्मी नारायण गर्ग।
"वैदर्भीय संगीतोपासक" : नारायण मंगरूलकर आदि पुस्तकों पर आधारित।

नही बैठता। तथापि यह निश्चित है कि वहाँ भी हमारी तरह ही सदियों से मृदंग बजता आया है और उनकी भी अपनी एक निराली मृदंग परम्परा सदियों से चली आ रही है।

गोमान्तक (गोवा) प्रदेश का मृदंग कुछ अलग होता है। धार्मिक परम्परा और मन्दिरों में सदैव स्थान पाने के कारण मृदंग वादन गोवा में परापूर्व से अलग चला आ रहा है, किन्तु दुर्भाग्य से उसका विशेष इतिहास उपलब्ध नही होता। गोवा के प्रसिद्ध पखावज वादकों में श्री हरिश्चन्द्र पर्वतकर, श्री शिवगावकर आदि के नाम लिए जाते हैं।

इन घरानों, परम्पराओ, राजदरबारों, मन्दिरों, पुस्तको, साक्षात्कारों एवं वार्तालापों से प्राप्त इतिहास के उपरान्त भी संभव है कि इस पुस्तक मे अनेक कलाकारों के नाम—परिचय छूट गये होंगे। भारत विशाल देश है, अतः यथासम्भव प्रयत्न करने पर भी यह होना सहज है।

उपर्युक्त घरानों एवं परम्पराओं के पश्चात् पिछली दो शताब्दियों में कुछ और भी परम्पराएँ प्रकाश में आई हैं, जिनमें वैष्णव सम्प्रदाय की विविध परम्पराएँ, नाथद्वारा की परम्परा, गुजरात, सौराष्ट्र के रजवाड़ों में फैली परम्परा, जोधपुर (राजस्थान) की परम्परा, बनारस की परम्परा आदि प्रमुख हैं। इन सभी परम्पराओं का सम्बन्ध निश्चित ही कही न कही से लाला भगवानदास जी, लाला भवानीदीन जी तथा लाला केवलकिशन जी से सम्बन्धित है। दुःख इस बात का है कि गत कुछ दशको से मृदंग पिछड़ रहा है और इसकी महान् कला काल के गर्त में डूबी जा रही है। तबले के प्रति जनसाधारण की अभिरुचि को बढ़ते देख कर अनेक उच्चकोटि के मृदंगवादक स्वय तबला बजाने लगे हैं। मृदग के घरानों में नई पीढ़ी को तबला सिखाया जाने लगा है। नाना पानसे, कुदऊसिंह, ब्रज, बंगाल, मंगल वेढेकर आदि समस्त घरानों एव परम्पराओ में तबले का प्रचार उल्लेखनीय रूप से विस्तृत हो रहा है। पजाब घराने में तो तबला ही सर्वोपरि हो गया है। आधुनिक पीढ़ी के लोग मृदग सीखने की अपेक्षा तबला सीखने पर अधिक बल दे रहे हैं। इसके कई कारण हैं। *यथा—*

(१) मृदंग की अपेक्षा तबले में श्रम कम लगता है।

(२) वर्तमान समय में तबले के द्वारा आजीविका का प्रश्न सरलता से हल हो जाता है, क्योंकि तबला सभी विधाओ के साथ संगति में सरलता से उपयोगी सिद्ध हुआ है। इसलिये लोगो का मृदंग की अपेक्षा तबले के प्रति आकर्षित होना स्वाभाविक ही है।

(३) *मृदंग की लोकप्रियता कम होने का मुख्य कारण ध्रुपद गायकी का प्रचलन लुप्त*-प्राय हो जाना है। ध्रुपद गायन विद्या के लिये शताब्दियों से मृदंग ही एकमात्र ताल वाद्य समझा जाता रहा है। यद्यपि आजकल देश में लोग इस बात के लिये सचेष्ट हो रहे हैं कि ध्रुपद गायकी एवं मृदंग की अक्षुण्ण परम्परा को जीवित रखा जाये। यह निश्चित ही शुभ लक्षण है। इस दिशा में युवा पीढ़ी ध्रुपद गायन शैली की घरानेदार कला को सीखें, मनन करें एवं ग्रहण करें तभी यह परम्परा जीवित रह सकती है।

□□

द्वितीय खंड

अध्याय १

तबले की जन्म-कथा

उत्तर भारत के अभिजात संगीत का सर्वाधिक प्रचलित एवं लोक-प्रिय ताल वाद्य 'तबला' है। आज तो गायन की सभी विधाओं में, तन्त्र वाद्य एवं नृत्य की संगति में तबला एक अनिवार्य वाद्य बन चुका है। उसका एकमात्र कारण यही है कि इस वाद्य में अन्य अवनद्ध वाद्यों जैसे पखावज, ढोलक, नाल आदि वाद्यों के सभी गुण विद्यमान हैं। परिणामतः छोटी महफिल, संगीत सम्मेलन, आकाशवाणी या दूर-दर्शन सभी स्थानों पर तबले का ही प्रभुत्व स्थापित हो चुका है। आगे हम इस महत्वपूर्ण अवनद्ध वाद्य के उद्भव, विकास, परम्परा एव भिन्न-भिन्न घरानों की वादन शैलियों का अध्ययन करेंगे।

आज के तबले की परम्परा पिछले लगभग तीन सौ वर्षों से क्रमिक शृङ्खला में चली आ रही है। इन शताब्दियों में कितने ही उच्चकोटि के कलाकार, साधक एवं रचनाकार पैदा हुये हैं। परन्तु इस वाद्य का कुछ ऐसा दुर्भाग्य रहा है कि बीसवीं सदी के मध्य काल तक के पूर्व की कोई प्रामाणिक पुस्तक नही मिलती, जिससे उस समय की वादन विधि, कलाकारों का समयबद्ध इतिहास एवं परम्परा की ठोस जानकारी मिल सके। अतः इसके आविष्कार एवं जन्म-काल के विषय में विद्वानों में काफी मतभेद है। यही नहीं, तबला सम्बन्धी अन्य बातों जैसे—पारिभाषिक शब्द, ताल की मात्रायें एवं बोल और बोल निकास आदि पर भी विभिन्न मत हैं। इस दशा में दन्त-कथाओं, प्राचीन मन्दिरों की मूर्तियो एवं भित्ति-चित्रों का आधार लेना पड़ता है।

तबले की उत्पत्ति

आज हम जिसे तबला बांयां के नाम से सम्बोधित करते हैं, उसके हूबहू रूप का चित्र या इतिहास सत्रहवी सदी के पूर्व का हमें प्राप्त नही होता। परन्तु इससे इस निष्कर्ष पर नहीं पहुँचना चाहिये कि तबला नामक या तबला जैसा कोई ताल वाद्य इसके पूर्व अस्तित्व में था ही नही। देश के विभिन्न भागों में पुरातन शिल्पों में कुछ ऐसे ताल-वाद्यों की मूर्ति एवं भित्ति-चित्र मिलते हैं जो आधुनिक तबला-बांया की जोड़ी से बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं।

अति प्राचीन काल से ही अनेक वाद्य हमारे सामान्य जन जीवन के सांस्कृतिक एवं कलात्मक पक्षों से सम्बन्धित रहे हैं। भुवनेश्वर, कोणार्क, अमरावती, बदामी आदि गुफाओं तथा मन्दिरों की शिल्प-मूर्तियों में हमें ऐसे अनेक ताल वाद्यों के चित्र मिलते हैं जिनका स्वरूप आज के तबले की जोड़ी जैसा है। ये गुफायें लगभग ईसा पूर्व २०० वर्ष से लेकर १६वीं शती के काल की है। ये मूर्तियां एव शिल्प उस समय के जन-जीवन के प्रतीक हैं। कलाकार अपने युग का वर्णन अपनी कला के माध्यम से करता है। इतना ही नही, तबले से साम्य रखता हुआ महाराष्ट्र का एक लोक-ताल वाद्य है जिसे 'सम्बल' कहते हैं। इसका प्रयोग वहां के लोक-संगीत में सदियों से चला आ रहा है। 'दर्दुर' एक प्राचीन अवनद्ध वाद्य है। इसकी चर्चा भरत ने 'नाट्य शास्त्र' में की है। इसके अतिरिक्त नक्कारा भी एक ऐसा वाद्य है जो तबले की जोड़ी से मिलता-जुलता है।

उत्तर भारत की गायन-शैली में ख्याल गायन-शैली का प्रवेश १४वीं सदी से प्रारम्भ हो गया था। यह युग तबले के लिये भी विशेष महत्व का है। कहते हैं, आवश्यकता आविष्कार की जननी होती है। ख्याल एव ठुमरी जैसी शृंगारिक एव मधुर गायन शैली के लिये पखावज वाद्य उपयुक्त न था। अतः किसी अन्य वाद्य की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी और यही आवश्यकता तबले के जन्म और विकास की जननी है।

नवीन गायन शैली में तबले की आवश्यकता तथा उसके विकास की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

प्राचीन एवं मध्य काल

प्रत्येक ताल-वाद्य भारतीय संगीत में मुख्यतः साथ-संगत के लिये ही प्रयुक्त होता है। अतः तबले की आवश्यकता एवं उत्पत्ति की चर्चा करने से पूर्व हमें प्राचीन एवं मध्यकालीन भारतीय गायन शैलियों के इतिहास एवं विकास की परम्पराओं को भी समझ लेना आवश्यक होगा। प्रसिद्ध संगीत-शास्त्री ठाकुर जयदेव सिंह से प्राप्त सूचनाओं के अनुसार ८वीं या ९वीं शताब्दी से भारतीय गायन शैली का उत्कृष्ट रूप दो प्रकार से सामने आया है। एक रागालाप्ति से और दूसरा रूपकालाप्ति से।

रागालाप्ति में जिस प्रकार का आलाप होता था, उसका क्रम कुछ इस प्रकार था :— आरम्भ में तीसरे स्वर से गायन प्रारम्भ करके मन्द्र सप्तक तक जाता था और तत्पश्चात् एक-एक स्वर से क्रमिक बढ़त होती थी। उसमें शब्दों का अर्थात् कविता का प्रयोग नहीं होता था। केवल नोमतोम या देरे ना देरे जैसे शब्द प्रयुक्त किये जाते थे। अतः यह कहना उचित होगा कि प्राचीन रागालाप्ति को आधार मान कर ध्रुपद शैली का विकास हुआ। अन्तर केवल इतना है कि ध्रुपद गायकी में गायन प्रथम स्वर से प्रारम्भ किया जाता है जबकि रागालाप्ति तीसरे स्वर से।

शब्दों को लेकर जो आलाप होता था, उसे रूपकालाप्ति कहते थे। आचार्य शार्ङ्गदेव ने 'संगीत-रत्नाकर' में इसका विस्तृत वर्णन किया है। प्रतिग्रहणिका रूपकालाप्ति की मुख्य विशेषता थी। प्रतिग्रहणिका का अर्थ गाने का वह भाग है जो बार-बार ग्रहण किया जाता है, अर्थात् लिया जाता है। आजकल ख्याल गायकी में जिसे मुखड़ा कहते हैं, वह प्रतिग्रहणिका का ही एक रूप है।

रूपकालाप्ति का दूसरा महत्वपूर्ण लक्षण स्थायी-भंजनी और रूपका-भजनी होती थी। एक स्वर संगति को भिन्न-भिन्न रीति से अलग-अलग बाँटने की क्रिया को स्थायी-भंजनी कहते थे। उदाहरणार्थ यहाँ राग यमन में तथा मध्य तीन ताल की एक प्रसिद्ध रचना प्रस्तुत है, जिसमें प्राचीन स्थायी-भंजनी का आधार देखने को मिलता है :—

राग—यमन, ताल—त्रिताल

रे सा	रे ग प रे	ग रे सा –	ग रे ग ग	– –
ब न	गु ण न की	– जि ए –	गु णी स न	– –
२	•	३	×	२

अव यहीं 'गुणी सन' शब्द को अर्थात् उसकी स्वरसंगति को दूसरे ढंग से कहा जाये :

– – रे सा	रे ग प रे	ग रे सा –	नि़ रेग मप रे	ग रे
– – अ व	गु ण न की	– जि ए –	गु णी- -- स	– न
२	०	३	×	२

अव 'गुणीसन' स्वरसंगति तीसरे ढंग से कही जाए, जैसे :

– – रे सा	रे ग प रे	ग रे सा –	नी प – रे	ग रे
– – अ व	गु ण न की	– जि ए –	गु णी – स	– न
२	०	३	×	२

हमारी आधुनिक खयाल गायकी में उसी ढंग से स्वर-संगति में परिवर्तन करके विस्तार किया जाता है, जो स्थायी भजनी पर आधारित है।

रूपक भंजनी का अर्थ बोलों को बाँटना है। आज खयाल गायकी में जो बोल-तान, बोल-आलाप आदि आते है उनका आधार रूपक भंजनी से ही लिया गया है। अतः खयाल गायकी, रूपकालाप्ति की प्रतिलिपि (carbon copy) न होते हुए भी उसमें रूपकालाप्ति का आधार विद्यमान है। इस तरह अमीर खुसरो, राजा मानसिंह और सुलतान हुसेन शर्की से लेकर सदारंग तक खयाल गायकी का जो विकास हुआ है वह न तो अचानक आकाश से टपका और न ही कागज कलम ले करके उसे लिखा गया है, बल्कि हमारी प्राचीन गायन शैली को आधार लेकर के ही उसमें परिवर्तन होते रहे हैं। मुसल्मान खयालियों ने रूपकालाप्ति के आधार पर अपनी कल्पना को जोड़ करके एक नवीन गायन पद्धति को विकसित किया जो कल्पना सृष्टि के महत्व के कारण 'खयाल' कहलाया। 'खयाल' शब्द खयालियों ने (मुसल्मान कलाकारों ने) दिया है जिसका अर्थ है कल्पना (Imaginations).

इस प्रकार हम देखते हैं कि चौदहवी-पन्द्रहवी शती तक खयाल शैली का उद्भव हो चुका था। परन्तु उस समय तक ध्रुपद-धमार गायन शैली और उनके साथी वाद्य 'पखावज' का ही अधिक प्रचार था। धीरे-धीरे खयाल की लोक-प्रियता बढ़ने लगी और उस गायन शैली के प्रयोग और प्रवेश से तबले की प्रगति भी प्रारम्भ हो गई। यह समय पन्द्रहवीं शताब्दि का माना जा सकता है। आगे के दो सौ वर्षों तक खयाल गायन शैली एवं तबले का शनैः-शनैः विकास तो होता रहा, परन्तु उसे विद्वान् संगीतज्ञों ने पूर्णतः स्वीकारा नहीं था। ऐसा प्रत्येक नवीन प्रयोग के लिये होना स्वाभाविक है।

उत्तर-काल

सन् १७१६ ई० मे बादशाह बहादुरशाह के पौत्र मोहम्मदशाह 'रंगीले' सिंहासनासीन हुए। वे अपने नाम के अनुरूप रंगीली मनोवृत्ति के शृङ्गारप्रिय बादशाह थे। उनका शासनकाल सन् १७१९ से सन् १७४८ तक का रहा। यह काल संगीत, कला एवं साहित्य की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण माना जाता है। उनके दरबार में आनम और घनानंद जैसे उच्चकोटि के कवि तथा महाकवि देव के शिष्य सदारंग जैसे संगीत शिरोमणि थे।

रंगीले का शासन काल सांगीतिक दृष्टि से क्रान्तिकारी माना जा सकता है, क्योंकि ध्रुपद-धमार गायकी के स्थान पर खयाल, ठुमरी, दादरा, कव्वाली जैसी गायन-शैलियाँ तथा वीणा के स्थान पर सितार जैसे नवीन तंतुवाद्य का प्रचार एवं विकास इसी काल में हुआ है।[1]

उ० नेमत खाँ "सदारंग" संगीत के युग पुरुष थे। वे परमील खाँ के पुत्र, खुसरो खाँ के अग्रज तथा फिरोज खाँ "अदारंग" के चाचा, श्वसुर एवं गुरु थे। वे अपने युग के सिद्ध बीनकार तथा श्रेष्ठ गायक थे। उनके पूर्वज हिन्दू-ब्राह्मण थे। उनके परिवार में संगीत विद्या परम्परागत चली आ रही थी। महाकवि देव के उपरांत उन्होंने एक तातारी कव्वाल तथा बंगाली नटवे से भी शिक्षा ग्रहण की थी।[2] यद्यपि खयाल गायकी का पूर्व रूप हज़रत अमीर खुसरो, ग्वालियर के राजा मानसिंह तोमर तथा जौनपुर के सुलतान हुसेन शर्की के युग से ही प्रचार में आने लगा था तथापि सदारंग ने इस गायकी को एक नवीन शैली तथा नया रूप दिया। उन दिनों गायकों के दो वर्ग प्रचलित थे :—(१) कलावन्त और (२) कव्वाल। कलावन्त ध्रुपद गायकी की परम्परा से तथा कव्वाल खयाल गायकी की परम्परा से सम्बन्धित थे। ध्यान रहे कि आजकल के कव्वालों को सुनकर उस युग के कव्वालों की कल्पना नहीं करनी चाहिए क्योंकि उन दिनों राजदरबार में कव्वाल लोग जो खयाल गाते थे उसकी शैली हज़रत अमीर खुसरो की परम्परा से सम्बन्धित थी।[3]

नेमत खाँ 'सदारंग' यद्यपि परम्परा से कलावन्त एवं वीणा-वादक थे, किन्तु तातार कव्वाल के शिष्य होने के कारण तथा विरोधियों को पराजित तथा बादशाह मोहम्मदशाह रंगीले को संतुष्ट करने के हेतु उन्होंने सहस्रों खयालों की रचना की। उन्होंने कव्वालों की परम्परा की खयाल गायकी को एक नया रूप तथा नवीन शैली दी जिससे खयाल की विषय वस्तु में भारतीय शृङ्गार आ गया।

'रंगीले' के दरबारी गायक फिरोज खाँ "अदारंग" भी उच्चकोटि के कलाकार थे, उन्होंने भी अनेक खयालों की रचनाएँ की जो आज भी खूब प्रचार में हैं।

विद्वानों के अनुसार उन दिनों की खयाल गायकी में आज की शास्त्रीयता और नियमबद्धता का प्रमाण कम पाया जाता था। सुविधा के लिये खयाल गायक राग के नियमों की उपेक्षा भी कर जाते थे। खयाल गायन शैली का प्रचलन मुख्यतः नायिकाओं में होने के कारण उन दिनों खयाल गायकी तथा उसके गायक-गायिकाओं को इतना सम्मान नहीं दिया जाता था, जितना कि ध्रुपद गायन शैली वालों को। इन गायक-गायिकाओं की संगत बादशाह के सामने खड़े होकर के करने का प्रचलन था, जो मृदंग के लिये असंभव एवं असम्माननीय था। अतः उन दिनों के मृदंगवादक खयाल की संगत करना अपना अपमान समझते थे। खयाल की तरह ही ठुमरी, दादरा, टप्पा, गज़ल, कव्वाली, कजरी, होरी आदि अनेक नवीन एवं शृंगारिक गायन शैलियाँ धीरे-धीरे प्रचार में आने लगीं। 'रंगीले' के दरबार के प्रत्यक्षदर्शी इतिहासकार दरगाहकुली खाँ ने अपनी पुस्तक में ठुमरी की चर्चा नहीं की है। सम्भव है, उन्होंने रस गायन शैली को महत्वहीन समझा हो।

---

१. मुसलमान और भारतीय संगीत : आचार्य बृहस्पति, पृष्ठ ६४।

२. खुसरो, तानसेन तथा अन्य कलाकार, सुलोचना-बृहस्पति, पृष्ठ २३६।

३. संगीत चिन्तामणि : आचार्य बृहस्पति, पृष्ठ ३४०-४१।

इन विविध गायन शैलियों के उपरान्त तंतुवाद्यों के क्षेत्र में भी परिवर्तन का प्रारंभ हो चुका था। वीणा के स्थान पर सितार की झंकार 'रंगीले' के दरबार में सुनाई देने लगी थी। आचार्य बृहस्पति के अनुसार सदारंग के छोटे भाई खुसरो खाँ ने तीन तार वाले नवीन तंतु वाद्य 'सहतार' के तारों पर, स्वर की गूंज को जिन्दा करने का प्रयास किया था।[४] सहतार की साथ संगत के लिये भी पखावज की गंभीर ध्वनि उपयुक्त न थी। अतएव इन सभी आवश्यकताओं एवं समस्याओं की पूर्ति के हेतु अभिजात संगीत में तबले का प्रवेश हुआ।

तबले की उत्पत्ति कहाँ, कैसे हुई तथा उसका आविष्कारक कौन था—ये प्रश्न तबला-वादकों एवं विद्वानों में आज भी एक पहेली बना हुआ है। यह सत्य है कि भारतीय संगीत में तबले का प्रवेश एक महत्वपूर्ण घटना है। इसके विषय में जो अनेक प्रचलित मत एवं किंवदन्तियाँ हैं, उनमें से कुछ की चर्चा अब हम आगे करेंगे—

जैसा कि पूर्व में चर्चा की जा चुकी है, आज भी महाराष्ट्र के लोक-संगीत में 'सम्बल' नामक वाद्य का प्रयोग किया जाता है। इस वाद्य की बनावट बहुत कुछ बांया तबला से मिलता-जुलता है। अतः एक मत के अनुसार आज का तबला 'सम्बल' वाद्य का परिष्कृत रूप है।

कुछ लोगों का मत है कि तबले का उद्भव पंजाब प्रान्त के 'दुक्कड' नामक वाद्य से हुआ है। दुक्कड़ का अर्थ है दो और वह वाद्य भी तबले के समान दो भागों में होता है। अतः इस मत के पोषक तबले का उद्भव इसी दो भाग वाले 'दुक्कड़' का परिष्कृत रूप बतलाते हैं।

एक मत के अनुयायी तबले का जन्म ऊर्ध्वक एवं आलिंग्य से हुआ मानते हैं। भरत-कालीन त्रिपुष्कर का जो वर्णन भरत के 'नाट्य शास्त्र' में मिलता है, उसके तीन अंग बतलाये गये हैं—(१) आंकिक (२) ऊर्ध्वक (३) आलिंग्य। आठवी एवं नवी शती के पश्चात् त्रिपुष्कर के स्वरूप में परिवर्तन हुआ। ऊर्ध्वक एवं आलिंग्य भाग हटा दिये गये और रह गया केवल आंकिक। आज मृदंग का जो स्वरूप प्रचलित है वह भरत-कालीन त्रिपुष्कर का केवल आंकिक भाग है। अतः इस मत के पोषक यह मानते हैं कि खडे रहकर बजने वाले भरत-कालीन मृदंग के दो भागों का प्रयोग ख्याल गायकी के साथ एक स्वतन्त्र ताल वाद्य के रूप में होने लगा होगा जो यवन काल में कुछ परिवर्तन के पश्चात् तबला जोड़ी के नाम से प्रसिद्ध हुआ होगा।

अन्य कुछ लोग प्राचीन अवनद्ध वाद्य 'दर्दुर' एवं 'नक्कारों' का सम्बन्ध तबला की जोड़ी से मानते हैं।

उपर्युक्त वर्णित प्रचलित मतों का विश्लेषण करने से स्पष्ट होता है कि प्रथम मत के अनुसार तबला लोक-वाद्य से है, जब कि शेष दो-मतों के अनुसार यह भरत-कालीन ताल वाद्यों से सम्बन्धित है। यद्यपि प्रामाणिक इतिहास के अभाव में हम किसी एक मत का प्रतिपादन नहीं कर सकते, तथापि इतना निश्चित रूप से कह सकते हैं कि तबला पूर्णतः एक भारतीय ताल वाद्य है, जो अन्य स्वरूपों में इस देश में था।

पिछले कुछ वर्षों तक विद्वानों एवं संगीतज्ञों में एक भ्रामक धारणा व्याप्त थी कि हजरत

---

४. संगीत चिन्तामणि : आचार्य बृहस्पति : पृ० ३३७ से ३४६ तथा
मुसलमान और भारतीय संगीत : आचार्य बृहस्पति।

अमीर खुसरो (सन् १२७५ से १३२५ ई०) ने तबले का आविष्कार किया। इसका कारण मात्र यह था कि सन् १८५५ ई० में हकीम मोहम्मद करम इमाम द्वारा उर्दू भाषा में लिखी गई पुस्तक 'मअदन-उल-मूसीक़ी' में तबले का आविष्कारक का नाम अमीर खुसरो लिखा हुआ है।

इतिहास साक्षी है कि हज़रत अमीर खुसरो ने अपने जीवनकाल में गुलाम खिलजी एवं तुगलक वंश के ग्यारह सुलतानों को दिल्ली के तख्त पर आसीन होते देखा था। वे अधिकतर बादशाहों के कृपा पात्र रहे, किन्तु अलाउद्दीन खिलजी के दरबार में उनका एक विशिष्ट स्थान था। वे अत्यन्त कुशाग्रबुद्धि व्यक्ति एवं प्रतिभा-सम्पन्न कवि थे। उनको भारतीय संगीत प्रिय था, जब कि वे फारसी संगीत के पंडित थे। उन्होंने उस समय जनता की बदलती हुई रुचि का अध्ययन किया और दोनों संगीत शैलियों का सुन्दर समन्वय करके भारतीय संगीत को एक नवीन दिशा दी।

अमीर खुसरो ने निसंदेह अपनी कला कौशल से भारतीय संगीत को समृद्ध किया एवं कई नवीन तालों की रचना करके ताल शास्त्र के भण्डार को धनी बनाया, किन्तु वे तबले के आविष्कारक थे, यह धारणा निर्मूल है। किसी भी मध्यकालीन पुस्तक में तबले के जन्मदाता के रूप में खुसरो का उल्लेख नहीं मिलता।

हज़रत अमीर खुसरो ने अपनी फारसी कृत 'एजाज़े खुशरवी' में बादशाह के सम्मुख बजाये जाने वाले जिन वाद्यों का उल्लेख किया है, उनमें 'तब्ल' भी एक है। फारसी भाषा में प्रत्येक अवनद्ध वाद्य के लिये 'तब्ल' शब्द का प्रयोग किया जाता है। तब्ल का अर्थ है वे वाद्य जिनके ऊपर का भाग अर्थात् सपाट (Surface) हो। मृदंग, भेरी, नक्कारा आदि सभी अवनद्ध वाद्य इस श्रेणी में आते हैं, अतः खुसरो न अपने ग्रन्थ में तब्ल शब्द का प्रयोग किस अर्थ में किया है—यह कहना कठिन है।

अबुल फज़ल ने 'आईन-इ-अकबरी' मे अकबर युग के छत्तीस संगीतकारो के नाम गिनाये हैं, किन्तु उनमें एक भी तबला वादक का उल्लेख नहीं है। यहाँ तक कि उन्होंने तबला वाद्य का उल्लेख तक नहीं किया है। इतना ही नही मोहम्मद शाह रंगीले के युग तक (ई०स० १७१६ से ई० स० १७४८) कही किसी पुस्तक में हमें तबला वाद्य का या तबला वादको की कोई चर्चा नहीं मिलती।

आचार्य कैलाशचन्द्र देव बृहस्पति, जनाब रशीद मलिक साहब की उर्दू पुस्तक "हज़रत अमीर खुसरो का इल्मे मूसिक़ी और दूसरे मकालात" के पृष्ठ १११ के आधार पर "संगीत चिन्तामणि" में लिखते हैं कि :—

"हमें इस बात की प्रामाणिक शहादत मिलती है कि ग्यारहवीं सदी के आरंभ में तबले का रिवाज यहाँ हो चुका था। हज़रत अमीर खुसरो के जन्म के सैंकड़ो वर्ष पहले तबला भारत में था। इसके आविष्कार से हज़रत अमीर खुसरो का कोई सम्बन्ध नहीं है। हम केवल इतना जानते हैं कि 'तब्ल' फारसी शब्द है और अंतिम मोगल बादशाह शाहआलम तक के युग में हमें किसी तबला वादक का नाम नहीं मिलता। अतः हम जनाब रशीद मलिक से सहमत है कि हज़रत अमीर खुसरो तबले के आविष्कारक नहीं।"[१]

१. संगीत चिन्तामणि : आचार्य बृहस्पति, पृष्ठ २४६।

१३वीं शती के पूर्व, भारत में तबले का अस्तित्व था, ऐसा मोहम्मद करम इमाम ने भी लिखा है। उनके अनुसार सुल्तान गयासुद्दीन बलबन के दरबारी कलाकारों की संगत के लिये जो ताल वाद्य प्रयुक्त होता था, वह आज की तबले-बाये की जोड़ी से बहुत साम्य रखता था। अंतर केवल इतना था कि उन पर स्याही नहीं लगती थी।

श्री० अरविंद मुलगांवकर अपनी मराठी पुस्तक 'तबला' में लिखते हैं :

"आजच्या तबल्याचा उगम ई० स० १२१० ते १२४१ किंवा त्याच्या काही वर्ष पूर्वी झाला असण्याची ही शक्यता आहे,"[६]

इस तथ्य को स्वामी प्रज्ञानंद जी ने प्राचीन मंदिरों की शिल्पाकृतियों के आधार पर प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है। उनके अनुसार आधुनिक तबला बाँया प्राचीन त्रिपुष्कर के ऊर्ध्वक एवं आलिंग्य का परिष्कृत रूप है। अपनी पुस्तक में वे लिखते हैं कि :—

"In the rock cut temples of different places of India, carved in different age, we find two drums of small size, engraved by the side of Siva Natraja in dancing posture. Those drums are but the replicas of ancient 'Pushkaras'. Three drums 'Pushkaras' are also to be seen carved in the Mukteshwar temple of the 6th-7th century A. D. at Bhuvaneshwar and the three others in the cave temple of Badami near Bombay of the 6th century A. D. Some are of opinion that two of these drums represent the two parts of a large drum, which used to be played horizontally and the third one was small like the modern 'Tabal.'

The modern 'Tabal' and 'Bayan' were perhaps shaped in immitation of the ancient 'Pushkaras'. Some erroneously believe that the Persian and Arbian artistes and specially Amir Khosrau brought into use for the first time the 'Tabal' and the 'Bayan' during the time of Sultan Alauddin Khilji in the 14th-15th century A. D. cutting the ancient Mridanga into two halves. But this view is untenable, as is absolutely conjectural, as the sculptural evidences of the ancient rock-cut temples of India disclose the fact that two or three drums (Pushkaras) of different sizes were used in music and dance in India long before the advent of the Persians and the Arabs as well as before the Muhammedan rule."[७]

सुप्रसिद्ध संगीताचार्य ठाकुर जयदेव सिंह तबले को प्राचीन भारतीय लोक वाद्य का परिष्कृत रूप और तबला शब्द 'तब्ल' का अपभ्रंश मानते हैं। उनके अनुसार तबला अपने अपरिष्कृत रूप में प्राचीन काल से ही भारत में था, किन्तु १८वी सदी तक न तो उसे आज की तबला जोड़ी जैसा रूप प्राप्त हुआ था और न ही वह अधिक प्रचार में था। यही कारण है कि मोहम्मद शाह रंगीले के युग तक हम तबले की चर्चा कहीं नहीं पाते।

---

६. तबला (मराठी) : अरविन्द मुलगांवकर, पृष्ठ १६।

७. A Historical study of Indian Music : Swami Prajnananda, Page 76, 77.

इस विषय में आचार्य वृहस्पति का निम्न मन्तव्य भी उन विद्वानों के अनुकूल है।

"मोहम्मद शाह रंगीले की मृत्यु (सन् १७४८) के उनचास वर्ष पश्चात् संग्रहित ग्रन्थ "नादिरातिशाही" मुग़ल सम्राट शाहआलम द्वितीय की कृति है, जिसकी प्रथम पाडुलिपी सन् १७११ ई० में शाहआलम ने स्वयं तैयार करायी थी। तबले की चर्चा उसमें भी नहीं है।[८]

मोहम्मद शाह रंगीले के दरबार के प्रत्यक्षदर्शी लेखक दरगाहकुली खाँ ने पखवाज, ढोलक, घड़ा, पेट आदि अनेक तालवाद्यों की चर्चा की है, किन्तु किसी तबला वाद्य की नहीं।

आचार्य वृहस्पति जी के अनुसार तबले का आविष्कर्ता मोहम्मद शाह रंगीले के दरबार के प्रतिभासम्पन्न कलाकार उ० खुसरो खाँ हैं। खुसरो खाँ सदारंग के छोटे भाई थे तथा वे अनेक वाद्य वादन में पारंगत थे। उनके मतानुसार खुसरो खाँ ने सितार वाद्य की संगति के लिये तबले का आविष्कार किया और उस पर सितारखानी ठेके का प्रचार किया। इसको स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं :

"तबले का आविष्कार मोहम्मद शाह रंगीले के युग में खुसरो खाँ (सदारंग के छोटे भाई) ने किया था। उस युग से पहले इस वाद्य और उसके वादकों की चर्चा कहीं नहीं है, परन्तु इस वाद्य के आविष्कार को अमीर खुसरो के मत्थे मढ़ देने का श्रेय 'मअदन-उल-मूसिकी' के लेखक मोहम्मद करम इमाम को ही है।"[९] सम्भव है कि नाम साम्य के कारण लोग खुसरो खाँ को अलाउद्दीन कालीन अमीर खुसरो समझ बैठे हैं।

तबले के आविष्कर्ता के विषय मे कुछ और मतमतांतर एवं भ्रामक धारणाएँ कला रसिकों में व्याप्त हैं जिन्हें यहाँ स्पष्ट कर देना आवश्यक होगा।

"ताल प्रकाश मे श्री भगवत शरण शर्मा लिखते हैं कि पाश्चात्य विद्वान श्री स्ट्राबो साहब ने लिखा है कि एशिया खंड के जंगली लोगों में प्राचीन काल में "तबला" नामक एक वाद्य प्रचलित था। हो सकता है कि हमारा तबला उस "तबला" का अपभ्रंश हो।"[१०]

ताल प्रकाश की प्रस्तावना में पं० किशन महाराज लिखते हैं :

"कितने लेखकों का यह मत है कि सब्बे हुसेन ढोलकिया जब सुप्रसिद्ध मृदंगवादक श्री कुदुसिंह जी (कुदोसिंह) से बजाने में पराजित हुए तो कुदोसिंह जी ने तलवार से उसकी उँगलियाँ काट ली। इस पर सब्बे हुसेन ने दाहिने को बायें हाथ से अभ्यास करके बोलों में काफी मुलायमियत (मिठास) पैदा की, जिसे सुनकर कुदोसिंह बहुत प्रसन्न हुए। तदुपरान्त सब्बे हुसेन ने ही मृदंग काटकर खड़ा कर दिया और उसका नाम तबला रखा।[११]

इस प्रकार की सारी बातें केवल अप्रमाणित ही नहीं, असंगत भी लगती हैं जो व्यक्तिगत तर्क एवं कपोलकल्पित कहानियों के सिवा और कुछ नहीं है। मेरे ख्याल से कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति ऐसी तर्कहीन बातों पर विश्वास नहीं कर सकता।

कुछ विद्वानों ने तबले को विदेशों से आया माना है। उनके अनुसार वह अरेबियन,

---

८. मुसलमान और भारतीय संगीत : आचार्य वृहस्पति, पृ० ६४

९. मुसलमान और भारतीय संगीत : आचार्य वृहस्पति, पृ० ६४

१०. ताल प्रकाश : भगवत शरण शर्मा, पृष्ठ १७

११. ताल प्रकाश की प्रस्तावना : प्रस्तावना लेखक : पं० किशन महाराज।

सुमेरियन, मेसोपोटेमियन अथवा फारसी संस्कृति से संबधित विदेशी ताल वाद्य है।

प्राचीन काल में अरेबिया में 'तबला' और 'नक्कारा' जैसे वाद्य, सैनिकों को युद्ध में प्रोत्साहित करने हेतु प्रयुक्त होते थे। घोड़े या ऊँट की पीठ पर रख करके वह लकड़ी से बजाया जाता था, जिसे "तब्लजग" कहा जाता था। अरब देशों में आज भी "तब्लजंग" प्रसिद्ध वाद्य है, जो कमर पर बांधकर या ऊँट की पीठ पर रखकर लकड़ी से बजाया जाता है। कुछ लोगों की धारणा है कि इसी "तब्लजंग" से तबला बना है। अतः तबला विदेशी वाद्य है और यवनों के साथ भारत आया है।

किन्तु 'तब्लजग' से मिलता-जुलता एक वाद्य राजस्थान में आज भी मिलता है। कहते हैं कि उसे भी युद्ध के समय बजाया जाता था।

अतः 'तब्लजंग' भले ही विदेशी वाद्य हो, किन्तु उससे आज के हमारे तबले से कोई सम्बन्ध नहीं है।

बनारस के डॉ० के० एन० भौमिक अपने एक लेख में लिखते हैं :

"It is historically known (Gosvami 1956 Chapter XXVII) that Tabla occupied a prominent place among that musical instruments in Arbia, long before the birth of Islam. In ancient Arbia, Tabla was a popular folk instrument used by women. It is said that one Tubal, son of musician Jubal in Arbia, is the inventor of Tabla."[१२]

यहाँ डा० भौमिक ने यह पुष्टि करने का प्रयत्न किया है कि अरब देश के किसी जुबल नाम के संगीतकार के बेटे तुबल ने अति प्राचीन काल में तबले का आविष्कार किया और तत्पश्चात् मुसलमानों के साथ तबला भारत आया। किन्तु उनका यह कथन सर्वथा अयोग्य है। सम्भव है तुबल का तबला अरबिस्तान का कोई वाद्य हो, किन्तु हमारे तबले से इसका कोई सम्बन्ध नही है।

भारत में मुसलमानो के आगमन के बारह-तेरह सौ वर्ष पूर्व तबले का प्राचीन रूप यहाँ था। अतः यह कहना कि तबला मुसलमानो के साथ पश्चिम एशिया से भारत में आया है, अनुचित है। यूं १६-१७वी शती के पूर्व अनेक गुफाओ एवं मन्दिरों के शिल्पो में तबले-सा सदृश्य अनेक वाद्य देखने को मिलते हैं। डा० बी० सी० देव के अनुसार ताल-वाद्य की जोड़ी की एक शिल्पाकृति प्राप्त हुई है जो छठी सदी की है।[१३]

ईसा की छठी शती के बदामी के एक शिल्प में तबला डग्गा जैसे वाद्य को बजाते हुए एक व्यक्ति की मूर्ति मिली है। उस शिल्प में दायाँ वाद्य ऊँचा है जब कि बायाँ उससे बिल्कुल आधा है। यह शिल्पाकृति ही आधुनिक तबले डग्गा का प्रारंभिक रूप क्यों न हो ऐसी संभावना प्रो० जी० एच० तारलेकर तथा श्रीमती नलिनी तारलेकर ने अपनी पुस्तक "Musical Instruments of Indian Sculpture" में व्यक्त की है। उनके अनुसार बजाने में असुविधा

12. Banaras school of Tabla playing : Dr. K. N. Bhowmick, The Journal of the Music Academy of Madras, Volume XLIV—1973—Pages 129 to 141.

१३. भारतीय वाद्य : डा० बी० सी० देव, पृष्ठ ४८

होने के कारण आगे चलकर दोनों वाद्यों की ऊँचाई एक-सी कर दी गयी होगी। इस विषय पर प्रकाश डालते हुए वे लिखते हैं :

'In one Badami sculpture, two drums are seen played by a man sitting on a raised seat. The drum to the left has broad face and is about half of the other drum in height. (Fig. 83). This pair would correspond to modern Daya (the drum usually placed to the right and Baya (the drum with broader face usually placed to the left side and played by the left hand), with the difference that the Daya and Baya are almost similar in height.' [१४]

इस शिल्पाकृति का चित्र नीचे दिया जा रहा है, जो म्युजिकल इन्स्ट्रुमेंट्स इन इंडियन स्कल्प्चर के पृष्ठ ६० पर चित्रित है।

बदामी का यह शिल्प ईसा की छठी शती का है। किन्तु इसके ८०० वर्ष पूर्व अर्थात् ईसा पूर्व २०० वर्ष की एक बौद्ध गुफा में हमें एक इन्द्र शिल्प मिलता है, जिसमें तबले जैसे वाद्य का तथा उसकी वादिका का स्पष्ट चित्रांकन किया गया है। महाराष्ट्र के पुणे नगर के निकट भाजा नाम की एक गुफा बौद्ध धर्म के हीनयान पथ के उन्नति काल में शृङ्ग राजाओं के समय की है, ऐसा पुरातत्व विभाग की पत्रिका में निर्देश मिलता है। भाजा की इन गुफाओं पर शृङ्ग कला की छाप स्पष्ट दिखायी देती है। गुफा नं० १४ सूर्य शिल्प और इन्द्र शिल्प के नाम से प्रसिद्ध है। गुफा के प्रमुख द्वार की बांयी ओर एक छोटा-सा गर्भ द्वार है, जिसकी दीवार पर बांयी ओर सूर्य शिल्प एवं दाहिनी ओर इन्द्र शिल्प अंकित है।

प्रस्तुत इन्द्र शिल्प लगभग बारह फीट ऊँचा है। उसमें इन्द्र ऐरावत पर गज संचालन कर रहे हैं, उनके पीछे एक ध्वज वाहक है। उसमें उद्यान का भी कुछ दृश्य है। उसके नीचे एक नृत्यगोष्ठी का चित्रांकन है। शिल्प में आसन पर बैठे राजा को एक चामरधारिणी स्त्री चामर हिला रही है। सामने एक नर्तकी नृत्य कर रही है एवं एक वीणावादक वादन में निमग्न है। पास में ही एक स्त्री वादिका खड़ी है, जो सामने रखे दो चर्मबद्ध तालवाद्यों को दोनों हाथों से बजा रही है। उस तालवादिका के सामने जो वाद्य की जोड़ी देखी जाती है, वह निश्चित रूप से तबला जैसा कोई वाद्य है जो आधुनिक तबले-डग्गे का पूर्वज लगता है। मूर्ति के उस भाग की ऊँचाई केवल नौ इंच है। उसमें गट्टे, बद्दी, स्याही आदि स्पष्ट रूप से नहीं दिखते। वादिका के दोनों हाथ वादन मुद्रा में रखे दिखाये गये हैं। अतः स्याही का भाग स्पष्ट है। लगभग दो हजार दो सौ वर्ष पूर्व प्राचीन मूर्ति

14. Musical Instruments In Indian Sculpture: Prof. G. H. Taralekar and Smt. Nalini G. Taralekar, Pages 69-70

भाजा गुफा जो लोनावला (महाराष्ट्र) से लगभग ३ कि० मीटर दूर, बम्बई-पूना मार्ग पर स्थित है।

भाजा गुफा में प्राप्त मूर्ति (तबला के सदृश्य ताल वाद्य बजाते हुये) का चित्रकार द्वारा चित्रांकन।

भाजा गुफा, लोनावला (महाराष्ट्र), ईसा पूर्व २०० वर्ष, में प्राप्त मूर्ति, तबला जोड़ी के सदृश्य ताल वाद्य बजाते हुये ।

में इस प्रकार की कुछ कमियाँ स्वाभाविक ही हैं। किन्तु यह प्राचीन भाजा शिल्प तबले के पूर्व रूप का स्पष्ट एवं प्रमाणित अंकन करता है। आधुनिक तबला जोड़ी के साथ उसका सामंजस्य स्पष्ट दिखता है तथा इससे यह सिद्ध हो जाता है कि ईसा पूर्व द्वितीय सदी में तबले जैसे वाद्य का प्रचलन भारत में था। उन दिनों उसका उपयोग कदाचित् लोक वाद्य के रूप में होता होगा तथा उसका नाम भी कुछ और रहा होगा।

वाद्यों के शिल्पों पर आज तक जो विविध पुस्तकें लिखी गयी हैं, उनमे इन्द्र शिल्प के वीणा वादक का तो वर्णन है किन्तु इस वाद्य वादिका की ओर किसी का ध्यान नही गया।[१५]

नीचे भाजा गुफा के इन्द्र शिल्प के कुछ चित्र प्रस्तुत हैं। विश्वास है कि वे तबला वाद्य की प्राचीनता एवं भारतीयता के विवादास्पद प्रश्न को सुलझाकर उसे नवीन मोड़ देने में सफल होंगे। महाराष्ट्र के सह्याद्रि पहाड़ में अंकित यह गुफा-शिल्प, समय की थपेड़ खाकर कुछ क्षतिग्रस्त हो गया है। अतः फोटोग्राफिक चित्रांकन में अपेक्षित स्पष्टता नही है।

इस प्रकार यहाँ शिल्पाकृति के आधार पर तबले की उत्पत्ति को प्रमाणित किया गया है जो लेखिका के मतानुसार सर्वाधिक तर्कसंगत एवं बुद्धि-ग्राह्य है। कलाकार अपने युग का प्रतिनिधि होता है। वह जो कुछ अपने सामने देखता है उसे अपनी कला के माध्यम से प्रस्तुत करता है। प्राचीन काल में सामाजिक अवसरों पर तबले जैसे वाद्य बजते रहे होंगे, तभी तो उनका चित्रण शिल्पकारों ने किया है। अतः भाजा गुफा के प्रस्तुत शिल्प उन दिनों के सामाजिक एवं सांस्कृतिक लोक-जीवन के प्रतीक हैं।

रामायण तथा महाभारत में मृदंग तथा डिंडीम का उल्लेख है, किन्तु महाकाव्य काल में तबले जैसे किसी वाद्य की कोई चर्चा नही है। अतः ऐसा अनुमान है कि महाकाव्य काल के पश्चात् उसका प्रवेश सांस्कृतिक-जीवन में हुआ होगा जो तत्पश्चात् सामान्य लोक-जीवन में घुल-मिल गया होगा। १५वीं शताब्दी के पश्चात् अभिजात संगीत मे जिस ताल-वाद्य का प्रवेश हुआ उसे 'तबला' नाम दिया गया। यह फारसी भाषा के शब्द 'तब्ल' का अपभ्रंश है। मुस्लिम काल में फारसी राज-भाषा होने के कारण, उसका प्रभाव तबला नाम-करण पर भी पड़ा। यह निर्विवाद है कि आज के तबला जोड़ी का रूप, आकार एवं सज्जा सदियों के निरन्तर परिवर्तनों का प्रतिफल है।

तबले का जन्म-स्थान

इसके जन्म-स्थान के विषय में भी दो मत हैं। देश के कुछ प्रसिद्ध कलाकार तबले का जन्म-स्थान पंजाब मानते हैं। उनके अनुसार तबले का जन्म मृदंग के आधार पर पंजाब में हुआ। इसकी पुष्टि में उनका तर्क है कि आज भी पंजाब मे बांयं (जिसे वे धामा कहते हैं) पर आंटा लगाने की प्रथा है, जो मृदंग से सम्बन्ध का प्रतीक है। किन्तु मात्र आंटा चिपकाने से हम यह सिद्ध नही कर सकते कि तबला पंजाब में ही जन्मा है। सम्भव है देश के अन्य

---

१५. जर्नल ऑफ अमेरिकन ओरिएन्टल सोसायटी, भाग ५०, पृष्ठ २५०—आनंदस्वामी

तथा

भाजा गुफा का इन्द्र शिल्प (लेख) : प्रदीपकुमार शालिग्राम मेश्राम, संगीत कला विहार, जनवरी १६८२

भाग के कलाकारों को यह रीति असुविधाजनक लगी हो और उन्होंने इस रीति को न अपनाया हो। तबले का घनिष्ठ सम्बन्ध पखावज से रहा है जो उसके पटाक्षर, बोल, बन्दिशों से स्पष्ट दिखता है। तबले के विविध घरानों में पंजाब घराने की वादन शैली तथा बोल, बंदिशें, पखावज के अधिक निकट हैं। अतः तबले पर पंजाब घराने की बंदिशों को प्रस्तुत करते समय आटे वाले बायें का खुला प्रयोग कदाचित् असुविधाजनक नहीं रहा होगा, फलतः पंजाब घराने में उसका प्रचार यथावत् बना रहा होगा जो कुछ वर्ष पूर्व तक पंजाब के शहरों में और आज भी उसके गांवों में कहीं-कहीं प्रचलित हैं।

तबले का जन्म-स्थान पंजाब में है इसकी पुष्टि करते हुये पं० किशन महाराज 'तालप्रकाश' की प्रस्तावना में एक जगह लिखते हैं....

'उ० सिद्धार खाँ से पूर्व भी पंजाब में तबला प्रचलित था जिसका प्रमाण एक प्राचीन किंवदन्त से प्रकट होता है। सिद्धार खाँ के पौत्र उ० मौदु खाँ की शादी पंजाब के किसी तबला-वादक की लड़की से हुयी थी। इस अवसर पर उ० मौदु खाँ को पंजाबी गतें दहेज मे दी गयी थी। इससे स्पष्ट है कि पंजाब में तबला काफी प्राचीन काल से था और आज भी भारत का समस्त तबला घराना पंजावी गतो को तबले का प्रमुख अंग मानता है।'[१६]

प्रथम बात तो यह है कि उ० मौदु खाँ को दहेज में दी गयी गतें पाँच सौ ही थीं, इसका क्या प्रमाण है ? हमारे उस्तादों को सदैव बढ़ा-चढ़ा कर बातें करने की आदत होती है। गतो की यह संख्या बहुत ही अतिशयोक्तिपूर्ण लगती है।

दूसरी बात यह है कि मध्यकाल से पंजाब में पखावज अत्यंत प्रसिद्ध तालवाद्य था अतः मौदु खाँ को दी गयी बंदिशें गतें न होकर पखावज की परनें भी तो हो सकती हैं, जिन्हे अनपढ़ उस्तादों ने भाषा की अशुद्धि के कारण गतें कहकर संबोधित किया हो। आज भी ऐसे अनपढ़ उस्तादों की कमी नही है जो परन टुकड़े और गत के बीच का अन्तर नही समझ पाते और कभी चक्रदार को गत कह देते हैं, तो कभी टुकड़े को गत कहकर संबोधित करते हैं।

यदि हम मान भी लें कि उस्ताद सिद्धार खाँ के पौत्र उ० मौदु खाँ को उनके पंजाबी ससुर से दहेज में तबले की बन्दिशें मिली थीं तो उ० मौदु खाँ का ससुर, उ० सिद्धार खाँ के पुत्र की उम्र का होना स्वाभाविक है, अतः क्यो न उ० सिद्धार खाँ के समय में ही पंजाब मे भी तबले का प्रचार हुआ हो और सिद्धार खाँ के समकालीन लाला भवानीदास (भवानी सिंह) द्वारा वह पंजाब मे फैला हो। बल्कि यही सत्य है और ऐसा ही हुआ है। जिस प्रकार दिल्ली में उ० सिद्धार खाँ द्वारा अनेक बंदिशों की रचनाएँ हुयी और उनके वंशज एवं शिष्य परिवार में फैली थीं, उसी प्रकार पंजाब मे लाला भवानीदास और उनके शिष्यों ने भी अनेक बंदिशों की रचनाएं की होंगी। तभी तो दिल्ली और पंजाब जैसे दो पृथक् घराने अस्तित्व में आ सके। अतएव उ० मौदु खाँ को दहेज में मिली पंजाबी गतें पंजाब घराने के प्रवर्तक पं० भवानीदास की स्वयं बनायी हुई हों या तो उनके किसी शिष्य की बनायी हो सकती हैं। इसमें कोई शंका नहीं कि पंजाब घराने के आद्यप्रवर्तक लाला भवानीदास अथवा भवानीदीन थे जो दिल्ली के उस्ताद सिद्धार खाँ ढाढ़ी के समकालीन थे।

उस्ताद अल्लारखा खाँ का मत है कि उन दिनों पंजाब और दिल्ली एक थे, आज की

---

१६. ताल प्रकाश की प्रस्तावना : पं० किशन महाराज, पृष्ठ १७।

भांति अलग-अलग नहीं थे। परन्तु दिल्ली राजधानी होने के कारण, उसमें सदैव से विशेष आकर्षण रहा है, लोग जीवकोपार्जन के लिये वहां आना और रहना पसन्द करते थे। आश्चर्य नहीं कि पंजाब के तबलावादक अपनी जीविका के लिये दिल्ली आये हों और स्थाई रूप से बस गये हों। 'आइन-इ-अकबरी' और 'मअदन-उल-मूसिकी' प्रसिद्ध ग्रन्थों के अनुसार ढाढ़ी मूल के लोग पंजाब के रहने वाले थे। सिद्धार खां ढाढी पंजाब के रहने वाले हो सकते हैं, परन्तु उनकी कर्मभूमि दिल्ली रही है और उनके वंश एवं शिष्य परम्परा वहीं फैली।

श्री छेदाराम पखावजी द्वारा विरचित बृज के पखावजियों के इतिहास में उल्लेख है कि लाला भवानी दास बृज के निवासी थे, किन्तु उनकी कर्मभूमि दिल्ली, लखनऊ और विशेषतः पंजाब रही है। यही कारण है कि उनके शिष्य जहां एक ओर बांदा (उत्तर प्रदेश) के मृदग-सम्राट् कुदऊ सिंह, अवध के अमीर अली (पुत्र खब्बे हुसेन ढोलकिया) हैं तो दूसरी ओर पंजाब के ताज खां डेरेदार, कादिर बख्श (प्रथम) और उ० हद्दू खां लाहौर वाले है। भवानी दास और कुदऊ सिंह के बीच दिल्ली दरबार में कई बार खां साहब पराजित भी हुये थे। आचार्य बृहस्पति ने अपने ग्रन्थ 'संगीत चिन्तामणि' के पृष्ठ संख्या ३५६ में सिद्धार खां के पराजित होने का उल्लेख किया है। पराजित होने की घटना से दुःखी होकर सिद्धार खां ने पखावज बजाना छोड़ दिया, तबला अपना लिया जो उन दिनों अभिजात संगीत में प्रवेश कर चुका था। तत्पश्चात् उ० सिद्धार खां ने पखावज का आधार लेकर तबला वाद्यों में परिवर्तन किये, उसमें अनेक नवीन सशोधन किये तथा उस पर अर्धपाणी चांटीप्रधान वाजका निर्माण करके उस नवीन शैली में अनेक बन्दिशों की रचना की एवं उन्हे अपने शिष्यों को सिखाया। वह युग खयाल गायकी के उत्थान का युग था और तबला वाद्य तथा उसकी वादन प्रणाली खयाल की संगत के लिये पूर्णतः अनुरूप थी। अतः तबले का सर्वत्र प्रचार होने लगा।

समकालीन होने के कारण उ० सिद्धार खां और लाला भवानी दास की परम्पराएँ दिल्ली तथा पंजाब में लगभग एक ही समय में फैली। आज दिल्ली घराने के लाला भवानीदास के वंशज एव शिष्यों की नवीं पीढी चल रही है, जब कि पंजाब मे आठवी पीढ़ी है। उ० अल्ला रखां ने लाला भवानीदास की आठ पीढ़ियां मुझे गिनाई हैं। अतः पंजाब घराना दिल्ली घराने से पुराना हो यह मुझे योग्य नहीं लगता।

पंजाब में दुक्कड़ नाम का एक वाद्य प्रचलित था। यह वही दुक्कड़ वाद्य है जिसका सम्बन्ध तबले के आविष्कार की कहानी के साथ जोड़ा जाता है। लाला भवानीदास ने उस वाद्य पर एक नवीन बाज का आविष्कार करके उसे अपने मुसलमान शिष्यों को सिखाया, जो बाद में तबला नाम से प्रसिद्ध हुआ, ऐसी कहानी प्रचलित है।

पंजाब में पखावज का प्रचलन सदा से रहा है। लाला भवानीदास के घराने के सभी शिष्य पखावजी के नाम से प्रसिद्ध हैं। नासिर खां, मियां फकीर बख्श एवं मियां कादिर बख्श के नाम के साथ पखावजी शब्द ही प्रयोग होता है। पंजाब में तबले का प्रचार मियां फकीर बख्श के समय के पश्चात् ही हुआ है। पं० किशन महाराज भी ऐसा मानते हैं कि पंजाब में तबला वादकों के लिये आज भी पखावजी शब्द का प्रयोग होता है।

अतः लाला भवानीदास के सभी शिष्य केवल तबला वादक ही थे और उनका बाज पखावज के निकट होने के कारण उन्हे पखावजी के नाम से सम्बोधित किया जाता था। परन्तु गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर यह तर्क भी सारहीन जान पड़ता है। लाला भवानीदास, मियां

फकीर बख्श, कादिर बख्श या नासिर खां पखावजी भले ही दुक्कड़ या तबला अच्छा बजा लेते रहे होंगे, परन्तु मूलतः वे सभी उच्चकोटि के पखावजी थे और वे 'पखावजी' नाम से सम्बोधित किये जाते थे, तबलिये नहीं। इसी प्रकार दिल्ली के उ० सिद्धार खाँ व उनके वंशज एवं शिष्य-गण भी तबला बजाते थे और शुरू से ही 'तबलिये' शब्द से सम्बोधित किये जाते थे, पखावजी नाम से नहीं।

पंजाब में तबला वादन के प्रचलन का श्रेय उ० फकीर बख्श एवं उनके गुरु भाइयों को है। उस्ताद के पुत्र कादिर बख्श एवं उनके अन्य प्रसिद्ध शिष्य बाबा मलंग, मियाँ करम इलाही, मियाँ मीरा बख्श घिलवालिये ने तबले को खूब लोकप्रिय बनाया। रायगढ़ (म० प्र०) के राजा चक्रधर सिंह जू देव के शासनकाल (सन् १९२१ से १९४७) में उन लोगों का वादन वहाँ हुआ है—ऐसा इतिहास में उल्लिखित है।

बादशाह मोहम्मदशाह रंगीले (सन् १७१९ से १७४८ ई० तक) के इतिहासकार दरगाह कुली खाँ के अनुसार न्यामत खाँ सदारंग, उनके भाई खुसरो खाँ, लाला भवानीदास (भवानीसिंह) पखावजी तथा उ० सिद्धार खाँ ढाढ़ी ये चारों कलाकार समकालीन थे।

उ० सिद्धार खाँ द्वारा दिल्ली घराने में तबले का प्रचार ई० स० १७०० से ई० स० १७२५ के बीच हुआ लगता है, क्योंकि सन् १८५५ के आस-पास लिखी गयी पुस्तकें (१) मअ-दन-उल-मूसिक़ी (लेखक : हकीम मोहम्मद करम इमाम तथा (२) सरमायः इशरत (लेखक : सादिक अली सितान खाँ) इन दोनों में तबला के कलाकारों के नाम तथा उनकी कलापरस्ती का उल्लेख मिलता है। सरमायः इशरत में तो दिल्ली बाज का एक कायदा भी लिखा गया है।[१९] अतः इससे मालूम होता है कि स० १८५५ ई० तक दिल्ली घराना तथा उसके कायदे काफी प्रसिद्ध हो चुके थे।

तबले की एक अन्य महत्वपूर्ण पुस्तक की चर्चा मिलती है। वह सन् १९०० ई० के आस-पास, फारसी भाषा में मुल्ला मोहम्मद इशहाक द्वारा लिखी गई। इस पुस्तक में तालांगो की व्याख्या, वर्णों की निकास विधि एवं लिपि-बद्ध कायदे आदि उपलब्ध हैं। लेखिका को इस पुस्तक के विषय में बरेली (उ० प्र०) के डा० रमा बल्लभ मिश्र एवं बम्बई के पं० तारा-नाथ से जानकारी प्राप्त हुई है, स्वयं देखने का अवसर नहीं मिला।

ख्याल गायकी का प्रचार १५वीं शती के पूर्व हो चुका था। अतः उस्ताद सिद्धार खाँ के ढाई सौ वर्ष पूर्व भी तबला अभिजात संगीत में प्रवेश कर चुका था। अतः १५वीं से १८वीं शती के बीच के वर्षों में तबले के विकास के विषय में हम अनभिज्ञ हैं। उ० सिद्धार खाँ ने वर्षों के परिश्रम एवं चिन्तन के फलस्वरूप तथा उन दिनों खान वाद्यों पर बजनेवाले बोलों के आधार पर नवीन रचनायें कीं। तबले के विकास में उनका श्रेय पखावज के बोलों को तबले पर बजाने योग्य बनाना था, इसी से तबला मौलिक वाद्य के रूप में सामने आया। उल्लेखनीय है कि आज उत्तर भारतीय संगीत में जो स्थान तबले को प्राप्त है, वह अन्य किसी वाद्य को नहीं।

● ●

---

१९. सरमायः इशरत : सादिक अली सितान खाँ, पृष्ठ १४३।

अध्याय २

तबले के विभिन्न बाज और घरानें

पिछले अध्याय में हम तबले की उत्पत्ति की विविध सम्भावनाओं पर समुचित विचार कर चुके हैं। आज से लगभग तीन सौ वर्ष पूर्व भारत की ऐतिहासिक नगरी दिल्ली में बादशाह मोहम्मद शाह रंगीले के काल में (सन् १७०० ई० के लगभग) उस्ताद सिद्धार खां ढाढी नामक एक प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति ने, उन दिनों के अभिजात संगीत में प्रवेश कर चुकने वाले एक प्राचीन ताल वाद्य में कुछ परिवर्तन किये, पखावज एवं समकालीन प्रचलित अवनद्ध वाद्यों की वादन शैली, बोल बंदिशों का आधार लेकर उस ताल वाद्य पर नवीन बोल बंदिशों की रचना की। आज वह वाद्य तब्ल से तबला बन चुका है। चूंकि उस्ताद सिद्धार खां दिल्ली के निवासी थे, अतः तबले में उनका घराना दिल्ली घराना और बाज दिल्ली बाज के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

तबले के विविध बाजों एवं घरानों के इतिहास और परम्परा का विस्तृत वर्णन करने के पूर्व 'बाज' शब्द का अर्थ जान लेना आवश्यक है। संक्षेप में वादन प्रणाली एवं वादन शैली को बाज कहते हैं। तबले के प्रचलित बाजों को हम मुख्य दो भागों में बांट सकते हैं—(१) पश्चिमी बाज— जिसके अन्तर्गत दिल्ली और अजराड़े के घरानों की वादन शैली आती है। (२) पूरब का बाज—इसके अन्तर्गत लखनऊ, फरुखाबाद और बनारस घरानों की वादनशैली आती है। पंजाब घरानों की वादन शैली इन सभी से पृथक् है, जिस पर मृदंग की शैली का सर्वाधिक प्रभाव दिखता है।

बन्द बाज—इसमें मर्यादित ध्वनि उत्पन्न होती है। इस बाज में चांटी अर्थात् किनार का अधिक प्रयोग होता है। अत. इसे किनार का बाज भी कहते हैं। इस बाज में दो अंगुलियों का अधिक प्रयोग होता है। दिल्ली और अजराड़ा घराने की वादन शैली बन्द बाज है।

खुला बाज—इस बाज में ध्वनि गूंजयुक्त एवं प्रबल होती है। यह बाज पखवाज की वादन शैली के अधिक निकट है। इसमें अंगुलियों के साथ-साथ पूरे पंजे का प्रयोग भी प्रचलित है, अतः 'धिरधिर' बोल का विशेष चलन है और थाप का भी खुला प्रयोग होता है। इसका प्रचलन लखनऊ, फरुखाबाद तथा बनारस घरानों में है। देश के पूर्वी भाग में होने के कारण इसी पूर्वी बाज भी कहते हैं।

तबले के विविध घरानें

यह ऐतिहासिक तथ्य है कि दिल्ली घराना और बाज अन्य सभी घरानों का जनक है। दिल्ली के शिष्य देश के विभिन्न नगरो में फैल गये और स्थायी रूप से बस गये। उन लोगो ने अपने वादन में, स्थानीय परिस्थितियो की आवश्यकतानुसार संशोधन किये तथा अपनी निजी प्रतिभा एवं सृजनशक्ति के आधार पर परिवर्तन करके अपने बाज को नया जामा पहनाया और अपनी अलग पहचान बना ली। जब उस नवनिर्मित शैली का अनुसरण उनके वंश एवं शिष्यों

द्वारा कई पीढ़ियों तक चलता गया तो कालान्तर में उसे एक घरानें की मान्यता मिली। इस प्रकार आज उत्तर भारतीय संगीत में तबले के मुख्य छः घराने प्रसिद्ध हैं :

(१) दिल्ली (२) अजराड़ा (३) लखनऊ (४) फर्रुखाबाद (५) बनारस (६) पंजाब।

उपर्युक्त घरानो के अतिरिक्त देश में तबले की अनेक परम्परायें भी प्रचलित हैं। जैसे :

इन्दौर, विष्णुपुर, ढाका, जयपुर, हैदराबाद, मुरादाबाद, भटौला आदि की परम्परायें। रामपुर, रायगढ, ग्वालियर जैसे राजदरबारों में फैली परम्परायें और कुछ नर्तकों एवं पखवाजियों से सम्बन्धित परम्परायें।

पहले हम विभिन्न घरानों के उद्‌गम एवं विकास के विषय में चर्चा करेंगे :

दिल्ली घराने के आदि प्रवर्तक उ० सिद्धार खाँ ढाढी, उनके अनुज चांद खाँ, पुत्र बुगरा खाँ, घसीट खाँ, एक अज्ञात नाम के पुत्र तथा वंश एवं शिष्यों की लम्बी सुदृढ़ परम्परा ने दिल्ली घराने की नींव दृढ़ की।

उत्तर प्रदेश के पश्चिमी भाग में एक मेरठ जनपद है। उसमे एक गाँव का नाम 'अजराड़ा' है। वहाँ के मूल निवासी दो भाई मीरू खाँ और कल्लू खाँ तबले की उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिये दिल्ली गये और वे उ० सिद्धार खाँ के पौत्र सिताब खाँ के शिष्य बन गये। पूर्ण शिक्षा प्राप्त कर लेने के बाद वे दोनों भाई अपने गाँव वापस चले गये। वहाँ उन लोगो ने अपनी वादन शैली में उल्लेखनीय परिवर्तन करके दिल्ली के बाज को एक नया चोला पहना दिया। फिर उनकी शिष्य परम्परा ने उस परिपाटी को आगे बढाया और इस प्रकार से अजराड़ा नामक एक नवीन घराने को मान्यता मिल गयी।

उ० सिद्धार खाँ के दो पौत्र मोदु खाँ और बख्शू खाँ को अवध के नवाब आसफ जंग बहादुर ने लखनऊ बुला लिया। इन बन्धु द्वय ने अपनी वादन शैली में यथेष्ट परिवर्तन करके एक मौलिक बाज का विकास किया। इसी से उनके घराने को एक पृथक् घराने की मान्यता मिली, जो लखनऊ घराने के नाम से विख्यात है।

देश के पूर्वी भाग में तबले के प्रचार और प्रसार का श्रेय पं० रामसहाय को प्राप्त है। ये लखनऊ घराने के प्रवर्तक उ० मोदु खाँ साहब की शिष्यता में रह कर तबला वादन में प्रवीणता प्राप्त की। एक लम्बी अवधि के पश्चात् वे अपने नगर बनारस लौट आये और तबले का यथेष्ट प्रचार किया। उनकी शिष्य परम्परा से एक घराने का जन्म हुआ जो आज देश में बनारस घराने के नाम से सुविख्यात है।

लखनऊ घराने के प्रवर्तक उ० बख्शू खाँ के शिष्य एवं दामाद उ० हाजी विलायत अली खाँ, फर्रुखाबाद के रहनेवाले थे। अपने श्वसुर से तालीम प्राप्त कर लेने के बाद उन्होंने फर्रुखाबाद जाकर अपनी नयी परम्परा आरंभ की, जो फर्रुखाबाद घरानें के नाम से प्रसिद्ध हुई।

तबले का एक बहुचर्चित घराना पंजाब घराना है। अभी तक हमने जितने घरानों की चर्चा की, सभी का सीधा सम्बन्ध दिल्ली से है। परन्तु यही एक ऐसा घराना है जिसका दिल्ली के घरानें से कोई संबंध स्थापित नहीं होता। यह घराना एक स्वतंत्र घराना है और उसके प्रवर्तक मृदंगवादक लाला भवानीदास थे। यही कारण है कि पंजाब घराने की वादन शैली मृदंग शैली में अधिक निकट है।

जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, तबले में बहुत सारी परम्परायें व्याप्त हैं। उन सभी का सम्बन्ध कहीं न कहीं से दिल्ली से है जिनकी विस्तृत चर्चा हम उन परम्परा वाले अध्यायों में करेंगे।

तबले के घरानों की संख्या—विभिन्न विचार

देश के कुछ वयोवृद्ध एवं प्रसिद्ध कलाकारों से विचार-विमर्श करने पर ज्ञात हुआ कि वे तबले के उपर्युक्त छः घरानों के स्थान पर केवल चार ही घराने स्वीकार करते हैं। वे पंजाब और बनारस के घरानों को पृथक् घरानों के रूप में नहीं स्वीकारते। उनका तर्क है कि पंजाब घराना मूलतः पखावज घराना है और वहां तबले का प्रचार अधिक पुराना नहीं है। इसी प्रकार से बनारस के विषय में उनकी मान्यता है कि उस घराने में ऐसी विशेष रचनाओं का सृजन नहीं हुआ है जिससे उसको एक स्वतन्त्र घराने की प्रतिष्ठा दी जा सके। गो कि वे लोग यह स्वीकार करते हैं कि बनारस ने देश को बहुत सारे श्रेष्ठ तबला-वादक दिये हैं। बनारस वालों ने कठिन साधना करके वादन में चमत्कार पैदा कर दिया है।

इसके विपरीत पंजाब घराने के पोषक पंजाब घराने को तबले का आदि घराना और दिल्ली से भी पूर्व का मानते हैं और बनारस घराने के पोषक गत फरद, बोल बाँट और लग्गी-लड़ी के काम में अद्वितीय बताते हुये घराने की श्रेष्ठता स्थापित करते हैं।

इस प्रकार अनेकानेक विचार-धारायें देश भर में व्याप्त हैं। किन्तु अधिकतर विद्वान् एवं तबला-वादक पंजाब और बनारस सहित तबले के छः घराने को स्वीकार करते हैं।

बाज और घराने

तबले पर बजने वाले वर्ण, अक्षर, पराक्षर या 'Alphabet' कहलाते हैं, वे सभी घरानों एवं बाजों में एक समान ही होते हैं। सभी घरानों में धा को धा और धि और धि ही कहते हैं। परन्तु विभिन्न घरानों में उनके निकालने की विधि में थोड़ा-थोड़ा अन्तर होता है। प्रत्येक घराने में कुछ विशेष प्रकार की मौलिक रचनायें भी हुईं और घराने के कर्णधार विद्वानों ने बन्दिशों के निकालने की विधि (Sound production) में परिवर्तन किये। इसी से विभिन्न घराने अलग-अलग अस्तित्व में आये और उनकी पहचान बनी। तबले पर बजने वाली रचनायें पेशकारा, कायदा, परन, गत आदि हैं, परन्तु उन सभी का महत्व विभिन्न घरानों में भिन्न-भिन्न हैं। जैसे दिल्ली घराने में कायदे और रेलों को अधिक महत्व दिया जाता है तो फरुखाबाद में रौ, गत और चाला या चलन को और बनारस के घराने में छन्द, परन, लय और बोल बाँट को अधिक महत्व दिया जाता है। इस प्रकार प्रत्येक घराने के अपने नियम हैं। उन्हीं की सीमा में बद्ध होकर भारतीय संगीत में विविध घराने अस्तित्व में आये, जो अपनी निजी विशेषताओं के कारण एक दूसरे से पृथक् हो सके।

तालिका संख्या—१४

तबले के प्रमुख छः घरानों का उद्गम
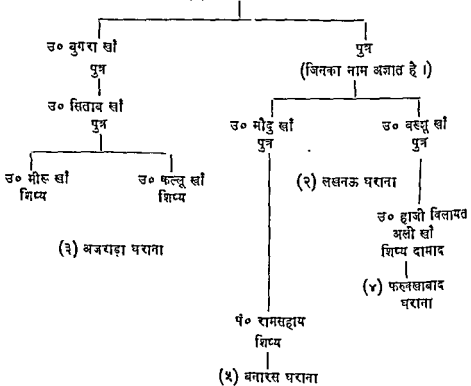
तबले के विभिन्न बाज

हमने बाज के विषय में पहले ही विचार कर लिया है। प्रायः तबला विषय के जिज्ञासुओं के बीच बाज और घरानों के विषय की चर्चा में कुछ भ्रान्ति देखने को मिलती है। बाज और घरानों का आपस में क्या संबंध है और वे एक दूसरों से किस प्रकार भिन्न हैं, यह विचारणीय प्रश्न है। बाज और घराने एक दूसरे से पृथक् और एक उसी प्रकार हैं जिस प्रकार शर्बत में पानी और चीनी है। तबले के विभिन्न घरानों की मान्यता का एक मात्र आधार उनकी भिन्न वादन शैली है। यह भिन्नता दो प्रकार से बतलायी जा सकती है। एक रचनाओं से और दूसरे बोलों की निकास विधि से। तबले के वर्ण सभी घरानों के लिये एक है। उसी प्रकार से जैसे वर्णमाला के आधार पर भिन्न-भिन्न विषय लिखे जाते हैं। तबले में एक ही बोल विभिन्न घरानों में कुछ अन्तर के साथ बजाये जाते हैं। उदाहरण के लिये धा के निकास को देखिये। दिल्ली, अजराड़ा में यह किनार पर तो लखनऊ में लव पर, तो बनारस में और थुना करके बजाया जाता है।

तिरकिट का निकास किस प्रकार से विभिन्न घरानों में किया जाता है, यह नीचे की तालिका से स्पष्ट हो जायेगा। पश्चिम के तबला वादक धिरधिर की निकास में अँगुलियों को पूड़ी से बाहर नहीं निकालते, जब कि पूरब के तबला वादक अंगुलियों को बाहर जाने देते हैं।

घराना	ति	र	कि	ट
१. दिल्ली	मध्यमा उँगली से	तर्जनी से	बायें	परमध्यमा से
२. अजराड़ा	मध्यमा से	तर्जनी से	बायें पर	अनामिका से
३. फर्रुखाबाद	मध्यमा से	तर्जनी से	बायें पर	मध्यमा और अनामिका साथ में
४. लखनऊ	मध्यमा और अनामिका साथ में	तर्जनी से	बायें पर	मध्यमा और अनामिका साथ में
५. बनारस	मध्यमा और अनामिका साथ में	तर्जनी से	बायें पर	मध्यमा और अनामिका साथ में
६. पंजाब	मध्यमा और अनामिका साथ में	तर्जनी से	बायें पर	तर्जनी को छोड़ कर तीनों उंगलियां एक साथ में

इसी प्रकार विभिन्न घरानों में बोल बन्दिशों में भी अन्तर है और उसी से उनकी पहचान स्पष्ट होती है। जैसे पश्चिम के बाज में कायदा, पेशकारा, रेले और छोटे-छोटे मुखड़े मोहरों की प्रधानता रही है। उसके विपरीत फरुखाबाद में चालें और गतों को महत्व दिया जाता है। और बनारस बाज में बोल-बाँट, लग्गी-लड़ी एवं छन्दों का बाहुल्य रहता है। इस विश्लेषण से तबले के विभिन्न बाजों का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है।

आधुनिक युग में घरानों की सार्थकता

उत्तर भारतीय संगीत में कुछ एक दशकों पूर्व तक घरानों को विशेष मान्यता प्राप्त थी। परन्तु आज के प्रगतिशील युग में परिस्थिति भिन्न हो गयी है। अब घरानों की आवश्यकता व्यक्ति के ज्ञान की परिधि तक ही सीमित है। प्रत्येक घराने की विशेषताओं को आत्मसात् करके अपने संगीत में ढाल लेना ही एक लक्ष्य रह गया है। अतः अब घरानों की कट्टरता में शिथिलता आयी है क्योंकि आज संगीत का क्षेत्र बहुत विस्तृत हो गया है। संगीत सम्मेलन, सभायें, आकाशवाणी, दूरदर्शन एवं विभिन्न प्रकार की रिकार्डिंग पद्धतियों के कारण संगीत जनमानस में व्याप्त हो गया है। यही कारण है कि आज किसी एक घराने की विशेष शैली का परम्परागत एवं कट्टरतापूर्वक अनुसरण नहीं हो रहा है। संगीत लोकरुचि पर आधारित होने के कारण उसमें सदा परिवर्तन होता आया है। आज का संगीतकार अपने प्रदर्शन में प्रत्येक घराने की सुन्दर बातों को सम्मिलित करने का प्रयास करता दिखायी देता है और यही उचित भी है। आज समय आ गया है कि कलाकार घरानों की रूढ़वादियों से ऊपर उठ कर संगीत को लोकप्रिय बनाने के लिये प्रयास करे। इसी में उसका और संगीत दोनों का कल्याण है।

यह यथार्थ है कि एक समय में घरानों की प्रगति से संगीत में बहुत निखार आया था और संगीत को सुरक्षित रखने में उनका सराहनीय योगदान रहा है। कुछ रूढ़वादी कलाकार घराने नष्ट होने पर विलाप करते हुये सुने जाते हैं, परन्तु उचित तो यह है कि वे आज बदलती हुई परिस्थिति में उसको नया चोला पहना दें और एक मध्य मार्ग निकालें।

● ●

अध्याय ३

दिल्ली घराना

पिछले अध्याय में हम देख चुके हैं कि तबले के सर्वप्रथम घराना दिल्ली घराने के जन्मदाता उ० सिद्धार खाँ ढाढ़ी हैं। घरानों की परिपाटी में ढाढ़ी या ढारी और खलीफा शब्द का प्रयोग प्रचुरता से होता है। अतः यहाँ इन दोनों शब्दों के अर्थ और प्रयोग विधि जान लेना अनुपयुक्त न होगा। पं० भातखण्डे जी ने ढाढ़ी के लिये निम्न अर्थ लिखा है :

'धाढ़ी लोग गायन वादन का व्यवसाय करके उदरपूर्ति किया करते थे। आगे चलकर वे मुसलमान हो गये। आज इन धाढ़ियों की विद्या नष्ट होकर वे लोग नाचने-गाने वाली बाइयों का साथ करने वाले मिरासी बन गये हैं।'[1]

अबुलफज़ल के अनुसार ढाढी लोगों का मूल स्थान पंजाब था और वे सैनिकों को उत्तेजित करने के लिए युद्धगान करते थे। वे ढोल बजाते थे तथा पंजाबी भाषा में शौर्य गीत गाया करते थे। तत्पश्चात् वे संगीत कला में भी पारंगत होने लगे। वे विभिन्न शैलियों के गायन तथा वादन में कुशल साबित हुये तथा शास्त्रीय संगीत का उच्च स्तरीय ज्ञान रखने लगे। इस जाति के संगीत कलाकारों को अकबर के दरबार में भी स्थान मिला और वही क्रम आगे चलता गया।[2]

मोहम्मद करम इमाम मदन-उल-मूसिक़ी में ढाढियों को तवायफों तथा सफ़रदाइयों के साथ गिनाते हैं। उनके अनुसार कलावन्त लोग ढाढ़ियों की अपेक्षा स्वयं को उच्च कोटि के मानते हैं। और ढाढ़ी लोग डेरेदार की अपेक्षा अपने को ऊँचा समझते है। डेरेदार वर्ग के कलाकार सर्वसाधारण रूप से कोठे पर गाने बजानेवाली स्त्रियों के भाई, बाप या बेटे होते हैं।[3]

संगीत के क्षेत्र में खलीफा शब्द उस व्यक्ति के लिये प्रयुक्त होता है जो वंशपरम्परागत सर्वश्रेष्ठ उत्तराधिकारी है। यह पदवी घरानेदार उस्तादों के पुत्रों को ही प्राप्त होती है, शिष्यों को नहीं। खलीफा शब्द का प्रयोग हकीम मोहम्मदकरम इमाम ने अपनी पुस्तक में किया है। अतः यह शब्द पिछली तीन-चार सदियों से प्रयुक्त होता आया है। खलीफा फारसी भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ है 'राजा'। घराने की प्रभुता के समय इस शब्द का विशेष महत्व था और यह अलंकरण विशेष समारोह में और घराने के प्रतिष्ठित कलाकारों के बीच में हुआ करता था। कहीं-कहीं तो उस व्यक्ति विशेष को पगडी (साफा) बांधा जाता था और सभी छोटे-बड़े व्यक्ति कुछ (धन) नजर (भेंट) दे कर उनकी श्रेष्ठता स्वीकार करते थे।

---

१. भातखण्डे संगीत शास्त्र : भाग चौथा : पृष्ठ २२३

२. आइन-ए-अकबरी : दूसरा खण्ड : अबुल फज़ल पृष्ठ ६८०
तथा राग दर्पण दसवाँ अध्याय : फकीरुल्लाह
तथा मुसलमान और भारतीय संगीत : बृहस्पति पृष्ठ ७९-९६
तथा खुसरो, तानसेन तथा अन्य कलाकार : सुलोचना-बृहस्पति पृष्ठ २००-२०१

३. वही

दिल्ली घरानें का इतिहास

पीछे वर्णित ढाढ़ी परम्परा में जन्मे व्यक्ति उ० सिद्धार खाँ ढाढ़ी का नाम इस घरानें के प्रवर्तक के रूप में प्रसिद्ध है। इनका जन्म कहाँ हुआ यह कहना कठिन है। सम्भवतः सन् १७०० ई० के आस-पास हुआ होगा। शोध से ज्ञात हुआ है कि उनके समय में खब्बे हुसेन ढोलकिया, नियामत खाँ 'सदारंग', खुसरो खाँ, पखावजी भवानी सिंह आदि प्रसिद्ध कलाकार थे। सिद्धार खाँ ने युग की बदलती हुई रुचि का गहराई से अध्ययन किया और पखावज के आधार पर तबले को ऐसा कलेवर दिया कि उसका रूप पखावज से सर्वथा पृथक् होकर सामने आया। पखावज के खुले बोलों को तबले पर बजाने योग्य बनाया, अँगुलियों के रख-रखाव में परिवर्तन किये और चाँटी प्रधान कुछ नवीन रचनाएँ करके एक क्रान्तिकारी कदम उठाया। कालान्तर में उनकी वंश परम्परा और लम्बी समर्थ शिष्य परम्परा ने उस घरानें को सुदृढ़ किया, विस्तृत किया तथा अन्य घरानों के मूल प्रवर्तक होने का गौरव प्राप्त किया।

दिल्ली घरानें के प्रवर्तक उ० सिद्धार खाँ ढाढ़ी के तीन पुत्र थे—

(१) घसीट खाँ—जिनके वंशजों का इतिहास नहीं मिलता, अतः अनुमान है कि उनकी वंशपरम्परा आगे नहीं चली होगी।

(२) नाम अज्ञात है—इनके दो पुत्र उस्ताद मोंदू खाँ और उस्ताद बख्शू खाँ हुए, जिनसे लखनऊ का घराना स्थापित हुआ। अतः तबले के इतिहास में सिद्धार खाँ के इस अज्ञात नाम के पुत्र का विशेष महत्व है।

(३) बुगरा खाँ—उस्ताद सिद्धार खाँ के अनुज उस्ताद चाँद खाँ तथा पुत्र बुगरा खाँ दोनों इनके परम्परागत शागिर्द थे, जिनके वंशजों तथा शिष्य परम्परा से दिल्ली घराना सर्वत्र फैला है।

उ० बुगरा खाँ के दो पुत्र थे—(१) उ० सिताब खाँ व (२) उ० गुलाब खाँ। इन दोनों भाइयों के वंशज तथा शिष्यों में अनेक श्रेष्ठ तबला नवाज पैदा हुए, जिन्होंने इस घरानें का नाम रोशन किया।

उ० सिताब खाँ के पुत्र उ० नजर अली खाँ, दौहित्र बड़े काले खाँ, वंशज गादी खाँ और शिष्य मीरू खाँ, कल्लू खाँ सभी गुणी कलाकार थे। पुत्र नजर अली से जयपुर के बहुत से कलाकारों ने शिक्षा ग्रहण की थी, जिनमें सर्वश्री हिदायत अली, कुतुब अली, इनायत अली तथा मदद अली के नाम लिये जाते है। आजकल इनके वंशज पाकिस्तान में हैं।

उ० सिद्धार खाँ के दौहित्र बड़े काले खाँ साहब से तबले का बहुत प्रचार हुआ। उनके पुत्र बोलीबख्श, पौत्र नत्थू खाँ, शिष्य उ० मुनीर खाँ एवं बादशाह बहादुरशाह जफर के पौत्र फिरोज खाँ दिल्ली वाले ने देश भर में ख्याति प्राप्त की। तबले के इतिहास मे उ० मुनीर खाँ का नाम श्रेष्ठ उस्तादों (शिक्षकों) में लिया जाता है। उनके जीवन में सैकड़ो शिष्य तैयार हुए जिनमें सर्वश्री अहमदजान थिरकवा, अमीर हुसेन खाँ, गुलाम हुसेन खाँ, हबीबुद्दीन खाँ, शमसुद्दीन खाँ, मजीद हुसेन पानीपतवाले, चाँद खाँ बिजनौरी, सुब्बाराव अंकोलकर, विष्णु पन्त शिरोड्कर, श्यामराम धराग, रहेमान खाँ, रहीम बख्श, बाबालाल इस्लाम पुरकर आदि नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। खाँ साहब के शिष्य-प्रशिष्यों में भी हजारों कलाकार हुए। उनमें से कुछ के नाम इस प्रकार है—सर्वश्री फकीरमोहम्मद, निखिल घोष, अता हुसेन खाँ, पंढरी-

नाथ नागेश्कर, शेख अब्दुल करीम, तुफैल, शेर खां, जगन्नाथ बुवा पुरोहित, रोज़ बेल लायल, गुलाम रसूल, अब्दुल सत्तार, अब्दुल रहमान, बाबासाहेब मिरजकर इत्यादि तथा इस पुस्तक की लेखिका भी एक हैं। उ० नत्थू खां की परम्परा में सर्वश्री रायबहादुर केशवचन्द्र बनर्जी, हिरेन्द्र किशोर राय चौधरी, विनायक घांघरेकर, वासुदेव प्रसाद, तारानाथ एवं हबीबुद्दीन खां के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

उ० बुगरा खां के दूसरे पुत्र गुलाब खां के पुत्र मोहम्मद खां तथा पौत्र काले खां ने भी तबला जगत् में ख्याति पायी। काले खां साहब के दो पुत्र उ० गामी खां एवं उ० मुन्नु खां हुये। गामी खां के पुत्र इनामअली तथा पौत्र गुलाम हैदर अपनी परम्परा को आगे बढाने में प्रयत्नशील है। गामी खां साहब के शिष्यों में उल्लेखनीय सर्वश्री फकीर मोहम्मद, मोहम्मद अहमद,हीरालाल, ग्लेडवीन चार्ल्स, मारुतीकीर, रीजराम देसद, इत्यादि प्रमुख है। आजकल इस परम्परा के शिष्यो में सर्वश्री लतीफ अहमद खां, फैयाज़ खां, बशीर अहमद, राम घुर्वे इत्यादि के नाम लिये जाते हैं।

उ० सिद्धार खां के छोटे भाई उ० चाद खां की परम्परा से भी तबले का प्रचार हुआ है। उ० चांद खां के पुत्र उ० लल्ली मसीत खां, पौत्र लगडे हुसेन खां तथा दोनो प्रपौत्र घसीट खां तथा नन्हे खां अपने समय के कुशल कलाकार माने जाते थे। इनकी शिष्य परम्परा में सर्वश्री उ० फजली खां, गुलाम मोहम्मद, करम बख्श जिलवाने वाले, परले खां, रहीम बख्श, रुबगाजी, अल्लादिया खां अमरावतीवाले, पं० बालुभाई रुकड़ीकर, काले खां, छम्मा खां, मटेबून खं मिरजकर, जुगना खां, अज़ीम खां जावरेवाले, निज़ामउद्दीन, ज्ञान प्रकाश घोष, शेर खां, लगड़े अहमदअली, हिरेन्द्र किशोर राय चौधरी, हिदायत खां, फैयाज खां, अब्दुल करीम खां इत्यादि के नाम प्रमुख हैं। आजकल इस परम्परा के उदीयमान कलाकारों मे दिल्ली के शफात अहमद का नाम लिया जाता है।

उ० सिद्धार खां के तीन प्रमुख शिष्य थे—सर्वश्री रोशन खां, तुल्लन खां और कल्लू खां। खेद है कि उनकी परम्परा हमें नहीं मिल सकी।

उ० सिद्धार खां के दो पौत्र उ० मोदू खां तथा उ० बख्शू खां से लखनऊ घराने (लाल हवेलीवाले) की परम्परा चली जिसकी चर्चा यथा स्थान की जायेगी।

उ० सिद्धार के पौत्र सिताब खां के दो शिष्य उ० कल्लू तथा उ० मीरू खां (दोनों भाई) से अजराड़ा घराने का जन्म हुआ, जो दिल्ली घरानें की ही एक शाखा है। इस परम्परा की विशेष सूचना संलग्न तालिका से स्पष्ट हो जायेगी।

दिल्ली घरानें से सम्बन्धित उपलब्ध ग्रन्थ

दिल्ली घरानें के दो प्रमुख शिष्यों ने निम्न वर्णित दो महत्वपूर्ण पुस्तकें फारसी भाषा में लिखी हैं, जिनके कारण वहाँ की विशेषतायें तथा उसकी ऐतिहासिक परम्परा को समझने में काफी सरलता होती है :

(१) सरमायः इशरत : लेखक – सादिक अली सितार खां। सन् १८५० ई० के निकट लिखी गई इस पुस्तक में तबले के दिल्ली घरानें की पर्याप्त चर्चा है। इस पुस्तक के पृष्ठ १४३ पर दिल्ली घरानें का एक कायदा लिपि बद्ध है, इससे यह सिद्ध होता है कि उस समय तक दिल्ली घराना और उसके कायदे काफी प्रचलित हो चुके थे।

(२) नाम अज्ञात · लेखक – मोहम्मद इशहाक। इस पुस्तक की रचना काल सन् १८७५ ई० से १६०० ई० के बीच का है। लेखक मोहम्मद इशहाक दिल्ली के किसी मोलवी के पुत्र थे एवं दिल्ली घरानें के सुप्रसिद्ध उस्ताद बड़े काले खां एवं नन्हें खां से तबला एवं अमृत सेन से सितार वादन की शिक्षा पायी थी, ऐसा पुस्तक में उल्लिखित है।

इस पुस्तक की दूसरी विशेषता यह है कि इसमें तालांगों की व्याख्या, वर्णों के निकास की विधि का सचित्र वर्णन तथा कुछ बन्दिशो मुख्यतः कायदों को लिपि-बद्ध करके लिखा गया है। इस ग्रन्थ से दिल्ली घरानें की प्रामाणिक जानकारी मिलती है।

नोट—उपर्युक्त दोनों पुस्तकों को स्वयं लेखिका को देखने का सौभाग्य नहीं प्राप्त हो सका है, परन्तु बरेली के डा० रमा वल्लभ एवं बम्बई के पं० तारा नाथ जी ने ऐसी जानकारी दी है। उन विद्वानों के अनुसार उन लोगों ने इन पुस्तको को देखा एवं अध्ययन किया है।

दिल्ली घरानें की वादन शैली

दिल्ली बाज अपनी निजी एवं मौलिक विशेषताओं के कारण और तबला का सर्वप्रथम घराना होने का श्रेय प्राप्त होने से तबले के क्षेत्र में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। उसकी प्रमुख वादन विशेषतायें निम्नलिखित हैं—

(१) यह तबले का अत्यन्त कोमल और मधुर बाज है। इसे दो अंगुलियों का बाज भी कहते हैं, इसमे तर्जनी एव मध्यमांगुली का अधिक प्रयोग होता है। कभी-कभी अनामिका का भी प्रयोग होता है। इस बाज मे अंगुलियों का विशेष ढंग से प्रयोग होता है।

(२) यह बाज चाटी प्रधान बाज है। अतः इसे किनार का बाज भी कहा जाता है। चाटी की प्रधानता होने के कारण इसके वादन में ध्वनि की उत्पत्ति सीमित होती है। इसलिये इसे बन्द बाज की भी संज्ञा दी जाती है।

(३) इस बाज में पेशकार, कायदा, रेला, मुखड़ा-मोहरा एवं छोटे-छोटे टुकड़े विशेष रूप से बजाये जाते हैं। पूरब बाज की भांति इसमे बड़े परन, जोरदार चक्करदार परनों का अभाव है। इसमें प्रयुक्त होने वाले कुछ विशेष बोल समूह इस प्रकार हैं—धिनधिन, धा धा तिरकिट, धागेन धा तिरकिट, धाती धागे, धातिगेन आदि।

(४) इस घरानें की अधिकाश रचनायें चतुरस्र जाति में निबद्ध होती हैं।

(५) इस बाज के डग्गे (बाया) के वादन में तर्जनी और मध्यम अंगुली का अधिक प्रयोग होता है और बजाते समय बाय पर से हाथ उठाया नहीं जाता।

(६) चूंकि यह अंगुलियों का बाज है और पूरे पंजे का प्रयोग वर्ज्य है, अतः धिरधिर का निकास पूड़ी के अन्दर-अन्दर ही होता है जबकि पूरब के घरानों में धिरधिर बजाते समय अंगुली का कुछ भाग पूड़ी के बाहर तक निकल जाता है।

(७) अन्त में इस बाज की संगति-सीमाओं एवं स्वतन्त्र वादन में उपयुक्तता पर विचार करना होगा। सोलो (स्वतन्त्र वादन) वादन की दृष्टि से यह बाज एक श्रेष्ठ बाज है, क्योंकि इसमें तबले के शुद्ध बाज का दर्शन होता है। मधुर एवं कर्णप्रिय बाज होने के कारण विद्वानों एवं श्रोताओं पर अच्छा प्रभाव पड़ता है।

तबला मुख्यतः संगति का वाद्य है और इस पक्ष में दिल्ली बाज बिलकुल खरा नहीं उतरता। गायन की कुछ विधाओं एवं कत्थक-नृत्य की सगति में यह बाज पूर्णतः सफल नहीं होता। यही कारण है कि आज के इस घरानें के सफल कलाकारों ने अपने वादन को आवश्यकतानुसार बदल दिया है, जो बाज की शुद्धता पर प्रश्न चिह्न लगा देता है। यदि ये ऐसा न करें तो आज के युग में वे कितने सफल हो पायेंगे, कहना कठिन है।

इस बाज और घरानें के कुछ कायदे उदाहरण स्वरूप दिये जा रहे है, जो बाज की उपर्युक्त विशेषताओं को उजागर करेंगे :—

कायदा—ताल-तीन ताल

धा ति धा गे न धा तिर किट धा ति धा गे धि ना त धा |
×
तिर किट धा गे न धा ति धा गे न धा गे ति ना के न |
२
ता ति ता के न ता तिर किट ता ति ता के ति ना त धा |
०
तिर किट धा गे न धा ति धा गे न धा गे धि ना गे न |
३

वल १ :
धा ति धा गे न धा तिर किट धा ति धा गे धि ना धा गे |
×
न धि ना धा ति धा गेन धा ति धा गे ति ना के न |
२
ता ति ता के न ता तिर किट ता ति ता के ति ना के न |
०
न ति ना धा ति धा गे न धा ति धा गे धि ना गे न |
३

वल २ :
धा ति धा गे न धा तिर किट धा ति धा गे धि ना धा गे |
×
न धि ना धा गे न धि ना धा ति धा गे ति ना के न |
२
ता ति ता के न ता तिर किट ता ति ता के नि ना ता के |
०

न ति ना ता   के न ति ना   धा ति धा गे   धि ना गेन |

०

बल ३ :

धा ति धा गे   न धा तिर किट   धा ति धा गे   धि ना धा गे |

×

धि ना धा गे   धि ना धा ति   धा ति धा गे   ति ना के न |

२

ता ति ता के   न ता तिर किट   ता ति ता के   ति ना ता के |

०

ति ना ता के   ति ना धा ति   धा ति धा गे   धि ना गे न |

३

बल ४ :

धा ति धा गे   न धा तिर किट   धा ति तिर किट   धा गे न धा |

×

ति तिर किट धा   गे न धा ति   धा ति धा गे   ति ना के न |

२

ता ति ता के   न ता तिर किट   ता ति तिर किट   ता के न ता |

०

ति तिर किट धा   गे न धा ति   धा ति धा गे   धि ना गे न |

३

बल ५ :

धा ति धा गे   न धा तिर किट   धा गे न धा   तिर किट धा गे |

×

न धा तिर किट   धा गे तिर किट   धा ति धा गे   ति ना के न |

२

ता ति ता गे   न ता तिर किट   ता के न ता   तिर किट ता के |

०

न ता तिर किट   धा गे तिर किट   धा ति धा गे   धि ना गे न |

३

नोट—उपर्युक्त कायदा एवं उसके बल (पलटे) उस्ताद फकीर मोहम्मद (नृत्यांगना कुमारी रोशन के पिता) के सौजन्य से प्राप्त हुआ।

कायदा नं० २

धिं नन कत धिं | नन कत धागे त्रक |
×　　　　　　२
धिना गेन त्रक धिं | तक धिं नन कत |
०　　　　　　३
तिं नन कत तिं | नन कत तागे त्रक |
×　　　　　　२
धिना गेन त्रक धिं | तक धिं नन कत |
०　　　　　　३

कायदा नं० ३

धाधाकधा तिधागेन धातिधागे तिना, धाधा |
×
तिनाकेधा तिधागेन धातिधागे तिना, धाधा |
२
तिनाकेधा धातिधागे धातिधागे तिना, कधा |
०
धातिन, धा तिधागेन धातिधागे तिनाकेन |
३
तातिकता तिताकेन तातिताके तिना, ताता |
×
तिनाकेता तिताकेन तातिताके तिना, धाधा |
२
तिनाकेधा धातिधागे धातिधागे धिना, कधा |
०
धातिन, धा तिधागेन धातिधागे धिनागेन |
३

कायदा नं० ४

धिनगिन	न ग न ग	तिरकिट	धिन गिन	|
×				
नगनग	तिरकिट	नग नग	तिरकिट	|
२				
धिनगिन	नगनग	तिरकिट	धिनगिन	|
०				
धिनगिन	नगनग	तिरकिट	धागेनक	|
३				
तिनकिन	नकनक	तिरकिट	तिनकिन	|
×				
नकनक	तिरकिट	नकनक	तिरकिट	|
२				
धिनगिन	नगनग	तिरकिट	धिनगिन	|
०				
धिनगिन	नगनग	तिरकिट	धागेनक	|
३				

अध्याय ४

अजराड़ा घराना

इस घराने को यदि दिल्ली घराने की एक निकटतम शाखा कहे तो अनुचित न होगा। दिल्ली के निकट मेरठ जनपद में एक गाँव है, जिसका नाम अजराड़ा है। वहाँ के मूल निवासी दो भाई कल्लू खाँ और मीरू खाँ ने दिल्ली आकर उस्ताद सिद्धार खाँ ढाढी के पौत्र सिताब खाँ से तबले की विधिवत् शिक्षा प्राप्त की और शिक्षा पूर्ण हो जाने पर वे अपने गाँव वापस चले गये। तत्पश्चात् उन बन्धुओं ने अपनी प्रतिभा और सूझ-बूझ से अपनी गुरु परम्परागत प्राप्त वादन शैली में मौलिक परिवर्तन किये और नये ढंग की बन्दिशों का निर्माण किया। सर्व श्री कल्लू खाँ और मीरू खाँ का समय अनुमानतः सन् १७८० के पश्चात् का रहा होगा। कालान्तर में उनके वंश और शिष्य परम्परा ने उस शैली में निरन्तर निखार पैदा की और उसको एक पृथक घराने की मान्यता दिलाने में सराहनीय कार्य किया। यूँ तो अजराड़ा घराना पश्चिम के घरानों की श्रेणी में आता है जिसकी विशेषता बन्द और किनार के बाज में है, किन्तु उसमें मौलिक बंदिशों एवं भिन्न छन्द के प्रयोग से तत्कालीन उस्तादों ने उसे पृथक् घराने की मान्यता दे दी।

अजराड़ा घराने की परम्परा

इस घराने के प्रवर्तक कल्लू खाँ और मीरू खाँ की वंश परम्परा में मोहम्मदी बख्श, चाँद खाँ, काले खाँ, कुतुब खाँ, तुल्लन खाँ एवं घीसा खाँ हुये। खेद है कि इन कलाकारों के विषय में कोई जानकारी प्राप्त नहीं होती, उस समय का कोई इतिहास न प्राप्त होने के कारण केवल किंवदन्तियों पर ही आश्रित रहना पड़ता है। कुतुब खाँ के पुत्र हस्सू खाँ माने हुये उस्ताद हो गये हैं। उनके पुत्र, वंशज एवं शिष्यों में बंबू खाँ, शम्मू खाँ तथा नन्हे खाँ हुये। इस परम्परा में अजीजुद्दीन खाँ, नियाजू खाँ तथा घीसा खाँ की परम्परा में जिम्मू खाँ तथा उनके शिष्य शफिया खाँ, निजामउद्दीन खाँ, जमीर अहमद आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

लगभग सन् १९४५ ई० से उस्ताद शम्मू खाँ के पुत्र उस्ताद हबीब उद्दीन खाँ संगीत जगत में चमके और उनका वादन लगभग केवल दो दशकों तक ही रह सका। हबीब उद्दीन खाँ ने उस्ताद मुनीर खाँ से भी शिष्य बन कर शिक्षा प्राप्त की थी। खाँ साहब के हाथ में वह जादू था कि जहाँ वे बजाते थे बेजोड़ बजाते थे। वे सोलो की अपेक्षा संगत करने में अधिक पटु थे। परन्तु सन् १९६५ के बाद ही उनका वादन शिथिल होने लगा और कुछ ही वर्षों में उन्हें लकवा का प्रकोप हो गया और सन् १९७२ में इस लोक से चले गये। उनकी परम्परा में उनके पुत्र मंजू खाँ तथा उल्लेखनीय शिष्यों के नाम इस प्रकार हैं—सर्वश्री सुधीर कुमार सक्सेना (बड़ौदा), हजारी लाल कत्थक (मेरठ), करण सिंह (आकाशवाणी, इन्दौर), राम पुर्वे (आकाशवाणी रायपुर), महाराज बनर्जी (कलकत्ता), पम्मन खाँ, राम प्रवेश सिंह (पटना), अमीर मोहम्मद खाँ (टोंक) आदि।

आजकल इस घराने की परम्परा को जीवित रखने में आकाशवाणी दिल्ली में कार्यरत श्री रमजान खां, आशिक हुसैन (जयपुर), हशमत अली खां (आकाशवाणी श्रीनगर) एवं यशवंत केलकर (बम्बई) आदि का विशेष योगदान है। सम्भव है इस वर्णन में किसी कलाकार का नाम छूट गया हो, उसके लिये तो हम क्षमा-प्रार्थी हैं, परन्तु घराने की तालिका में सभी को स्थान देने का प्रयत्न किया गया है।

अजराड़ा घराने की वादन शैली

पहले हम देख चुके हैं कि अजराड़ा घराने के मूल प्रवर्तकों ने दिल्ली घराने के उस्तादों से शिक्षा प्राप्त की थी। अतः इस घराने की वादन शैली का आधार गुरु घराने (दिल्ली) की वादन शैली ही है, परन्तु इस घराने की शैली में इतना अन्तर आ गया कि इसमें मौलिकता स्पष्टतः दिखलाई देने लगी। अब हम इस घराने की वादन शैली की विशेषताओं का विश्लेषण करेंगे।

(१) अजराड़ा घराने के उस्तादों ने कायदे की रचनायें त्र्यश्र (तिस्र) जाति में अधिक की, जब कि उस समय तक दिल्ली वालों ने केवल चतुरश्र जाति में कायदे रचे थे। अजराड़े वालों के इस नवीन प्रयोग एवं लय वैचित्र्य के कारण उनको सरलता से स्वतन्त्र घराने की मान्यता मिल गई।

(२) इस घराने में डग्गे (बायाँ) का प्रयोग मींडयुक्त, सुन्दर एवं दाहिने के बोलों से लड़ता हुआ होता है, जो अन्य किसी घराने से अलग है। देखिये, किस प्रकार निम्न कायदे की प्रथम मात्रा (धा ऽ ड़) में मींड का काम किया जाता है। इसमें धा के पश्चात् १/३ मात्रा का विराम बांये से मीड के द्वारा भरा जाता है जो कायदे के सौन्दर्य को द्विगुणित कर देता है। पूरा कायदा इस प्रकार है:—

धा ऽ ड़	धा ति ट	धा गे ति	र कि ट	धा धा घे	के त क	धि न धि	ना गे न
×				२			
ता ऽ ड़	ता ति ट	धा गे ति	र कि ट	धा धा घे	घे त क	धिनधि	ना गे न
०				३			

(३) अभी तक तबला वादन में मध्मांगुलि एवं तर्जनी का ही प्रयोग होता था, परन्तु इस घराने वालों ने तबला और बायां दोनों पर इन अंगुलियों के साथ-साथ अनामिका का भी प्रयोग प्रारम्भ कर दिया। इस नवीन प्रयोग से कुछ बोल जैसे 'धिनगिन' अत्यन्त सरलता से द्रुत लय में बजने लगे। इस बोल समूह में 'न' तर्जनी से चाटी पर न बजा कर अनामिका से स्याही के पूर्व भाग से निकाला जाने लगा।

(४) यह घराना कायदों की खूबसूरती और विविधता के लिये विशेष प्रसिद्ध है। यहां के कुछ कायदे कत, ति, धिगन, घेनक आदि बोलों से प्रारम्भ होते हैं, जो अन्य घरानों में कम दिखते हैं।

(५) इस घराने के कुछ कायदों में एक और विशेषता देखने को मिलती है जो कायदे के उत्तरार्द्ध अर्थात् खाली (मुंदी) से सम्बन्धित है। अधिकांश कायदे के उत्तरार्द्ध का भाग पूर्वार्द्ध का बन्द (बायां रहित) ही होता है, जो निम्न कायदे में स्पष्ट हो जायेगा:—

धाऽघे घेनक धिटधि टकिट | धाधाघे घेतक तिनति नाकिन |

× २

ताऽके केनक तिटति टकिट | धाधाघे घेतक धिनधि नागिन |

० ३

इसके विपरीत अजराड़े के निम्न प्रसिद्ध कायदे को देखिये। इसमें उत्तरार्द्ध का भाग अन्य कायदों से भिन्न है :—

धा धा धा धि धा धि धाधा घेघे तक धि- धिना गेन |

×

धि धा धि धागे तिट किट धाधा घेघे तक धि धिना गेन |

२

ति - - ना-न ता के ति र किट ता ता के के तक ति ति ना के न |

०

धि धा धि धागे तिट किट धाधा घेघे तक धि धिना गेन |

३

उपर्युक्त कायदे में खाली के बोलों में ता ता ता ति ता ति के स्थान पर ति - - ना-न ता के ति र किट बोल लगाये गये हैं, जो कायदे के साधारण नियमों से हट कर है और यही इस घराने की विशेषता है।

(६) अब इस घराने की वादन शैली की सोलो वादन एवं संगति में उपयुक्तता पर विचार करेंगे। सोलो या स्वतन्त्र वादन के लिये यह बाज बहुत सफल है, क्योंकि इसमें जिस वादन का दर्शन होता है उसे गुणीजन शुद्ध तबला मानते हैं। यही कारण है कि यह बाज अत्यन्त कठिन साध्य होने पर भी अधिकतर गुणीजनों के बीच ही सराहा जाता है। इसके लय वैचित्र्य से पूर्ण लचीले कायदे वादन में विशेष आकर्षण पैदा कर देते हैं।

तबला विशेषतः संगत का वाद्य है। अतः वही बाज सफल माना जायेगा जो प्रत्येक गायन शैली वादन एवं नृत्य की संगति में खरा उतर सके। इस परीक्षण में अजराड़ा की वादन शैली पूर्णतः सफल नहीं होती। गायन की कुछ विधाओं एवं कत्थक नृत्य की संगति में यह बाज पूर्णतः उपयुक्त नहीं है, क्योंकि इसमें खुले और जोरदार परन, टुकड़ों, चक्करदार आदि का अभाव है। इसीलिये आधुनिक युग के सफल वादकों ने अपने अजराड़ा वादन में पूरब की शैली का अनुकरण किया। इस दिशा में मेरठ के उस्ताद शम्मू खाँ एवं उनके पुत्र स्व० उ० हबीबउद्दीन के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

इस घराने के कुछ उदाहरण तो दिये जा चुके हैं, कुछ रचनायें सामार्थ दी जा रही हैं, हैं—

आजकल इस घरानें की परम्परा को जीवित रखने में आकाशवाणी दिल्ली में कार्यरत श्री रमज़ान खां, आशिक हुसेन (जयपुर), इशमत अली खां (आकाशवाणी श्रीनगर) एवं यशवंत केलकर (बम्बई) आदि का विशेष योगदान है। सम्भव है इस वर्णन में किसी कलाकार का नाम छूट गया हो, उसके लिये तो हम क्षमा-प्रार्थी हैं, परन्तु घराने की तालिका में सभी को स्थान देने का प्रयत्न किया गया है।

अजराड़ा घराने की वादन शैली

पहले हम देख चुके हैं कि अजराड़ा घराने के मूल प्रवर्तकों ने दिल्ली घराने के उस्तादों से शिक्षा प्राप्त की थी। अतः इस घराने की वादन शैली का आधार गुरु घराने (दिल्ली) की वादन शैली ही है, परन्तु इस घराने की शैली में इतना अन्तर आ गया कि इसमें मौलिकता स्पष्टतः दिखलाई देने लगी। अब हम इस घराने की वादन शैली की विशेषताओं का विश्लेपण करेंगे।

(१) अजराड़ा घराने के उस्तादो ने कायदे की रचनायें त्र्यश्र (तिस्र) जाति में अधिक की, जब कि उस समय तक दिल्ली वालों ने केवल चतुरश्र जाति में कायदे रचे थे। अजराड़े वालो के इस नवीन प्रयोग एवं लय वैचित्र्य के कारण उनको सरलता से स्वतन्त्र घराने की मान्यता मिल गई।

(२) इस घराने में डग्गे (बायाँ) का प्रयोग मींडयुक्त, सुन्दर एवं दाहिने के बोलों से लड़ता हुआ होता है, जो अन्य किसी घरानें से अलग है। देखिये, किस प्रकार निम्न कायदे की *प्रथम मात्रा (धा ऽ वड़) में मींड का काम किया जाता है। इसमें धा के पश्चत् १/३ मात्रा* का विराम बाँये से मींड के द्वारा भरा जाता है जो कायदे के सौन्दर्य को द्विगुणित कर देता है। पूरा कायदा इस प्रकार है :—

धा ऽ वड़	धा ति ट	धा गे ति	र कि ट	धा धा घे	के त क	धि न धि	ना गे न
×				२			
ता ऽ वड़	ता ति ट	धा गे ति	र कि ट	धा धा घे	घे त क	धिनधि	ना गे न
०				३			

(३) अभी तक तबला वादन में मध्मांगुलि एवं तर्जनी का ही प्रयोग होता था, परन्तु इस घराने वालों ने तबला और बायाँ दोनो पर इन अंगुलियों के साथ-साथ अनामिका का भी प्रयोग प्रारम्भ कर दिया। इस नवीन प्रयोग से कुछ बोल जैसे 'धिनगिन' अत्यन्त सरलता से द्रुत लय में बजने लगे। इस बोल समूह में 'न' तर्जनी से चाटी पर न बजा कर अनामिका से स्याही के पूर्व भाग से निकाला जाने लगा।

(४) यह घराना कायदों की खूबसूरती और विविधता के लिये विशेष प्रसिद्ध है। यहा के कुछ कायदे कत, ति, धिगन, घेनक आदि बोलो से प्रारम्भ होते हैं, जो अन्य घरानों में कम दिखते हैं।

(५) इस घराने के कुछ कायदों में एक और विशेषता देखने को मिलती है जो कायदे के उत्तरार्द्ध अर्थात् खाली (मुंदी) से सम्बन्धित है। अधिकाश कायदे के उत्तरार्द्ध का भाग पूर्वार्द्ध का बन्द (बायाँ रहित) ही होता है, जो निम्न कायदे से स्पष्ट हो जायेगा :—

धाऽघे घेनक घिटघि टकिट | धाधाघे घेतक तिनति नाकिन |
×　　　　　　　　　　　　२
ताऽके केनक तिटति टकिट | धाधाघे घेतक धिनधि नागिन |
०　　　　　　　　　　　　३

इसके विपरीत अजराड़े के निम्न प्रसिद्ध कायदे को देखिये। इसमें उत्तरार्द्ध का भाग अन्य कायदों से भिन्न है :—

धा धा धा　धि धा धि　धाधा घेघे तक　धि- धिना गेन |
×
धि धा धि　धागे तिट किट　धाधा घेघे तक　धि धिना गेन |
२
ति - - ना-न　ता के ति र कि ट　ता ता के के तक　ति ति ना के न |
०
धि धा धि　धागे तिट किट　धाधा घेघे तक　धि धिना गेन |
३

उपर्युक्त कायदे में खाली के बोलों में ता ता ता ति ता ति के स्थान पर ति - - ना-न ता के ति र किट बोल लगाये गये हैं, जो कायदे के साधारण नियमों से हट कर है और यही इस घराने की विशेषता है।

(६) अब इस घराने की वादन शैली की सोलो वादन एवं संगति में उपयुक्तता पर विचार करेंगे। सोलो या स्वतन्त्र वादन के लिये यह बाज बहुत सफल है, क्योंकि इसमें जिस वादन का दर्शन होता है उसे गुणीजन शुद्ध तबला मानते हैं। यही कारण है कि यह बाज अत्यन्त कठिन साध्य होने पर भी अधिकतर गुणीजनों के बीच ही सराहा जाता है। इसके लय वैचित्र्य से पूर्ण लचीले कायदे वादन में विशेष आकर्षण पैदा कर देते हैं।

तबला विशेषतः संगत का वाद्य है। अतः वही बाज सफल माना जायेगा जो प्रत्येक गायन शैली वादन एवं नृत्य की संगति में खरा उतर सके। इस परीक्षण में अजराड़ा की वादन शैली पूर्णतः सफल नहीं होती। गायन की कुछ विधाओं एवं कत्थक नृत्य की संगति में यह बाज पूर्णतः उपयुक्त नहीं है, क्योंकि इसमें खुले और जोरदार परन, टुकड़ों, चक्करदार आदि का अभाव है। इसीलिये आधुनिक युग के सफल वादकों ने अपने अजराड़ा वादन में पूरब की शैली का अनुकरण किया। इस दिशा में मेरठ के उस्ताद शम्मू खाँ एवं उनके पुत्र स्व० उ० हबीबउद्दीन के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

इस घराने के कुछ उदाहरण तो दिये जा चुके हैं, कुछ रचनायें सामार्थ दी जा रही हैं, हैं—

कायदा-तीन ताल-त्र्यस्र जाति

धीं ऽ ऽ धगन धा ऽ ऽ धगन | धा ती घे घेतक धीन धी नागेन |
× २

धगन धा त्त क धि टि न धगत | धा धा घे घेनक ती न ती ना के न |
० ३

ती ऽ ऽ त क न ता ऽ ऽ त क न | ताती के के न क तीं न नी नाकेन |
× २

ध ग न धा त्त क धि टि न ध ग न | धाधाघे घेनक धीनधी नागेन |
० ३

कायदा-तीन ताल-चतुरस्र जाति

धा ऽ ऽ घे तक धीन कतकधे तकधीन | कतकधे तक धीं न धागेत्रक
× २

धिना गेन | धा ऽ धा ऽ घेघेनक धिनधिना घेघेनक | धिनधिना गेन धागे त्रक धिन
० ३

तिना केन | ता ऽ ऽ के तकतीं न कतकधे तक तीन | कतकधे तकतीं न
× २

धागेत्तक धिनागेन | धा ऽ धा ऽ घेघेनक धिनधिना घेघेनक | धिनधिना गेन धागे
० ३

त्रक धिन धिना गेन |

तालिका संख्या १६
अजराड़ा घराना
कल्लू खां
मीरू खां
(बन्धु द्वय) (सन् १७८० ई० के लगभग)
मोहम्मदी बख्श (वंशज)
चाँद खां (पु०)
काले खां (काले कन्दु जी) (पु०)
कुतुब बख्श (पु०)
तुल्लन खां (पु०)
घीसा खां (शि)
हस्सू खां (पु०)
कलवा खां (पु०)
जौम्मु खां दूदलीवाले (पु०)
मंगू खां (पु०)
शम्मू खां (पु०)
नन्हें खां कुड़ीवाले (भानजा)
अमीर अहमद (शि.)
निजामुद्दीन खां (शि.)
शफियां खां (पु०)
नियाजू खां (नाती)
निजामुद्दीन खां (दामाद)
अमीरुद्दी नां (पु०)
रफीक उद्दीन खां (पु०)
अब्दुल करीम खां (भतीजा)
हबीबुद्दीन खां (पु०)
हसमत अली खां (शि.)
हमदो खां (शि.)
कमालुद्दीन खां (पु०)
वासुदेव प्रसाद (शि.)
अब्दुल करीम खां
रमजान खां (पु०) (दिल्ली)
आशिक हुसेन खां (पु०) (जयपुर)
समशाद हुसेन
श्रीधर शर्मा (शि.) (कानपुर)
महेशनाथ मिश्रा (शि.) (कानपुर)
मंजू खां (पु०) (दिल्ली)
सुधीर कुमार सक्सेना (नि)
हजारी लाल सरपक (नि)
अमीर मोहम्मद खां (शि)
यशवन्त केलकर (नि.) (बम्बई)
स्वामी दयाल इलाहाबाद
गोवर्धन मालवीय
पप्पन खां
करण सिंह
बट्टू खां
रामप्रवेश सिंह पटना
राम धुर्वे

अध्याय ५

लखनऊ घराना

दिल्ली में दीर्घकाल तक तबला वादन की कला फलती-फूलती रही। शनैः शनैः दिल्ली से पूरब की ओर इसका प्रचार होने लगा। इस दिशा में लखनऊ सर्व प्रथम नगर है जहां तबले का प्रवेश हुआ।

नवाबी शान-शौकत के कारण लखनऊ रंगीन शहर था। वहां के नवाब तथा रईस लोग संगीत के प्रेमी थे। संगीत तथा संगीतज्ञों का वहां काफी आदर-सम्मान होता था। अतः गायक, वादक और नर्तकों की भीड़ उस नगरी में सदैव लगी रहती थी।

सन् १७३९ ई० के आस-पास हिन्दुस्तान पर नादिरशाह का हमला हुआ। उन दिनों दिल्ली पर मोहम्मद शाह रंगीले का शासन था। क्रूर नादिरशाह ने दिल्ली में जो कत्लेआम किया तथा प्रजा में जो आतंक फैलाया उसका असर बादशाह रंगीले पर इतना गहरा हुआ कि उन्हे संगीत से विरक्ति हो गयी। संगीत के प्रति अपनी अत्याधिक विरक्ति को ही वे नादिरशाह के हमले का कारण मानने लगे। अतः चौबीस घण्टे संगीत में डूबे रहने वाले बादशाह को संगीत से अचानक इतनी घृणा हो गयी कि उन्होंने अपने दरबार से संगीत तथा संगीतकारो का नामो निशान तक मिटा दिया।

नादिरशाह के घोर आतंक और क्रूरता के कारण कुछ कलाकार तो मारे गये और शेष घबराकर अन्य नगरों में पलायित हो गये। इस प्रकार दिल्ली का चहकता दरबार वीरान हो गया। अधिकतर दिल्ली के कलाकार लखनऊ, रामपुर, जयपुर एवं आस-पास अन्य रियासतो में जाकर बसने लगे।

सांगीतिक दृष्टि से दिल्ली के पतन के पश्चात् लखनऊ कलाकारो का प्रमुख केन्द्र बना। खयाल गायकी के प्रचार के साथ-साथ उन दिनों वहां ठुमरी तथा टप्पा की गायकियां भी पनप रही थी। रंगीन तबियत के लखनवी नवाब और रईसजादे ठुमरी जैसी शृङ्गारिक गायकी के विशेष प्रेमी थे। कत्थक नृत्य का भी वहां काफी प्रचार बढ़ रहा था। महाराज कालकादीन तथा महाराज बिन्दादीन के द्वारा कत्थक नृत्य का एक घराना ही बना। उन दिनों संगीत के लिये वहां पखावज ही एकमात्र प्रमुख ताल-वाद्य था। किन्तु खयाल की स्वर प्रधान गायकी एवं ठुमरी की नज़ाकत के लिये पखावज का गंभीर वादन बोझिल सा लगता था। अतः दिल्ली से आये हुये तबला वादकों ने इस अस्थिर परिस्थिति का लाभ उठाया और अपने वादन में ऐसे परिवर्तनो के विषय में गंभीरता से विचार किया जो तत्कालीन संगीत की संगति के लिये उपयुक्त हो। उनका ऐसा प्रयास लखनऊ के वातावरण में खूब सराहा गया और यही मुख्य कारण था कि व्यावसायिक तबला वादकों की दृष्टि लखनऊ पर केन्द्रित हुई।

इस प्रकार दिल्ली का तबला लखनऊ आया। वहां खयाल तथा ठुमरी की संगत के लिये तो वह बेहतरीन साबित हुआ। किन्तु नृत्य की ज़ोरदार लम्बी-लम्बी परनों और चक्रदारो के

सामने यह उलझ गया। अतः उन उस्तादों ने दिल्ली के तबले में आवश्यक परिवर्तन किये।

तबले प्रसिद्ध लखनऊ घराने के जन्म के विषय में उपलब्ध इतिहास के अनुसार जिन दिनों लखनऊ की गद्दी पर नवाब आसुफुद्दौला आसीन थे, उ० मोदू खाँ तथा उनके कुछ वर्षों पश्चात् उनके अनुज उ० बख्शू खाँ, जो दिल्ली के उस्ताद सिद्धार खाँ के पौत्र थे, दिल्ली से लखनऊ आकर बस गये। कुछ विद्वानों की मान्यता है कि मोदू खाँ नवाब हशमत जंग बहादुर के शासन काल में आये थे। यद्यपि नवाब आसुफुद्दौला का समय अधिक तर्क-संगत लगता है। लखनऊ के चौक में स्थित लाल हवेली की कोठी नवाब साहब ने उ० मोदू खाँ को उपहार स्वरूप दी थी। आज वह कोठी उनके वंशजों के हाथ से निकल चुकी है। वहाँ आज पुलिस विभाग (कोतवाली) का एक कार्यालय है। किन्तु इस कोठी के कारण लखनऊ घराने वाले आज भी अपने आपको कोठीवाल अथवा लाल कोठी की परम्परा वाले कहलाने में बड़े गौरव का अनुभव करते हैं।

उ० मोदू खाँ तथा उ० बख्शू खाँ ने लखनऊ आकर वहाँ की तत्कालीन सांगीतिक परिस्थितियों का निरीक्षण किया और तदनुसार परिवर्तन करना आवश्यक समझा। उन दिनों लखनऊ में कत्थक नृत्य का प्रचलन बढ़ रहा था। संगीत की इस विद्या के साथ संगति के लिये शुद्ध दिल्ली का बन्द बाज उपयुक्त न था। अतः उन्होंने पखावज की वादन शैली एवं रचनाओं का आधार लेकर परिवर्तन करना प्रारम्भ किया। उन्होंने अपनी नवीन वादन शैली में चाँटी से अधिक स्याही को तथा दो उँगलियों के स्थान पर पाँचों उँगलियों का प्रयोग शुरू किया। बोलों के निकास में परिवर्तन किये, चाँटी की जगह स्याही और लव से नाद उत्पन्न करने का प्रयत्न किया तथा गत, परन, टुकड़े, चक्रदार आदि का उसमें समावेश करके एक स्वतन्त्र बाज का निर्माण किया, जो न तो दिल्ली के समान बन्द बाज था और न ही पखावज की भाँति थापिया वाला खुला बाज। इस प्रकार देश के पूर्वी भाग में सर्वप्रथम लखनऊ घराना और पूरब बाज अस्तित्व में आये। ज्ञातव्य है कि पूरब के अन्य घराने इसी घराने से विकसित हुये हैं।

पूरब बाज

पूर्व में इसकी चर्चा की जा चुकी है कि तबला सर्वप्रथम दिल्ली से लखनऊ आया। चूंकि भौगोलिक दृष्टि से यह दिल्ली के पूर्व की ओर स्थित है अतः इस घराने को पूरब का घराना और उसकी वादन शैली को पूरब बाज कहा गया। उल्लेखनीय है कि इसके बाद विकसित फर्रुखाबाद और बनारस घराने इसी घराने की देन हैं। अतः ये भी पूरब घराने के अन्तर्गत आते हैं।

पूरब का बाज लव और स्याही प्रधान बाज है। यह अधिक जोरदार और गूंज युक्त वादन शैली है। इसमें दिल्ली के समान दो उँगलियों के स्थान पर सभी उँगलियों का प्रयोग प्रचलित है। इसमें गत, टुकड़े, परन, चक्रदार आदि तो बजाये ही जाते हैं और नृत्य के साथ बजाने के लिये विशेष रचनाओं का समावेश किया गया है। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि पूरब का बाज सर्वाङ्गीय बाज है जो संगीत के लिये उपयुक्त है। यही कारण है कि आज पूरब के तबला वादक अधिक चमक रहे हैं।

लखनऊ घराने की परम्परा

तबले के इस घराने की उत्पत्ति और प्रगति के पीछे लखनऊ के कला प्रेमी नवाबों

का विशेष सहयोग रहा है। नवाब आसुफुद्दौला के शासन काल में उ० मोदू खाँ साहब लखनऊ और उनके आने के कुछ वर्ष पश्चात् उनके अनुज उ० बख्शू खाँ भी वहाँ आ गये। उन दिनों लखनऊ में संगीत का उच्च स्तरीय वातावरण था। देश के प्रमुख संगीतज्ञ एवं नृत्यकारों ने लखनऊ को ही अपनी कर्मभूमि बना रखा था, जिनमें गुलाम रसूल जैसे खयालिये और गुलाम नबी शोरी जैसे टप्पा गायक लखनऊ दरबार की शोभा बढ़ाते थे। ठुमरी का भी विशेष प्रचलन हो चुका था। फिर भी अभी तक पखावज का ही चलन था।

नवाब आसुफुद्दौला के पश्चात् नवाब नासिरुद्दीन हैदर का समय आया। नासिरुद्दीन भी संगीत के प्रेमी एवं पोषक थे। उस समय तक उ० बख्शू खाँ लखनऊ आ चुके थे। वे अपने भाई मोदू खाँ से उम्र में काफी छोटे थे। ऐसा प्रमाण मिलता है कि इन दोनों भाइयों के स्वभाव में बहुत अन्तर था। बडे भाई मोदू खाँ सरल एव उदार हृदयी व्यक्ति थे जब कि छोटे भाई बख्शू खाँ अभिमानी एव कठोर स्वभाव के व्यक्ति थे। वे बहुत अच्छा तबला बजाते थे अतः उसका उन्हें बहुत गर्व था। कहते हैं कि उन दोनो में मधुर सम्बन्ध नही थे।

सांगीतिक दृष्टि से नवाब वाजिद अली शाह का समय (सन् १८४७ ई० से सन् १८५७ ई० तक) लखनऊ के इतिहास में महत्वपूर्ण माना जाता है। उनके दरबार में सैकड़ों गायक वादक तथा नृत्यकार थे। नवाब वाजिद अली शाह केवल कला, प्रेमी ही नहीं स्वयं भी कुशल कलाकार थे। उनके समय में लखनऊ का वातावरण अत्यन्त रंगीन, विलासी तथा कलामय था। कत्थक नृत्य के लिये तो वह महत्वपूर्ण समय था, क्योंकि नृत्य के लखनऊ घराने के शिरोमणि महाराज कालकादीन तथा महाराज बिन्दादीन नवाब वाजिद अली शाह की दरबार के कला-रत्नों में से थे। हकीम मोहम्मद करम इमाम ने मअदन-उल-मूसिकी में ऐसा उल्लेख किया है कि कालका-बिन्दा के नृत्य के मोदू-बख्शू के प्रपौत्र मुन्ने खाँ तबले की सगत किया करते थे। नवाब साहब को तबले के प्रति भी काफी रुचि थी। अतः उनके दरबार में तबले के विद्वानों एवं कलाकारों का भी आदर-सम्मान होता था।

इस प्रकार आसुफुद्दौला, नासिरुद्दीन हैदर, हशमत-जंग बहादुर शुजातुद्दौला तथा वाजिद अली शाह जैसे कला-प्रेमी नवाबो की कला परस्ती के कारण लखनऊ में संगीत तथा नृत्य कला को विकसित होने का अवसर मिला। सैकड़ो कलाकार जीवनोपार्जन की चिन्ता से मुक्त होकर कला साधना में लीन हो सके तथा इन्ही की छत्र छाया में तबले के लखनऊ घराने को उदित तथा विकसित होने का सौभाग्य मिला।

उ० मोदू खाँ के पुत्र ज़ाहिद खाँ अच्छे कलाकार थे। उनको मोहम्मद करम इमाम ने 'अच्छा तबला वादक' कहा है जो उनके श्रेष्ठ कलाकार होने का प्रमाण हे। दुर्भाग्य से वे कम अवस्था में हो स्वर्गवासी हुये। मोदू खाँ के प्रमुख शिष्यों में पं० राम सहाय मिश्र का नाम विशेष उल्लेखनीय है। कहते हैं कि उ० मोदू खाँ अपने छोटे भाई उ० बख्शू खाँ के व्यवहार से क्षुब्ध रहा करते थे अतः उन्होंने बनारस से आये कत्थक परिवार के प्रतिभाशाली किशोर राम सहाय मिश्र को तैयार करने की ठानी। मिश्र जी ने बारह वर्ष तक उस्ताद के घर रह कर तबले की पूर्ण शिक्षा प्राप्त की। गुरु तथा गुरु-पत्नी उन्हे पुत्रवत् प्रेम करते थे। गुरु-पत्नी जिनके विषय मे प्रचलित है कि वे पंजाब के किसी बडे उस्ताद की पुत्री थी तथा तबले की जानकार थी, रामसहाय को उनके उस्ताद की अनुपस्थिति में तबला सिखाया करती थीं। इस प्रकार गुरु तथा गुरु-पत्नी दोनों ओर से लखनऊ तथा पंजाब घरानें की विपुल विद्या रामसहाय

को प्राप्त हुई। मोदू खाँ के शिष्यों में दूसरा नाम उनके भतीजे मम्मन खाँ उर्फ मम्मू खाँ का आता है।

उ० बख्शू खाँ के तीन पुत्र थे—मम्मन उर्फ मम्मू खाँ, सलारी खाँ तथा केसरी खाँ (कुछ लोग केसरी खाँ को शिष्य मानते हैं)। उनके दामाद तथा शिष्य हाजी विलायत अली खाँ थे। वे अपने युग के उत्कृष्ट तबला वादक थे।

उ० मम्मू खाँ अपने चाचा उ० मोदू खाँ की विद्वत्ता से बहुत प्रभावित थे। अतः अपने पिता बख्शू के होते हुये भी उनकी अधिकतर शिक्षा अपने चाचा मोदू खाँ से सम्पन्न हुयी थी। उस्ताद मम्मू खाँ लखनऊ घराने के खलीफा माने गये। तबले में धिरकिट शब्द की निकास को स्याही से सरका करके पूरे पंजे से बजाने का प्रचलन उन्होंने आरम्भ किया।

उ० बख्शू खाँ के दूसरे पुत्र सलारी मियां गत वादन मे अत्यंत प्रवीण तथा रंग भरने में बड़े कुशल थे। वे इतना खूबसूरत और सुन्दर बजाते थे कि लोग कहा करते थे कि तबला वादन में सलारी मियां की दसों उँगलियाँ रौशन हैं। उनकी प्रशंसा मोहम्मद करम इमाम ने भी की है।

बख्शू खाँ के दामाद तथा शिष्य हाजी विलायत अली खाँ थे जो फर्रुखाबाद के निवासी थे। हाजी साहब की विद्वता के लिये दो मत नहीं हैं। उनके जैसा कलाकार कदाचित् ही पैदा होता है। हाजी साहब की पत्नी भी तबले की अच्छी ज्ञाता थी। फर्रुखाबाद लौटने के पश्चात् हाजी साहब ने अपनी पृथक् शैली का निर्माण किया जो तत्पश्चात् फर्रुखाबाद बाज के नाम से प्रसिद्ध हुआ। हाजी साहब तथा उनके बाज की विस्तृत चर्चा फर्रुखाबाद घरानें में की जायेगी।

कुछ लोगो में यह धारणा व्याप्त है कि सलारी मिया हाजी साहब के शिष्य थे। किन्तु वास्तव मे वे दोनो गुरु भाई भी थे। संभव है कि गुरु पुत्र होते हुये भी सलारी मियां हाजी साहब से उम्र में छोटे होंगे और उन पर हाजी विलायत अली का बहुत प्रभाव रहा होगा। क्योंकि हाजी साहब की अनेक गतों के जवाबी जोड़े सलारी मियां ने तैयार किये थे। आज भी तबला वादको में सलारी मिया की जवाबी गतें और चलन अत्यन्त श्रद्धा से पढ़ी जाती हैं। उनकी वादन शैली पर लखनऊ से अधिक फर्रुखाबाद घरानें की शैली का प्रभाव लगता था, जो उनकी रचनाओं से स्पष्ट होता है।

उ० बख्शू खाँ के एक शिष्य बेचाराम चट्टोपाध्याय थे। उन्होंने अपने मूल स्थान विष्णु-पुर लौट कर लखनऊ घरानें की शैली का प्रचार किया। आगे चल कर यह शैली विष्णुपुर परम्परा कहलाने लगी। तत्पश्चात् इस परम्परा को उ० मम्मू खाँ के एक शिष्य राम प्रसन्न बन्दोपाध्याय ने भी आगे बढ़ाया।

उ० मम्मू खाँ के पुत्र का नाम उ० मोहम्मद खाँ था। मोहम्मद खाँ भी अपने पिता की भाँति यशस्वी कलाकार थे। मोहम्मद करम इमाम ने मम्मू खाँ के लड़के को मम्मू खाँ से भी श्रेष्ठ लिखा है। मोहम्मद खाँ के दो पुत्र थे। मुन्ने खाँ तथा आबीद हुसैन खाँ। दोनों बड़े विद्वान् थे तथा नृत्य की संगति में भी अद्वितीय थे। उन दोनों ने अपने समय में काफी लोकप्रियता प्राप्त की। उ० मोहम्मद खाँ नवाब शुजाउद्दौला के दरबारी कलाकार थे जब कि उ० मुन्ने खाँ नवाब अली शाह के दरबार के कला रत्न थे। मोहम्मद करम इमाम लिखते हैं कि महाराज का

बिन्दा के नृत्य के साथ लखनऊ दरबार में बख्शू खाँ के प्रपौत्र मुन्ने खाँ संगति किया करता था। उ० मोहम्मद खाँ की मृत्यु बहुत छोटी उम्र में हुई थी। अतः उनके छोटे पुत्र आबीद हुसेन की मुख्य तालीम उनके बड़े भाई मुन्ने खाँ से ही सम्पन्न हुई थी। उ० आबिद हुसेन बड़े विद्वान्, परिश्रमी तथा प्रतिभासम्पन्न कलाकार थे। उनका हाथ इतना स्पष्ट और मधुर था कि सुनने वाले उनके वादन से मोहित हो जाते थे। लाल किला गत की रचना उ० आबीद हुसेन खाँ की देन है। लखनऊ की मोरिस म्यूज़िक कालेज (वर्तमान नाम भातखण्डे संगीत महाविद्यालय) की स्थापना के साथ तबले के प्राध्यापक के रूप में उनकी नियुक्ति की गयी थी। उनके दामाद तथा भतीजे उ० वाजिद हुसेन खाँ भी यशस्वी कलाकार हुये। वाजिद हुसेन के पुत्र उ० आफाक हुसेन तथा पौत्र अलमास हुसेन इस परम्परा को आगे बढ़ाने में तत्पर है।

उ० आबीद हुसेन के चचेरे भाई उ० नादिर हुसेन खाँ उर्फ छोट्टन खाँ भी इस परम्परा के उत्कृष्ट कलाकार थे। वे कुछ समय तक ढाका तथा मुर्शिदाबाद में रहे थे जहाँ उन्होंने लखनऊ के तबले का काफी प्रचार किया। आज भी उनके कुछ शिष्य पूर्व बंगाल में मौजूद हैं। उनके प्रमुख शिष्यों में उ० अकबर हुसेन खाँ उर्फ बल्लू खाँ का नाम उल्लेखनीय है।

उ० मुन्ने खाँ के पुत्र बहादुर हुसेन खाँ तथा पुत्री खम्मन बीबी की औलादें नायाब हुसेन, पौत्र इनायत हुसेन, रज़ा हुसेन तथा सुलतान हुसेन (नाती) आदि तबले के जानकार हो गये हैं।

उ० मम्मू खाँ की पुत्री छोटी बीबी तथा नाती बाबू खाँ ने भी तबले की शिक्षा मम्मू खाँ से ही प्राप्त की थी। वे बहुत वर्षों तक कलकत्ता में रहे। वहीं उनका शिष्य परिवार फैला है। उ० मम्मू खाँ के भतीजों में अल्लाबख्श, बहादुर खाँ तथा घसीट खाँ के नाम आते हैं। उनके दूसरे भतीजे गुलाम हैदर पटना चले गये। उस्ताद अली कादर खाँ से पटना के सुप्रसिद्ध केशव महाराज ने तबले की शिक्षा ली तथा बिहार में तबले का विपुल प्रचार किया। घसीट खाँ की परम्परा में पुत्र छोटे खाँ, पौत्र सादत अली, प्रपौत्र रज़ा हुसेन तथा उनके पुत्र जाफर खाँ तथा अकबर हुसेन उर्फ बल्लू खाँ हैं।

उ० गुलाम हैदर के एक भतीजे अलीगढ़ मे थे जिनका नाम अली रज़ा था। मेरठ के उ० हबीबुद्दीन ने इनसे भी शिक्षा पायी थी।

इस घराने के वंशजों में गुलाम अब्बास खाँ, नागु खाँ, लाडले खाँ, हाजी जाकिर हुसेन खाँ, इरशाद खाँ, इन्तज़ार खाँ आदि के नाम प्रसिद्ध है।

लखनऊ घराने के शिष्यो में रहीमबख्श रुगाजी, अमान खाँ, भैरों प्रसाद (बनारस), सुप्पन खाँ (ढाका), मोहम्मद हुसेन मुरादाबाद वाले, रामधन, राम कन्हाई (त्रिपुरा), फकीर साहब, मन्मथ नाथ गागुली (कलकत्ता), जहाँगीर खाँ (इन्दौर), अल्लादियाँ खाँ अमरावती वाले, हिरेन्द्र कुमार गागुली (कलकत्ता), हिरेन्द्र किशोर राय चौधरी (मैमन सिंग), मिर्जा आलम नवाब, फैयाज़ खाँ, फैयाज खाँ मुरादाबाद वाले, हबीबुल्ला, महबूब खाँ मिरजकर (पूना), यार रसूल (फूलझड़ी खाँ), नगेन्द्र नाथ बसु, देवी प्रसन्न घोष, जो बागान, उ० शेख दाऊद खाँ (हैदराबाद), शिशिर शोभन भट्टाचार्य, राय बहादुर केशव चन्द्र बेनर्जी (कलकत्ता), धन्नू उस्ताद, गंगादयाल पाण्डे आदि के नाम प्रसिद्ध हैं जिनके प्रयत्नों से लखनऊ घराने का वंश वृक्ष विकसित हुआ है। इनके अतिरिक्त सभी कलाकारो के नाम आप सलग्न तालिका मे देख सकते हैं।

लखनऊ घरानें के द्वारा अन्य घरानें एवं परम्पराओं का जन्म

जिस प्रकार तबले के दिल्ली घरानें से अजराड़ा और लखनऊ जैसे दो प्रमुख घरानें अस्तित्व में आये उसी प्रकार लखनऊ घरानें से तबले के दूसरे अनेक घरानें तथा परम्परायें अस्तित्व में आईं। इसलिये तो यह मान्यता है कि पंजाब को छोड़ कर तबले के दूसरे सभी घरानें तथा परम्परायें प्रत्यक्ष या परोक्ष में दिल्ली तथा लखनऊ से सम्बन्धित हैं।

लखनऊ घरानें के प्रवर्तक मोदू खाँ तथा बख्शू खाँ से अनेक व्यक्तियों ने तालीम प्राप्त की थी। इनमें कुछ कलाकारों ने तथा उनके शिष्य-प्रशिष्यों ने कालान्तर में अपने नवीन घरानें एवं परम्परा की स्थापना की। कुछ कलाकार दूसरे शहर में जाकर बसे, जहाँ उन्होंने अपनी परम्परा को आगे बढ़ाया। काल क्रम से वह परम्परायें भी उसी नाम से पहचानी जाने लगीं। इस प्रकार लखनऊ घरानें से जो विस्तार हुआ है वह निम्नलिखित है :

उ० मोदू खाँ से बनारस के पं० रामसहाय मिश्र ने शिक्षा प्राप्त की थी। बनारस लौटने के पश्चात् उन्होंने अपने शहर में बनारस घरानें की नींव डाली थी।

उ० मोदू खाँ के छोटे भाई उ० बख्शू खाँ के शिष्य तथा दामाद उ० हाजी विलायत अली खाँ फरुखाबाद के रहने वाले थे। उनसे फरुखाबाद घराना अस्तित्व में आया।

उ० बख्शू खाँ के एक शिष्य पं० बेचाराम चट्टोपाध्याय से विष्णुपुर की परम्परा फैली। बाद में यह परम्परा मम्मू खाँ के शिष्य विष्णुपुर निवासी रामप्रसन्न बन्दोपाध्याय से और भी सुदृढ़ हुई।[1]

लखनऊ के उ० मम्मू खाँ तथा फरुखाबाद के हुसेन बख्श से तालीम प्राप्त करके उ० अता हुसेन ढाका चले गये जहाँ उन्होंने अपनी अलग परम्परा फैलायी। वे कुछ विष्णुपुर में भी रहे थे। पूर्व तथा पश्चिम बंगाल में तबला के प्रचार में उनका योगदान महत्वपूर्ण है।[2]

उ० बख्शू खाँ के नाती बाबू खाँ से कलकत्ता में तबले की परम्परा फैली।[3]

हाजी विलायत अली खाँ के शिष्य उ० चूड़ियाँ इमाम बख्श से भटौना की परम्परा फैली।[4]

लखनऊ घरानें की विशेषतायें

(१) यह सर्वविदित है कि दिल्ली के मूर्धन्य कलाकारों द्वारा लखनऊ घरानें का सूत्रपात हुआ। स्वाभाविक है कि वे कलाकार दिल्ली बाज की सम्पूर्ण विशेषतायें अपने साथ लाये। परन्तु लखनऊ की सांगीतिक आवश्यकताओं के अनुरूप उनको अपनी वादन शैली में परिवर्तन करना पड़ा। दिल्ली का बन्द तबला लखनऊ में पखावज और नृत्य के प्रभाव से खुला और जोरदार हो गया।

(२) यहाँ चाँटी की अपेक्षा स्याही का प्रयोग तथा लव से ध्वनि के निर्माण की प्रथा है।

---

१. तबला कथा : सुबोध नन्दी (विष्णुपुर परम्परा)

२. वही : अध्याय ढाका घराना

३. तबला कथा : सुबोध नन्दी

४. तबले पर दिल्ली और पूरब : सत्य नारायण वशिष्ठ (भटौना घराना)

(३) इस बाज में दो उँगलियों के स्थान पर पाँचों उँगलियों का उपयोग किया जाता है तथा बाये पर अँगूठे द्वारा मीण्ड, घसीट या घिस्सा उत्पन्न करने की प्रथा घरानेंदार वंशजों में देखी जाती है। (बायें के चमडे को कलाई के नीचे के हिस्से से हलका सा घिस कर जो मधुर ध्वनि उत्पन्न की जाती है उसे घिस्सा, घसीट या मीण्ड कहते हैं।)

(४) लखनऊ घरानें के कायदे दिल्ली और अजराडे के कायदो से भिन्न होते हैं जो अपेक्षाकृत लम्बे होते हैं। यहाँ कायदे की अपेक्षा विविध लयकारी युक्त टुकड़े, नौहक्का, परन, गत-परन, विविध प्रकार के चक्रदार एवं गतें, फरद, सात्विक परनें (स्तुति अथवा श्लोक परनें) इत्यादि खूबसूरत बन्दिशें मुख्यत: होती हैं जो इस बाज की अपनी विशेषता है।

(५) इस बाज में तगन्न, दुग, नग नग, किट तक घेत्ता, धिडान, घिडान, धिनतड़ा-न, घेत् घेत्, घेडनग, घेतान, धेधित् ता-न, वडा, घेट घेट वडध तेट आदि बोल समूहों का प्रयोग अधिक देखा जाता है। घेट घेट धागे तेट, वडध तेट धागे तेट शब्द का प्रयोग तो लखनऊ घरानों का एक प्रतीक (Symbolic) सा बन गया है।

(६) कत्थक नृत्य में प्राय: कलाकार कुछ बन्दिशों को पहले पढ़ता है फिर उसे अंग सचालन द्वारा प्रस्तुत करता है। इसी प्रकार इस घरानें के तबला वादक कभी-कभी अपनी कुछ रचनाओं को पहले मुंह से पढ़ता है फिर उसे तबले पर निकालता है। यह तबले पर नृत्य का स्पष्ट प्रभाव प्रमाणित करता है।

(७) लखनऊ पर पंजाब घरानें का भी कुछ प्रभाव है। कहते हैं इस घरानें के प्रवर्तक उ० मोदू खाँ की पत्नी पंजाब के किसी उस्ताद की पुत्री थीं और उन्हें भी तबले की बहुत अच्छी जानकारी थी। मोदू खाँ को अपने ससुराल से कुछ गतें उपहार (दहेज) मे मिली थीं। आज भी लखनऊ तथा बनारस घरानें के कुछ लोगों के पास ऐसी गतें सुरक्षित हैं जिन्हें वे 'दहेज गत' के नाम से पुकारते हैं।

(८) ठुमरी गायन शैली के जन्म और विकास का मुख्य केन्द्र लखनऊ रहा है। ठुमरी के साथ सगति करने में लग्गी-लड़ियो का प्रयोग अनिवार्य होता है। यही कारण है कि लखनऊ की वादन शैली में लग्गी लड़ियों का नया काम जुड़ गया जो उन्होंने लोक वाद्य शैली से ग्रहण किया होगा।

लखनऊ घरानें की कुछ प्रसिद्ध रचनायें प्रस्तुत हैं, जो उस घरानें और बाज की विशेषताओं को प्रगट करती है।

कायदा ताल—त्रिताल

धिट धिट | धिट धागे | नधि -न्न | धागे धिन |
×

धिट धागे | नधा तिट | धिट धागे | तिना केन |
२

तिट तिट तिट ताके नति -न ताके तिन |
०

धिट धागे नधा तिट धिट धागे धिना गेन |
३

कायदा ताल—त्रिताल

धा- तिर किट तक ता - धा- तिर |
×

किट तक ता - धा- तिर किट तक |
२

धा- तिर किट धा- तिर किट धा- तिर |
०

घिड नग धिन तक धिर धिर किट तक |
३

ता- तिर किट तक ता - ता- तिर |
×

किट तक ता - ता- तिर किट तक |
२

धा- तिर किट धा- तिर किट धा- तिर |
०

घिड नग धिन तक धिर धिर किट तक |
३

गत त्रिताल लय के दर्जे सहित

धा— घेड नग तक घेड नग ति— घेड नग तक घेड नग

धा- घेड नग धिर धिर धिर घेड नग धिर धिर घेड नग तोना किड नग

ता— केड नग तक केड नग ति— केड नग तक केड नग

धा - घेड नग धिर धिर धिर घेड नग धिर धिर घेड नग धीना घेड नग

लय परिवर्तन

धा धा –, घेड नग तक तक –, घेड नग ति-ति- –, घेड नग तक तक

–, घेड नग धा- घेड नग धिर धिर धिर घेड नग धा- घेड नग धिर

धिर धिर घेड नग धिर धिर घेड नग तीना केड नग ता ता –, केड नग

तक तक –, केड नग ति- ति – –, केड नग तक तक –, केड नग धा- घेड

नग धिर धिर धिर घेड नग धा-घेड नग धिर धिर धिर घेड नग धिर धिर घेड नग

धीना घेड नग |

लय परिवर्तन

धाधाधा धा-घेडनग तकतकतक तकघेडनग ति ति ति तिघेडनग

तकतकतक तकघेडनग धा - घेडनगधिर धिरधिरघेडनग धिरधिरघेडनग धिरधिरघेडनग

धा-घेडनगधिर धिरधिरघेड़नग धिरधिरघेडनग तीनाकेड़नग ताताता ता-किड़नग

तकतकतक तककिड़नग तितिति तिकिड़नग तकतकतक तककिड़नग

धा-घेड़नगधिर धिरधिरघेडनग धिरधिरघेडनग धिरधिरघेडनग धा-घेनगधिर

धिरधिरघेडनग धिरधिरघेडनग धीनाघेडनग

लय परिवर्तन

धाधाधाधा धा-घेड़नग तकतकतकतक तक-घेड़नग तितितिति तिघेड़नग

तकतकतकतक तक-घेड़नग धा-घेड़नगधिर धिरधिरघेड़नग धिरधिरघेड़नग

धिरधिरघेडनग धा-घेडनगधिर धिरधिरघेड़नग धिरधिरघेडनग तीनाकेड़नग

तातातातात ता-केड़नग तकतकतकतक तक-केड़नग तितितिति तिकेडनग

तकतकतकतक तककेड़नग धा-घेड़नगधिर धिरधिरघेड़नग धिरधिरघेड़नग

धिरधिरघेडनग धा-घेड़नगधिर धिरधिरघेड़नग धिरधिरघेड़नग धीनाघेड़नग

नोट—उपरोक्त परम्परागत गत की रचना विभिन्न लयकारियों में प्रस्तुत किया जाता है, जैसा कि लिपि-बद्ध किया गया है।

लखनवी गत—ताल त्रिताल

धा – घे घे नक धिन तक धित तक धिन |
×

तक धिन तूना कता तक तक तिन तिन |
२

तकत, त कत धा- धा – घे नक धिन |
०

तकत घे तक धिन धागेन धा गेना धा- |
३

ता – के के नक तिन तक तिन तक तिन |
×

तक तिन तूना कता तक तक तिन तिन |
२

तकत त कत धा – धा – -घे नक धिन |
०

तकत घे नक धिन धा- घेनक धिन तकतघे नकधिन | धा
३ ×

नोट—उपरोक्त गत में कहरवा छन्द का प्रयोग किया गया है, जो लखनऊ की वादन शैली में शृंगारिकता को प्रमाणित करता है।

टुकड़ा गत—त्रिताल

धेटेधेटे धागेतेटे वड़धा,तेटे धागेतेटे धागेनधा गदि –न नागे तिटे

कता कता कत, वडधा तेटे कत वड़धातिटे धा- तिटे धेड़ा –न धा- ठत्

नाना, किटतक नागेतिटे केन्न कधि तेटे धाधि नाकत् – धा धिना कत्

धा– कता कता केन्नकधि तिटेधाधि ना –कत्धा धिना कत्– धा –

कताकता केन्न कधि तिटे धाधि नाकत् – धा धिनाकत्- |

कायदा—ताल त्रिताल

धिटे धिटे धिटे धागे न धि-न्न धागे धिन |
×
धिटे धागे नधा तेटे धिटे धागे तिना केना |
२
तिट तिट तिट तागे नति – न्न तागे तिन |
०
धिटे धागे नाधा तेटे धिटे धागे धिना गेना |
३

कायदा—ताल त्रिताल

धा – तिर किट तक ता – धा – तिर |
×
किट तक ता – धा – तिर किट तक |
२
धा – तिर किट, धा – तिर किट धा – तिर |
०
घिड़ नग धिन तक धिर धिर किट तक |
३

ता – तिर   किट तक   ता –   ता – तिर |
×
किट तक   ता –   ता – तिर   किट तक |
२
धा – तिर   किट, धा –   तिर किट   धा – तिर |
०
धिड़ नग   धिन तक   धिर धिर   किट तक |
३

बढ़ैया की गत—ताल त्रिताल

त्र्यश्र जाति

तिर किट तक   तिर किट तक   धिन तड़ा – न   धा धि ता   क्रधे त् –   ना ना ना

ना- किट तक   तिर किट तक   धग तत कत   धा- धिड़ नग   धिन धिड़ नग

तक तिर किट   धिन गिन तक   तक धिन गिन   धिन धिड़ नग   तूना किट तक

ध ग त   त क त   धा- तिर किट   किट तक धेत

चतुरश्र जाति

धा गे ना धा   त्रक धेत   धागे त्रक   कता कता

त्र्यश्र जाति

धि ना - क   धे धे धे   – –, त्रड़   धा - न धा - न   धा - त्रड़   ता - न ता - न

ता - त्रड़   धा–न धा–न   धा   –   – –, त्रड़   धा –, न धा – न

धा – त्रड़   ता – न ता – न   ता – त्रड़   धा – न धा – न   धा   –,   – – त्रड़

धा – न धा – न   धा – त्रड़   ता – न ता – न   ता – त्रड़   धा–न धा–न | धा
×

अध्याय ६

फरुक्खाबाद घराना

तबला-वादन के क्षेत्र में लखनऊ घरानें के उपादेयता के विषय में जितना भी लिखा जाये कम है। उससे एक शाखा बनारस तो दूसरी फरुक्खाबाद गई। लखनऊ घरानें के प्रवर्तकों मे से एक उ० बख्शू खाँ ने फरुक्खाबाद (उ० प्र०) के प्रतिभाशाली युवक विलायत अली को तबले की श्रेष्ठ शिक्षा दी और बाद में उससे अपनी पुत्री का विवाह भी कर दिया। अपने उस्ताद और ससुर से तबले की शिक्षा पूर्ण करने के पश्चात् वे फरुक्खाबाद चले गये और वहाँ तबले का खुब प्रचार किया। उन्होंने लखनऊ की वादन शैली में मौलिक अन्तर करके तथा नवीन ढंग की अनेक रचनायें करके फरुखखाबाद को एक घराने की प्रतिष्ठा दिलाने में सफलता प्राप्त की। यही विलायत अली बाद में उस्ताद हाजी विलायत अली खाँ के नाम से विख्यात हुये।

हाजी साहब ने बचपन में ही तबला सीखना प्रारम्भ कर दिया होगा परन्तु उसका विवरण हमें प्राप्त नहीं होता।

हाजी विलायत अली खाँ अपने युग के एक उत्कृष्ट तबला वादक, विद्वान्, रचनाकार एवं कुशल शिक्षक थे। उनका वादन अत्यन्त क्लिष्ट एवं लयकारी युक्त था। गुणी जनों का यह मत है कि ऐसा नायक और रचनाकार सदियों में ही पैदा होता है। उन्होने लखनऊ घरानें के बाज में परिवर्तन करके एक नवीन शैली को जन्म दिया। उनका बाज लखनऊ की तरह न तो नृत्य से प्रभावित था और न तो पंजाब-बनारस की भाँति अधिक खुला और न ही दिल्ली-अजराडे की तरह बन्द। उन्होने अपने वादन में चाटी और स्याही को समान महत्व दिया। इस प्रकार अपनी नवीन शैली के अनुरूप पृथक् ढंग के गतों की रचना करके उन्होंने एक नवीन घरानें को जन्म दिया जो फरुक्खाबाद घरानें के नाम से आज सर्वत्र प्रसिद्ध है। उनकी जो गतें आज सुनने को मिलती है वे रचना की दृष्टि से इतनी अप्रतिम हैं कि आधुनिक तबला वादकों में न केवल लोकप्रिय हैं, बल्कि उन्हे प्रस्तुत करने में आज का कलाकार गौरव का अनुभव करते हैं। कहते हैं कि विलायत अली साहब अनेक वार हज करने गये और प्रत्येक बार अल्लाह पाक से तबले की विद्या की दुआ माँगी। हकीम मोहम्मद करम इमाम मअदन-उल-मूसिकी में लिखते हैं कि "हाजी विलायत अली गत वादन में कुशल थे। हज करने के पश्चात् उन्होने महफिल में बजाना छोड़ दिया था।"[1]

हाजी साहब कलाकार के साथ-साथ एक अच्छे गुरु भी थे। उन्होने उस युग में तबला का विद्यालय खोला था, जब विद्यालय की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी।[2]

---

१. मअदन-उल-मूसिकी : मोहम्मद करम इमाम

२. तबला : अरविन्द मुलगाँवकर पृष्ठ २६७ (मराठी)

सन् १८४७ ई० से सन् १८५७ ई० पर्यन्त लखनऊ दरबार में वाजिद अली शाह का राज्य काल रहा। हाजी विलायत अली खां भी उन दिनों लखनऊ दरबार में थे। सन् १८५७ ई० में नवाब साहब के राज्य का सूर्यास्त हुआ। उसके साथ ही लखनऊ के अनेक कलाकार आश्रयहीन होकर अन्य स्थानों पर चले गये।

उन दिनों रामपुर रियासत में संगीत का उच्च स्तरीय वातावरण था। रामपुर के विद्या व्यसनी तथा संगीत प्रेमी नवाबों ने अनेक पंडितों, गुणी जनों और कलाकारों को दरबार में आश्रय दिया था। लखनऊ के भी बहुत सारे कलाकार रामपुर चले गये थे।

सन् १८५७ ई० में संगीत प्रेमी नवाब युसुफ अली खाँ रामपुर की गद्दी पर बैठे। हाजी साहब उनके दरबार में कलाकार नियुक्त हो गये। उनके पश्चात् उनकी कई पीढ़ी वहाँ चलती रही। अतः तबले के फरुखाबाद घरानें के विकास और सफलता में रामपुर दरबार का योगदान महत्वपूर्ण रहा।

फरुखाबाद घरानें की परम्परा

हाजी विलायत अली के ज्येष्ठ पुत्र निसार अली खाँ तबले तथा पखावज के विद्वान् व्यक्ति थे। वर्षों तक वे रामपुर के दरबारी कलाकार रहे। उनके शिष्यों में उनके छोटे भाई हुसेन अली का नाम प्रमुख है। उ० मुनीर खाँ ने भी अपनी बाल्यावस्था में उ० निसार अली से शिक्षा पायी थी। उनकी वंश परम्परा के विषय में अधिक जानकारी प्राप्त नहीं होती।

हाजी साहब के दूसरे पुत्र का नाम अमान अली खाँ था। वे भी तबले की कला में पारंगत थे। दुर्भाग्य से वे कुष्ठ रोग से ग्रसित हो गये। ऐसी अवस्था में उनके परिवार के लोगों ने उनके साथ अच्छा व्यवहार नहीं किया। इससे क्षुब्ध होकर वे स्थाई रूप से जयपुर चले गये। तत्पश्चात् उन्होंने आजीवन परिवार के किसी भी व्यक्ति से कोई सम्बन्ध नहीं रखा। अतः बहुत कम लोग यह जानते हैं कि जयपुर के उस्ताद अमान अली खाँ हाजी साहब के पुत्र थे। उ० अमान अली की उत्तरावस्था में जयपुर के नृत्य के घराने के कत्थक सम्राट् जियालाल जी, जो कि उनके एक शिष्य हुसुद्दीन के शागिर्द थे, उनसे तबला सीखने लगे थे। प्रखर बुद्धि के प्रतिभाशाली किशोर जियालाल ने गुरु भक्ति और सेवा से उस्ताद का मन जीत लिया। खाँ साहब उन्हे बहुत प्यार करने लगे और उन्होंने खुले दिल से तबले की दीर्घ तालीम तथा लयकारी का उत्तम ज्ञान इस किशोर को दिया। पं० जियालाल (जयलाल) का नाम कत्थक नृत्य के क्षेत्र मे अमर है। ये नृत्य और तबला दोनों में अद्वितीय थे। इलाहाबाद के प्रो० लालजी श्रीवास्तव ने पं० जियालाल जी से तबला की शिक्षा प्राप्त की थी।

हाजी साहब के तीसरे पुत्र का नाम हुसेन अली खाँ था। हुसेन अली को अपने पिता से विरासत में तबला मिला था। तत्पश्चात् उनकी दीर्घ तालीम उनके बड़े भाई उ० निसार अली खाँ से सम्पन्न हुई। उ० हुसेन अली की फरुखाबाद घराने के विस्तार और प्रचार में महत्वपूर्ण भूमिका रही। उनके शिष्यों मे अनेक सुप्रसिद्ध उस्तादों के नाम लिये जाते हैं जिनमें उ० मुनीर खाँ का नाम विशेष उल्लेखनीय है। तदुपरान्त बला हुसेन खाँ, गुल्तन खाँ, मिथन खाँ—तीनों की परम्परा ढाका में फैली। तथा मोपू खाँ रईस (लखनऊ) उनके शिष्य रघुनन्दन (रामपुर) तथा शिष्य पं० भीष्म देव वेदी (दिल्ली) आदि के नाम प्रमुख हैं।

उ० मुनीर खाँ अपने समय के सुप्रसिद्ध तबला-नवाज तथा अद्वितीय शिक्षक माने जाते

थे। उन्होंने उ० हुसेन अली के उपरान्त दिल्ली घरानें के उ० बोली बख्श से भी सीखा था। उनके शिष्य-प्रशिष्यों से मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश तथा विशेष कर महाराष्ट्र में तबले का विस्तृत प्रचार हुआ है। उनके प्रमुख शिष्यों में उ० अमीर हुसेन खां (भानजे), उ० गुलाम हुसेन खां (भतीजे), उ० अहमद जान थिरकवा, उ० नासिर खां, उ० हबीबुद्दीन खां (मेरठ), उ० शमशुद्दीन खां (बम्बई), पं० सुब्बा राव आंकोडकर (गोवा) इत्यादि हैं। उनके प्रशिष्यों की संख्या अत्यन्त विशाल है। इस पुस्तक की लेखिका ने भी इसी परम्परा के उ० अमीर हुसेन खां से तालीम पायी है।

उ० नन्हे खां उ० हाजी विलायत अली के चौथे पुत्र थे। कुछ लोग उन्हें पुत्र न मान कर पौत्र (हुसेन अली का पुत्र) मानते है। एक सज्जन का मत है कि उ० नन्हे खां को अपना दामाद बनाने के हेतु हाजी साहब ने पुत्रवत् पाला था। जो भी हो उ० नन्हे खां ने हाजी साहब से सीखा था। उनका जीवन मुख्यतः रामपुर दरबार में बीता। उनकी शिक्षा भी वहीं हुई। इसी परम्परा के उ० नज़र अली खां नामक एक अच्छे तबला वादक भी उन दिनों रामपुर दरबार में थे।

उ० नन्हे खां के पुत्र उ० मसीतउल्ला खां (मसीत खां) रामपुर के प्रसिद्ध उस्ताद माने जाते थे। नवाब हामीद अली के स्वर्गवास के बाद रामपुर दरबार से उनका मन उचट गया और वे कलकत्ता चले गये और जीवन के अन्त तक वहीं रहे। उनके पुत्र उ० करामतुल्ला खां अपनी परम्परा के अप्रतिम कलाकार थे। आज कल उनके युवा पुत्र साबीर खां इस घरानें का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं।

उ० मसीत खां के शिष्यों में सर्व श्री रामचन्द्र बोराल (कलकत्ता), ज्ञान प्रकाश घोष (कलकत्ता), हिरेन्द्र किशोर राय चौधरी (मैमन सिंह), मुन्ने खां (लखनऊ) तथा अज़ीम खां जावरेवाले के नाम उल्लेखनीय हैं।

हाजी विलायत अली के एक दामाद हुसेन बख्श हैदराबाद के निवासी थे। उनसे फारुखाबाद घरानें की विद्या दक्षिण में फैली है। उनके अनेक शिष्यों में उनके दामाद उ० अल्लादिया खां उर्फ अलाउद्दीन खां, अल्लादिया के दो पुत्र मोहम्मद खां तथा छोटे खां और मोहम्मद खां के शिष्यो में शेख दाऊद का नाम प्रमुख है।

हाजी साहब के गुरु भाई तथा साले मियां सलारी खां को कुछ लोग उनका शिष्य भी मानते हैं। अपने गुरु-पुत्र को शिक्षा देने की प्रथा उस्तादों में प्रचलित है, अतः हाजी साहब ने भी सलारी मियां को सिखाया हो यह असंभव नहीं।

सलारी मियां अपने युग के कुशल वादक एवं श्रेष्ठ रचनाकार थे। मअदन उल मूसिकी में भी उनकी प्रशंसा की गई है। सलारी मियां ने हाजी साहब को गतों के जवाबी तोड़े तथा दिल्ली के पेशकार में परिवर्तन करके उसका एक नवीन रूप तैयार किया। तदुपरान्त चलन अथवा चान नामक वादन प्रकार का भी प्रचार किया जो आज भी लोकप्रिय है। उनके प्रमुख शिष्यो में मुस्तफा हुसेन, गुलाब हुसेन तथा हबीब उल्ला, प्रशिष्यों में बाबू खां उर्फ हैदर हुसेन, गुलाम मोहम्मद, फैयाज खां मुरादाबाद वाले, बमुवा खां, चुन्नीलाल बन्दोपाध्याय, सरदार खां, मेंहदी खां, अशरफ खां, अनवर खां तथा इन प्रशिष्यों के शागिर्दों में भी अनेक नाम मिलते हैं जिनमे शिष्या जमीना खातून (पाकिस्तान) का उल्लेख आवश्यक है।

हाजी साहब के एक विख्यात शिष्य चूड़िया वाले इमाम बख्श हुये। उनकी परम्परा में उनके पुत्र हैदर बख्श, पौत्र बन्दे हुसन (अलीगढ़) तथा प्रशिष्य बलवन्त राव रुकड़ीकर एवं सत्य नारायण वशिष्ठ के नाम उल्लेखनीय हैं।

चूड़िया इमाम बख्श के लिये अनेक किवदन्तियाँ सुनने को मिलती है। कहते हैं कि अपने उस्ताद के तबले को निरंतर सुनने की आकाक्षा से इमाम बख्श ने वर्षों तक हाजी साहब के घर हुक्का भरने की नौकरी की थी। वैसे इमाम बख्श स्वयं अच्छा पखावज बजा लेते थे। किन्तु विलायत अली से दीर्घ शिक्षा लेने के हेतु वे अपना सब कुछ त्याग कर उस्ताद की सेवा में लगे रहे। इस प्रकार वर्षों तक हाजी साहब का अभ्यास सुन-सुनकर इमाम बख्श ने उनके घरानें की काफी विद्या प्राप्त कर ली। हाजी साहब को जब इस बात का पता चला तब वे आश्चर्यचकित हो गये। किन्तु वे दिलदार व्यक्ति थे। इस घटना के पश्चात् उन्होंने इमाम बख्श को अपना शिष्य स्वीकार किया तथा उन्हें शिक्षा देनी प्रारंभ की।

एक दूसरी किंवदन्ती है कि इमाम बख्श के गन्डा बन्धन संस्कार के अवसर पर हाजी साहब की पत्नी ने अपनी चूड़ियाँ इमाम बख्श के हाथ में पहना दी थी। इस प्रसंग की स्मृति में जीवन पर्यन्त उन्होंने अपने हाथ मे वे चूड़ियाँ पहन रखी थीं। अतः लोग उन्हें चूड़ियाँ वाले इमाम बख्श कहते थे।

श्री सत्य नारायण वशिष्ठ की पुस्तक 'तबले पर दिल्ली और पूरब' के अनुसार चूड़िया इमाम बख्श के शिष्य एवं वंशजों से जो परम्परा चली उसे भटोला परम्परा के नाम से जाना गया। किन्तु इस परम्परा के विषय में, यहाँ तक कि इसके नाम के विषय में भी, न कोई प्रमाण मिलता है और न ही किसी पुस्तक में इसकी चर्चा है।

विष्णुपुर के बेचाराम चट्टोपाध्याय हाजी साहब के ही शिष्य थे। उनकी प्राथमिक शिक्षा विष्णुपुर में हुई थी। उनकी परम्परा विष्णुपुर में फैली है जिसकी चर्चा विष्णुपुर परम्परा के अन्तर्गत की जायेगी।

हाजी साहब के एक प्रसिद्ध शिष्य पटना के मुबारक अली खाँ थे, जिनसे इन्दौर के उ० जहाँगीर खाँ ने सीखा था। उनके एक दूसरे शिष्य का नाम लियाकत अली पगले था।

उ० करम इतल खाँ अहमद जान थिरकवा के नाना थे, जिन्होंने भी हाजी साहब से सीखा था। उनके पुत्र फैयाज़ खाँ मुरादाबाद वाले बड़े नामी कलाकार हुए। करम इतल खाँ के एक भाई इलाही बख्श थे जो हाजी साहब के साथ लगभग बीस-पच्चीस वर्षों तक रहे और शिक्षा पाई। कहते हैं कि अपने अन्तिम समय में हाजी जी इनको बरेली के छुन्नू खाँ की तालीम पूर्ण करने का आदेश दे गये थे। इलाही बख्श ने अपने गुरु की आज्ञा का पालन किया और १८ वर्ष तक छुन्नू खां को तालीम दी। वे हाजी साहब के अन्तिम शिष्य माने जाते हैं।

तालीम समाप्त होने के पश्चात् छुन्नू खाँ बरेली के जमींदार तथा पीलीभीत के राजा साहब के यहाँ नौकरी करते रहे। वे लखनऊ के उ० आबिद हुसैन खाँ के समकालीन एवं प्रतिस्पर्धी थे। उ० छुन्नू खाँ की मृत्यु करीब ६०-६२ वर्ष की आयु में सन् १६२१ ई० में हुई थी। उनके प्रमुख शिष्यों में जहाँगीर खाँ (इन्दौर), मुरारी लाल (बरेली), श्याम लाल पाण्डेय (पीलीभित), गुरदयाल मुनीम, रहीम बख्श, वासुदेव प्रसाद (बनारस) इत्यादि थे। कुछ लोग बनारस के पं० बीरू मिश्र को भी उनका शिष्य मानते हैं। उनके दो पुत्र स्थायी रूप से पाकिस्तान चले गये।

इस घरानें के अन्य प्रशिष्यों में कादीर बख्श (मुर्शिदाबाद), बाबा साहेब मासेलकर (महाराष्ट्र), निज़ामुद्दीन (बम्बई), शेख दाऊद (हैदराबाद), महबूब खाँ मिरजकर (पूणे), हाफिज खाँ (उदयपुर), निखिल घोष (बम्बई), पंढरी नाथ नागेश्वर (बम्बई), शरद खरगोनकर (इन्दौर), शमशुद्दीन खाँ (बम्बई), तारानाथ राव (मेंग्लोर) एवं अन्य सैकड़ों शिष्य हैं।

फरुखाबाद घरानें की विशेषतायें

(१) यह घराना पूरब की ही एक शाखा होते हुये भी इनका बाज न तो लखनऊ के जैसा नृत्य से प्रभावित है, न बनारस तथा पंजाब जैसा ज़ोरदार है और न ही दिल्ली के समान किनार का है।

(२) अन्य घरानों की भांति इस घरानें में भी कायदे पेशकार आदि तो बजाये ही जाते हैं। हाँ, यहाँ रेलों को एक नवीन रूप दिया गया है जिसे वे 'रौं' अथवा 'रविश' कहते हैं। तबला वादन में गत बजाने की प्रथा को महत्व इस घरानें से ही प्राप्त हुआ है। हाजी साहब, सलारी मियाँ या फरूखाबाद की गतें आज भी विद्वानों के बीच आदर से पढ़ी जाती हैं। इन गतों को लयकारी के विभिन्न दर्जों में बजाने की प्रथा यहाँ प्रचलित है तथा इसमें 'तक तक' एवं 'धिर धिर' बोल समूह का प्रयोग विशेष देखने को मिलता है। इस घराने की एक अन्य विशेषता उल्लेखनीय है जिसे चाल या चलन कहते हैं। इसकी प्रथा अन्य किसी घरानें में नहीं है।

(३) स्वतन्त्र वादन के प्रस्तुतिकरण के लिये यह अत्यन्त सफल एवं उत्तम बाज है। क्योंकि 'सोलो' के लिये आवश्यक सभी विशेषतायें उसमे सम्मिलित हैं। अतः इस घराने के वादकों ने स्वतन्त्र वादन मे बहुत नाम कमाया है। तदुपरान्त संयत होने के कारण संगीत के लिये भी वह उपयुक्त सिद्ध हुआ है।

(४) इस वादन शैली में वडा, धिडान, धिर धिर किटतक तकत धा, तक तक, धिर धिर किट तक धेत्त, धिग नग घन तक, नग नग आदि बोल समूहों का अधिक प्रयोग होता है।

इस घरानें की चर्चा करते हुए अहमद जान थिरकवा ने कहा था कि 'फरुखाबाद का तबला शुद्ध तबला है। दूसरे घराने की भांति उसमें ताशा के बोल (तो तो), नक्कारा के बोल (नाड़ नाड़), ढोल तथा खजरी के बोल इत्यादि नहीं मिलते। विविध साजो के बोलों से तबले का विस्तार तो अवश्य होता है किन्तु शुद्धता खत्म हो जाती है।' जो भी हो किन्तु फरुखाबाद का तबला मधुर, संयत एवं सतुलित है इतना मानना पड़ेगा।

आगे फरुखाबाद घरानें की कुछ रचनायें उदाहरण स्वरूप दिये जा रहे हैं :

चलन—ताल त्रिताल

धा ति धा- धाति गेन धिना गेन धाति धा- वड़धेना घेन तेटे धाति गेन तिना केन

ति-किट तक ति-किट तक ता तिर किट तक ता तिर किट तक तिर किट तकता तिर किट धागे

धाति धागे तिना केना ताति ता- ताति केना तिना केना ता ति ता- वड घेना गेना तेटे

धाति गेना तिना केन ति-तिर किट तक ति-तिर किट तक ता तिर किट तक ता तिर किट तक तिर किट तक ता तिर किट धागे धाति धागे धिना गेना ।

कायदा—ताल त्रिताल

धा-किट	तक धा-	घेड़ नग	तिट	|
×				
धा धा	घेड नग	ति ना	केड नग	|
२				
ता-किट	तक धा-	घेड नग	ति ट	|
०				
धा धा	घेड़ नग	धि ना	घेड़ नग	|
३				

टुकड़ा

धिर धिर किट तक,	तकिट धा	धिर धिर किट तक	तकिट धा
धिर धिर किट तक	तकिट धा	धा	–त
किट	धा	ना	ता
–धिर धिर	किट तक तकिट	धा,	धा
–त	किट	धा	ना
ता	–धिर धिर	किट तक तकिट	धा,
धा	–त	किट	धा
ना	ता	–धिर धिर	किट तक त किट | धा ×

गत—ताल त्रिताल

चतुरश्र जाति

धगत त किट धागे त्रक धिन घेड़नग धिन गेन धागे त्रक तूना कत्ता धा, धिन घेघे नक धिन

धा धिन घेघे नक धिन धा तग तेटे तग तेटे गदि गन धा नग तिट नग तिट गदि गन

धा तगेन त किट घेत धा धा गेन धा किट घेन धा,

त्र्यश्र जाति

धा–धि —ना— धा — क्रि टतक तिरकि टतक नगन गनग

चतुरश्र जाति

धग तत किट तक तक धिन घिडनग धिन घेड नग धिन धागे त्रक तूना कता

त्र्यश्र जाति

धा-घिड नग तिरकिट तक तिरकिट तक तक

चतुरश्र जाति

धिरधिर किट तक ता तिरकिट तक धिरधिर किट तक ता तिरकिट तक तकत धा-न

धा—त क त धा–धिरधिर किट तक त क त त क त धा-न धा-त क त धा-धिरधिर

किट तक तकत तकत धा-न धा-तकत धा-धिरधिर किट तन तकत

● ●

अध्याय ७

बनारस घराना

आज का बहुचर्चित एवं प्रसिद्ध बनारस घराना लगभग डेढ सौ वर्ष से अधिक प्राचीन नहीं है। बनारस के पं० रामसहाय मिश्र, जिनका समय संभवतः सन् १८३० ई० से सन् १८८६ ई० तक का माना जाता है, ने लखनऊ घरानें के प्रवर्तक उ० मोदू खाँ साहब से बारह वर्षों तक लखनऊ में रह कर शिक्षा प्राप्त की थी। शिक्षा पूर्ण हो जाने के पश्चात् वे पुनः बनारस लौट आये और अपने परिवार के सदस्यों एवं शिष्यों में तबले का प्रचार किया। पंडित जी बनारस के एक संगीत व्यवसायी कत्थक परिवार के थे और उन्होंने तबले की प्रारंभिक शिक्षा अपने पिता एवं चाचा से प्राप्त की थी। रामसहाय जी ने अपने नगर में लौटने के बाद तबले की वादन शैली में इतना मौलिक परिवर्तन किया एवं नवीन रचनाओं का सृजन किया कि कालान्तर में बनारस एक घराना के नाम से प्रतिष्ठा पा सका। आज उनके वंशज एवं शिष्य-परम्परा के लोग देश-विदेश में छाये हुये हैं।

बनारस घरानें के प्रवर्तक के विषय में कुछ लोगों के अनुसार पं० रामसहाय न होकर कोई गणेशी महाराज और महेशी महाराज दो व्यक्ति थे। इसके विषय में श्री सत्य नारायण वशिष्ठ ने अपनी पुस्तक तबले पर दिल्ली और पूरब के पृष्ठ ६३ में उल्लेख किया है। परन्तु खेद है कि ऐसे महत्वपूर्ण विषय पर निराधार आलेख किया गया है। क्योंकि न तो उनकी वंश परम्परा का कोई व्यक्ति आज विद्यमान है और न आज का कोई प्रतिष्ठित बनारस का विद्वान् इस कथन को मानने को तैयार है। पं० रामसहाय का उल्लेख मोहम्मद करम इमाम ने अपनी पुस्तक में भी किया है। अतः निर्विवाद रूप से बनारस घरानें के प्रवर्तक रामसहाय जी ही थे। आज उन्ही के वंश परम्परा के लोग इस घरानें की प्रतिष्ठा बनाये हुये हैं। उल्लेखनीय है कि बनारस ही एकमात्र तबले का ऐसा घराना है जिसके सूत्रधार एक हिन्दू कलाकार थे।

बनारस घरानें की परम्परा

बनारस घराना लखनऊ घरानें की ही देन है। यहाँ के संदर्भ में पं० राम सहाय सर्वाधिक महत्वपूर्ण कलाकार हो गये हैं। अतः इस घरानें की परम्परा के सविस्तार वर्णन से पूर्व राम सहाय जी के प्रारंभिक जीवन एवं शिक्षण के विषय में चर्चा कर लेना अनुपयुक्त न होगा।

पं० राम सहाय ने तबले की प्रारंभिक शिक्षा अपने पिता तथा चाचा से प्राप्त की थी। बाल्यकाल में वे नृत्य किया करते थे और उसकी आगे की शिक्षा प्राप्त करने के लिए ही वे लखनऊ गये थे। लखनऊ में उन दिनों नवाब आसुफुद्दौला का राज्य था और उसी समय में दिल्ली से तबले के उस्ताद मोदू खाँ तथा उनके छोटे भाई बख्शू खाँ लखनऊ आकर बस गये थे। पं० रामसहाय मोदू खाँ साहब के तबले से बहुत प्रभावित रहा करते थे और समय मिलने पर उनके सत्संग को लालायित रहा करते थे। शनैः-शनैः खाँ साहब भी इस युवक के मृदु स्वभाव एवं तबले के प्रति आकर्षण से उन्हें पुत्रवत् स्नेह देने लगे। उ० मोदू खाँ जब प्रौढ़ हो

चले थे और उनके अनुज बख्शू खाँ का व्यवहार उनके साथ अच्छा नहीं था। दुर्भाग्य से उनके एकमात्र युवा एवं प्रतिभाशाली पुत्र की अकाल मृत्यु हो गयी। इस घटना से खाँ साहब टूट गये। ऐसे समय में युवा रामसहाय को एक आज्ञाकित शिष्य के रूप में पाकर निश्चित ही वे संतुष्ट हुए होंगे। फिर क्या था। राम सहाय की तालीम शुरू हो गयी। वे दिन रात रियाज में लगे रहे। गुरु अपने शिष्य की लगन, परिश्रम तथा एकाग्रता पर बहुत प्रसन्न थे। यह क्रम बारह वर्षों तक अनवरत चला। वे खाँ साहब के परिवार में एक सदस्य के रूप में रहकर ही सीखा करते थे। अतः उनको गुरु माता का भी उतना ही स्नेह मिला। कहते हैं कि मोदू खाँ साहब की पत्नी पंजाब के किसी उस्ताद की पुत्री थी और उनको तबले का अच्छा ज्ञान था। इस प्रकार उस्ताद से लखनऊ की तालीम और उनकी पत्नी से पंजाब घरानें की शिक्षा और तकनिक उन्हे मिलने लगी। इतिहास से भी प्रमाणित होता है कि राम सहाय जी अपने समय के एक श्रेष्ठ तबला वादक हुए और नवाब वाजिद अली शाह के दरबार में उनके तबले की धूम मची थी। किवदन्ती है कि उन्होंने नवाब के दरबार मे सात दिनों तक तबला वादन किया था। और तत्कालीन सभी उस्तादो ने उनको श्रेष्ठ तबला वादक के रूप में मान्यता दी थी। कुछ लोग इस घटना का सम्बन्ध उ० बख्शू खा के पुत्र की सुन्नत के अवसर पर आयोजित जलसे से जोड़ते हैं। इस प्रकार की अनेक घटनायें सुनने को मिलती है जिनमें नवाब वाजिद अली शाह द्वारा सवा लाख रुपये नकद, कीमती जवाहरात तथा चार हाथी के उपहार की बातें भी सम्मिलित हैं[1] किन्तु किसी का भी कोई प्रामाणिक आधार नही मिलता। निश्चित समय तो बताना कठिन है परन्तु अनुमान है कि राम सहाय जी अपने जीवन की उत्तरावस्था में स्थायी रूप से बनारस रहने लगे होंगे। पंडित जी ने अपनी प्रतिभा से एक मौलिक वादन शैली का निर्माण किया, बहुत सी बन्दिशें बनायी और तबला वादन को एक नवीन मोड़ दिया, जिससे उनका बाज एक पृथक् घराने के रूप में स्वीकारा गया। अब हम उनकी परम्परा के विषय में चर्चा करेंगे।

प० राम सहाय ने अपने छोटे भाई जानकी सहाय, भतीजे भैरों सहाय तथा शिष्य बैजू महाराज, रामशरण, यदुनन्दन, भगतजी (गुरुदत्त) तथा परतप्पू महाराज (प्रताप महाराज) आदि को अपनी विद्या सिखायी थी।

राम सहाय जी के अनुज जानकी सहाय एक कुशल कलाकार थे। उनके शिष्य गोकुल जी, रघुनन्दन, विश्वनाथ, श्याम मिश्र, गोकुल मिश्र, लक्ष्मीप्रसाद इत्यादि हुये। इनके प्रशिष्यों में यूसुफ खाँ, सनीउल्ला, महादेव चौधरी, रामदास, पुरुषोत्तम दास, भगवान दास, महावीर महाराज, अनन्त घोष, मन्मथ नाथ गागुली, श्यामजी मिश्र, बुन्दी महाराज, पंचानन पाल, कृष्ण कुमार गागुली (नाटू बाबू), अनाथ नाथ बसु, बीरु मिश्र, वासुदेव प्रसाद, हिरेन्द्र कुमार गांगुली, दुर्गा मिश्र, सुबोध नन्दी इत्यादि हैं। इस परम्परा मे पन्ना लाल, रामनाथ पांडे, केदार नाथ भौमिक, मदन मिश्र आदि कलाकार प्रसिद्ध हैं।

राम सहाय जी ने अपने भाई गौरी सहाय के पुत्र भैरो सहाय को पुत्रवत् माना था और उन्हे दीर्घ शिक्षा देकर अपने घरानें का उत्तराधिकारी बनाया था। भैरों सहाय के पुत्र बलदेव सहाय, पौत्र भगवती सहाय, लक्ष्मी सहाय तथा दुर्गा सहाय (सूरदास) तथा प्रपौत्र शारदा

---

१. वाद्य सगीत मे काशी का स्थान : आकाशवाणी इलाहाबाद के प्रसारण पर आधारित लेख : संगीत कला विहार, अक्टूबर १९५७।

सहाय, मंगला सहाय एवं राम शंकर सहाय सभी अपने क्षेत्र के उच्चस्तरीय कलाकार रहे हैं। आज इस परम्परा की तरुण पीढ़ी में संजय सहाय, विष्णु सहाय तथा दीपक सहाय के नाम लिये जाते हैं।

भैरो सहाय जी के शिष्यों में विश्वनाथ, केदार नाथ नाग, जगन्नाथ मिश्र तथा गोकुल जी के नाम प्रमुख हैं। उनके शिष्यों में भगवान दास, बाचा मिश्र, यूसुफ खाँ, सनीउल्ला, महादेव चौधरी, विक्कू जी, कंठे महाराज, गणेश प्रसाद, वासुदेव प्रसाद, श्याम लाल, हिरेन्द्र किशोर राय चौधरी आदि हैं। इसी परम्परा में पं० किशन महाराज, मन्नू लाल, बनमाली प्रसाद, मामता प्रसाद, आशुतोष भट्टाचार्य, विश्वनाथ घोज, बद्री प्रसाद मिश्र, कृष्ण कुमार गांगुली, लालजी श्रीवास्तव, नन्कू महाराज आदि सैकड़ों के नाम लिए जाते हैं। इस परम्परा की युवा पीढ़ी में पूरन महाराज, अनिल पालित, सतीश चौधरी, तेज बहादुर निगम, शशीकान्त बेलारे, नन्दन मेहता, महेन्द्र सिंह, लक्ष्मी नारायण सिंह, राम प्रसाद सिंह, लालजी श्रीवास्तव, गिरीश चन्द्र श्रीवास्तव, (स्व०) प्रभुदत्त वाजपेई, अनुपम राय, भुवनप्रसाद श्रीवास्तव इत्यादि तथा सैकड़ों देशी-विदेशी कलाकार तालीम पा रहे हैं।

पं० राम सहाय जी के शिष्यों में पं० बैजू महाराज फरद के विशेषज्ञ माने जाते थे। उनके पुत्र सूरज प्रसाद (बड़कू) तथा शिवप्रसाद (छोटकू) एवं पौत्र हरिदास, गणेशदास तथा नन्कू महाराज एवं प्रपौत्र प्रकाश महाराज सभी बनारस बाज के प्रतिनिधि कलाकार हैं। इस परम्परा के शिष्य-प्रशिष्यों में भट्ट जी जमुना प्रसाद, मन्नू लाल मिश्र इत्यादि प्रमुख हैं।

पं० रामसहाय के दूसरे शिष्य पं० रामशरण जी कुशल कलाकार थे। उनके पुत्र दरगाही जी, पौत्र बिक्कु जी एवं सूर्य जी, प्रपौत्र मामा जी और उनके पुत्र रंगनाथ मिश्र इस परम्परा से सम्बन्धित हैं। बिक्कु जी के शिष्यों में उच्चकोटि के कलाकार पैदा हुए, जिनमें मन्नू जी मृदंगाचार्य (तबले की शिक्षा), शत्रुंजय प्रसाद सिंह उर्फ लल्लन बाबू (आरा) तथा नन्द किशोर मिश्र के नाम प्रमुख हैं।

रामसहाय जी के तीसरे शिष्य यदु नन्दन जी की शिष्य तथा वंश परम्परा नहीं मिलती। उनके चौथे शिष्य भगत जी तबले के प्रकाण्ड पंडित थे। उनको तबले का कोशाध्यक्ष कहा जाता था। क्योंकि उनके पास तबले के बोल-बन्दिशों का अक्षय भण्डार था। कहते हैं कि रामसहाय जी की शिष्य परम्परा में उनको जितनी चीजें याद थीं उतनी दूसरे किसी को नहीं थी। भगत जी के प्रमुख शिष्यों में भैरों प्रसाद, ढाका के अता हुसैन खाँ, दिनु मिसिर, बुन्दी महाराज, श्याम जी मिश्र, राजा मियाँ तथा नन्नू मियाँ के नाम उल्लेखनीय हैं। भैरों प्रसाद के शिष्यों में पं० अनोखेलाल का नाम जग विख्यात है। उनके जैसा 'ना धि धि ना' आज तक तबले पर नहीं बजा।' वे 'ना धि धि ना' के जादूगर कहे जाते थे। अनोखे लाल के उपरांत मुन्नु महाराज, महादेव मिश्र, मौलवी राम मिश्र, महावीर भारे—आदि कलाकारों ने भी उनसे सीखा था। भैरों प्रसाद के प्रशिष्यों में पांचु महाराज उर्फ नागेश्वर प्रसाद मिश्र, राय बहादुर केशव चन्द्र बनर्जी, हिरेन्द्र किशोर राय चौधरी, रामहरणराय चौधरी, विपिन राय तथा युवा पीढ़ी में रामजी मिश्र, काशीनाथ मिश्र, शिवशंकर मिश्र इत्यादि प्रसिद्ध हैं। भगत जी के दूसरे शिष्य अता हुसेन खाँ की परम्परा ढाका में फैली है। उनके तीसरे शिष्य दिनु मिसिर, पुत्र बिहारी मिसिर तथा शिष्य मौलवी राम तथा मुन्शीराम की परम्परा में भी तबले का प्रचार रहा है। बुन्दी महाराज के पुत्र तथा पौत्र, दामोदर मिश्र एवं श्यामु मिश्र भी इसी परम्परा में आते

हैं। मदन मिश्र आजकल इस परम्परा के युवा प्रतिनिधि हैं।

पं० रामसहाय के पाँचवे शिष्य प्रताप मिश्र उर्फ परतप्पु मिश्र महराज थे। परतप्पु जी के बारे में ऐसा कहा जाता है कि नौरात की अखण्ड साधना के द्वारा उन्होंने माँ काली की सिद्धि पायी थी। उनकी वादन शैली से प्रभावित होकर नेपाल के राजा जंग बहादुर ने उन्हे अपने दरबार में नियुक्त किया था। परतप्पु जी के पुत्र जगन्नाथ, पौत्र शिव सुन्दर तथा बाचा मिश्र, प्रपौत्र बालमोहन तथा सामता प्रसाद (गुदई महाराज) इस परम्परा के कुशल कलाकार माने जाते हैं। सामता प्रसाद के पुत्र कुमारलाल तथा कैलाशचन्द्र एवं उनके सैकड़ों देशी विदेशी शिष्य हैं।

बनारस घरानें के कलाकारों का अन्य घरानों के उस्तादों से शिक्षण

बनारस घरानें के अधिकतर कलाकारों को अपने घरानें एवं अपनी बनारसी शैली पर बड़ा गर्व है और वे समझते हैं कि इस परम्परा का कोई व्यक्ति अन्य घरानें का शागिर्द नहीं हो सकता। वहाँ के अधिकाश कलाकारों ने अपनी परम्परा के अतिरिक्त अन्य उस्तादों से नही सीखा यद्यपि कुछ व्यक्ति इसके अपवाद हैं। आगे हम बनारस के उन्हीं तबला वादकों की चर्चा करेंगे जिन्होंने दूसरे घरानें के गुरुओं से भी शिक्षा प्राप्त की।

(१) पंजाब के कुछ उस्तादों का यह दृढ़ मत है कि पं० राम सहाय के भतीजे पं० भैरों सहाय के पुत्र बलदेव सहाय ने पंजाब के उ० हद्दू खाँ लाहौर वाले से शिक्षा ग्रहण की थी। परन्तु बनारस घरानें के कलाकार इस तथ्य का जोरदार खण्डन करते हैं।

(२) भगत जी के शिष्य पं० भैरों प्रसाद के लिये भी कुछ लोगों का मत है कि पहले उन्होंने पंजाब के किसी उस्ताद से शिक्षा प्राप्त की थी। तदुपरान्त वे लखनऊ के उ० मम्मन खाँ (मम्मू खाँ) के शिष्य हो गये थे। कहते हैं कि धिर किट को स्याही से सरका कर पूरे पंजे से बजाने का प्रचलन सर्वप्रथम उ० मम्मन खां ने किया था और भैरों प्रसाद ने अपने उस्ताद से यह तकनिक सीख कर अपने वादन में उसका समावेश किया था। इस प्रकार पूरे पजे के धिर किट का प्रचार बनारस घरानें में भैरों प्रसाद से माना जाता है।

(३) पं० बीरू मिश्र अपने पिता भगवान दास के उपरान्त लखनऊ के उ० आबिद हुसेन खाँ के गंडा बद्ध शिष्य थे। तदुपरान्त उन्होंने बरेली के उ० छन्नू खाँ तथा इन्दौर के उ० जहाँगीर खाँ से भी सीखा था।

(४) पं० श्याम लाल (धम्मा गुरु) दुर्गा सहाय (सूरदास नन्हू जी) के भतीजे एवं शिष्य थे। परन्तु बाद मे वे इन्दौर के उस्ताद रहमान खाँ साहब के शिष्य हो गये और उनसे तबले की अन्य परम्परा की शिक्षा प्राप्त की। उनके प्रमुख शिष्यों में इलाहाबाद के प्रोफेसर लालजी श्रीवास्तव हैं।

(५) वासुदेव प्रसाद बनारस के पं० बीरू मिश्र के शिष्य थे। उन्होंने दिल्ली घरानें के उ० नत्थू खाँ, पंजाब के उ० करम इलाही खाँ, फरुखाबाद के सलारी मियाँ तथा छन्नु खाँ बरेली वाले, अजराड़ा के उ० शम्मू खाँ, गया के उ० राजा मियाँ तथा मुरादाबाद के उ० शेर खाँ से भी तालीम प्राप्त की थी।

उपरोक्त विवरण में अधिकतर व्यक्तियों के विषय में मतभेद है, क्योंकि बनारस के मौजूदा कलाकार उसका खण्डन करते हैं। जो भी हो, किसी लिखित या ठोस प्रमाण के अभाव में अधिकारपूर्वक कुछ कहना कठिन है।

बनारस घरानें की विशेषतायें

(१) बनारस के कलाकारों के अनुसार इस बाज में अनामिका (तीसरी उँगली) को थोड़ी सी टेढ़ी करके तथा तबले (दाहिना) पर प्रहार करके ध्वनि निकाली जाती है। इस प्रकार इस बाज में लव का सर्वाधिक प्रयोग होता है और इसी प्रयोग से यह बाज अन्य बाजों से पृथक् हो जाता है।

(२) बनारस घरानें में कायदो से अधिक महत्व उठान, गत, परन, मोहरे, मुखड़े, रेला, लग्गी, बाँट, लड़ी, श्लोक आदि बोलो पर दिया जाता है। इस घरानें का सम्बन्ध नृत्य से भी अधिक रहा है, अतः उसमें तोड़े, टुकड़े, चक्रदार आदि विशेष बजते हैं। ठेके के प्रकार तथा फरद नाम की एक विशेष प्रकार की गत बनारस घरानें की प्रमुख विशेषता है। फरद गत के उद्भव एवं प्रसारण का श्रेय बैजू महाराज को दिया जाता है।

(३) बनारस शैली में कुछ जनानी तथा मर्दानी गतें काफी प्रसिद्ध हैं। जनानी गतों में जनाना खूबसूरती तथा नज़ाकत देखी जाती है जिनमें केवल आधा हाथ अर्थात् उँगलियों तक का हिस्सा ही प्रयुक्त होता है। इसके विपरीत मर्दाना गतो में ज़ोरदार शब्दो का प्रयोग किया जाता है। पूरे पंजे का उपयोग देखा जाता है तथा बोल गठन एवं उसकी निकास पद्धति में गंभीरता और धिर धिर धिर किट शब्दों की प्रचुरता देखी जाती है। बनारस घरानें में इसका समावेश पंजाब घरानें का प्रभाव प्रकट करता है, यह बात तर्कसंगत लगती है, क्योंकि पं० राम सहाय ने गुरु-पत्नी से भी सीखा था, जो पंजाब के किसी गुणी की पुत्री थीं।

(४) दिल्ली-अजराड़ा मे तबले का प्रारम्भ पेशकार से होता है जब कि बनारस के कलाकार अपने वादन का आरंभ उठान से करते हैं। प्रायः उठान की रचना बंधी रहती है, तथा कभी-कभी कलाकारों द्वारा तत्कालीन भी बनायी जाती है। स्वतंत्र वादन या संगति के प्रस्तुतिकरण में उठान की तत्कालीन मौलिक रचना से कलाकार का कौशल तथा वादन निपुणता प्रदर्शित होती है।

(५) इस घरानें के कलाकार तीन ताल के ठेके "धा धिं धिं धा" को "ना धिं धिं ना" कहते हैं। उनके अनुसार 'ना धिं धिं ना' शब्द नज़ाकत और सौंदर्य का द्योतक है, जिसका प्रयोग केवल मौखिक रूप से किया जाता है और वास्तव में "धा धिं धिं धा" ही बजाया जाता है।

(६) बनारस बाज में लखनऊ की सारी विशेषतायें तो हैं ही, अतः तबला तथा पखावज दोनों के वर्ण एवं शब्द उसमें आ जाते हैं। साथ ही नक्कारा, डुग्गु, दुक्कड़, ताशा आदि की वादन शैली का प्रभाव भी देखने को मिलता है।

इस बाज में धिग धिना, धेटे तेटे, धेधे नक, धेने नक, धेत् धेत् क्धा-न, धितताम, किट धान, गदि गेन, कडान, धड़ान, धेड़ान इत्यादि शब्दों का अधिक प्रयोग देखा जाता है।

(७) गति और स्पष्टता बनारस घरानें की अपनी विशेषता है। हाथ की तैयारी तथा सफाई के लिये वहाँ के लोग कठोर परिश्रम करते हैं।

(८) बनारस घराने की लोकप्रियता का मुख्य कारण यह है कि यह बाज गायन, वादन तथा नृत्य सभी की संगति में खरा उतरता है। जहाँ तक स्वतन्त्र वादन का प्रश्न है उनकी तैयारी और सफाई सभी को आकर्षित करती है।

(९) बायें को घसीट कर लम्बी मीण्ड निकालने की प्रथा बनारस घरानें में अधिक देखने को मिलती है।

बनारस घरानें की कुछ बन्दिशें यहाँ उदाहरणार्थ प्रस्तुत हैं :

कायदा—ताल त्रिताल

धीक	धीना	तिर किट	धीना	धागे	नति	—क्ती	नाड़ा
×				२			
तीक	तीना	तिरकिट	तीना	धागे	नधि	—वधी	नाड़ा
०				३			

बनारसी (झुलन की) गत—ताल त्रिताल

धागेन	धागेतिट	तागेन	ताकेतिट
×			
वड़धाधि	गेनधा—	ता-न	धा-क्टितक
२			
धा-न	धा-वड़धे	तेटक	तेटेगेन
०			
धा-क	तेटेगेन	धा-क	तेटेगेन
३			
धा,	—वड़धे	तेटेक	तेटेगेन
×			
धाक्र	तेटेगेन	धा—क्र	तेटेगेन
२			
धा,	—वड़धे	तेटेक	तेटेगेन
०			

धा-क्र तेटेगेन धा-क्र तेटेगेन | धा
३ ×

लग्गी—ताल त्रिताल

धिग नाधि गति नाड़ा | तिक नाधि गधि नाड़ा

जनानी गत—त्रिताल

धेनकत किटगेन धागेत्रक धिनगेन धा - - - - - - - धिनगेन त्रकधिन

धेनकत किटगेन धागेत्रक धिनगेत धिनगेन त्रकधिन धागेत्रक तूनाकता

तिनतड़ा - नधिन धागेत्रक धिनगेन धागेत्रक धिनगेन तिनतड़ा - नधिन

धागेत्रक धिनगेन धागेत्रक धिनगेन तिनतड़ा - नधिन धागेत्रक तिनकेन

तिनकत किटकेन ताकेत्रक तिनकेन ता - - - - - - - तिनकेन त्रकतिन

तिनकत किटकेन ताकेत्रक तिनकेन तिनकेन त्रकधिन धागेत्रक तूनाकता

तिनतड़ा - नधिन धागेत्रक धिनगेन धागेत्रक धिनगेन तिनतड़ा - नधिन

धागेत्रक धिनगेन धागेत्रक धिनगेन तिनतड़ा - नधिन धागेत्रक धिनगेन | धा
×

● ●

अध्याय ८

पंजाब घराना

अभी तक तबले के जितने घरानों की चर्चा की गयी है, वे सभी तबले के मूल घराने अर्थात् दिल्ली से सम्बन्धित हैं। परन्तु तबले के इस बहुचर्चित पंजाब घराने का कहीं से सम्बन्ध दिल्ली घराने से नहीं स्थापित होता। इस घराने के इतिहास से ऐसा ज्ञात होता है कि इसका विकास स्वतंत्र पखावज के आधार पर हुआ है। इस सम्बन्ध में देश के सुप्रसिद्ध तबला वादक उस्ताद अल्लारखा और प० किशन महराज जी भी मानते हैं कि यह तबले का प्राचीनतम घराना है और उसकी पुष्टि में वे कहते हैं कि पखावज के समान पंजाब में बांया (धामा) पर आटा चिपकाने की प्रथा अभी भी कहीं-कहीं देखने को मिलती है। इसकी पुष्टि विदेशी लेखक रोबर्ट एस गार्टलिव ने अपनी पुस्तक The Major Traditions of North Indian Tabla Drumming Part I के पृष्ठ ७ पर की है। इस विषय पर यथेष्ट चर्चा पीछे के अध्यायों में की जा चुकी है। अतः यहाँ उसकी पुनरावृत्ति अनावश्यक है।

दिल्ली घराने के प्रवर्तक उ० सिद्धार खाँ ढाढ़ी तथा पंजाब के भवानीदास दोनों समकालीन थे तथा अपने समय के उत्कृष्ट पखावजी माने जाते थे।[1] लाला भवानी दास के नाम के विषय में काफी मतभेद है। उन्हे कोई भवानी दास तो कोई भवानी दीन और कोई भवानी सिंह कहते है। "मअ्दन-उल-मूसिकी," "राग दर्पण" तथा अन्य पुस्तको के अनुसार ताज खाँ डेरेदार तथा कुदऊ सिंह पखावजी, दोनों ने लाला भवानी दास से ही सीखा था। अतः दोनों घरानों के प्रवर्तक एक ही व्यक्ति लाला भवानी दास है। अन्तर केवल इतना है कि पंजाब घरानें के लोग भवानी दास तो अन्य घरानें के लोग भवानी दीन कहते है। वैसे दीन और दास के अर्थ भी समान हैं।

वृज के श्री छेदालाल टीकाराम पखावजी द्वारा बल्लभ सम्प्रदाय की 'गर्ग संहिता' पुस्तक के आधार पर लिखे गये वृज के पखावजियों के इतिहास की हस्तलिपि के अनुसार लाला भवानी दास वृज के निवासी थे। वे मोहम्मद शाह रंगीले के समय में दिल्ली दरबार के कलाकार थे। सन् १७१६ ई० से सन् १७३० ई० के बीच दिल्ली दरबार में भवानी दास तथा उ० सिद्धार खाँ ढाढी के बीच प्रतियोगितायें हुआ करती थीं। दगल और प्रतियोगिताओं का आयोजन उन दिनों प्रायः होता रहता था। अतः भवानी दास और सिद्धार खाँ के बीच ऐसी प्रतियोगिताएँ हुई हो और उन में कभी सिद्धार खाँ पराजित हुये हों तो आश्चर्य नहीं। आचार्य वृहस्पति ने भी इस घटना का उल्लेख अनेक बार अपनी पुस्तक "मुसलमान और भारतीय संगीत" तथा "संगीत चिन्तामणि" में किया है। कहते हैं कि पराजय से क्षुब्ध होकर सिद्धार खाँ ने पखावज बजाना छोड़ दिया और तबले को अपना लिया। भवानी दास अपने समय के एक उत्कृष्ट पखावजी थे। देश भर में उनका बहुत नाम तथा कीर्ति थी। अतः विविध स्थानों से

---

[1] संगीत चिन्तामणि : आचार्य वृहस्पति, पृष्ठ ३५६।

उनको आमंत्रण मिलते रहते थे। एक बार लाहौर के सूबेदार के निमन्त्रण पर वे पंजाब गये। वहाँ पर उन्होंने कई प्रतिभाशाली स्थानीय व्यक्तियों को शिष्य बनाया, जिनमें ताज खाँ डेरेदार, हद्दू खाँ लाहौर वाले, कादीर बख्श (प्रथम) इत्यादि अनेक कलाकार प्रसिद्ध हुये, जिनसे वहाँ की परम्परा फैली और घरानें के रूप में विकसित हुई।

लाला भवानी दास और सिद्धार खाँ समकालीन थे। अतः दोनों की परम्पराएँ एक ही समय में कुछ आगे पीछे फैलीं। जब कि अनुमान है कि भवानी दास के शिष्य कुदऊ सिंह का घराना लगभग अर्द्ध शताब्दी के बाद स्थापित हुआ।

यहाँ विशेष उल्लेखनीय तथ्य यह है कि सिद्धार खाँ ने जब से तबला ग्रहण किया, उसी की उन्नति, प्रचार एवं प्रसार में लगे रहे और समकालीन भवानी दास के प्रयत्नो से पंजाब मे पखावज का एवं उनके शिष्य कुदऊ सिंह से दतिया (मध्य प्रदेश) में पृथक् घराना स्थापित हुआ जो आज भी कुदऊ सिंह घरानें के नाम से प्रसिद्ध है। यह भी सर्वविदित है कि आज से लगभग सौ वर्ष पूर्व तक पंजाब में पखावज ही बजती रही और उसकी आड में तबला और दुक्कड़ पनपता रहा।

हम पूर्व में भी बतला चुके हैं कि दुक्कड पंजाब का एक प्राचीन लोक वाद्य है, जो तबले के समान दो भागो वाला वाद्य है। भवानी दास जी ने इस वाद्य पर एक नवीन बाज का आविष्कार किया और लोगो को उसकी शिक्षा भी दी। कहते हैं कि दास जी ने उसे अभिजात संगीत मे स्थान दिलाने का प्रयास किया। दुक्कड़ तबले के सदृश वाद्य होने के कारण कुछ लोगों की धारणा है कि वही तबले का पूर्वज है और पंजाब ही तबले का आदि घराना।

भवानी दास के विषय में कुछ लोगों का आक्षेप है कि वे मुसलमानों को विद्या नहीं देना चाहते थे। परन्तु यह बात निर्मूल मालूम पड़ती है। क्योंकि ताज खाँ डेरेदार के पुत्र नासिर खाँ पखावजी उन्हीं के शिष्य थे, जिसने अपने समय मे खूब ख्याति प्राप्त की थी। अवध दरबार मे महाराज कुदऊ सिंह के साथ उनकी प्रतियोगिता हुई थी इसका उल्लेख भी मिलता है। पं० भातखण्डे जी ने अपने संगीत शास्त्र के चौथे भाग मे तथा मोहम्मद करम इमाम ने मअ्दन-उल-मूसिकी मे पंजाब घरानें के नासिर खाँ पखावजी की प्रशंसा की है। अतः भवानीदास के अनेक शिष्य पखावज बजाते थे, ऐसा प्रमाणित होता है। उल्लेखनीय है कि पखावज के साथ-साथ यहाँ दुक्कड का प्रचार भी होता रहा, क्योंकि खरे हुसेन ढोलकिया के पुत्र अमीर अली को उन्होंने दुक्कड ही सिखाया था, ऐसा उल्लेख धुव की हस्तलिपि में मिलता है। इस प्रकार पंजाब घरानें में पखावज और दुक्कड दोनों का बराबर प्रचार होता रहा। लखनऊ घरानें के उस्ताद मोदू खाँ की पत्नी किसी पंजाबी उस्ताद की पुत्री थी। उन्हे अपने वालिद की अनेकों गतें याद थीं, ऐसा उल्लेख मअ्दन-उल-मूसिकी मे मिलता है। बनारस के पं० रामसहाय को गुरु-पत्नी से पंजाब घरानें की काफी विद्या मिली थी, ऐसा बनारस घरानें का इतिहास भी बताता है। अतः जिस काल में सिद्धार खाँ के द्वारा तबले के बाज और दिल्ली घरानें की स्थापना हुई उसी काल में पंजाब में भी लाला भवानी दास द्वारा दुक्कड़ का प्रचार हुआ होगा। इतना होते हुए भी उस समय तक पंजाब में पखावज ही सर्वोत्कृष्ट अवनद्ध वाद्य माना जाता था।

इतिहास साक्षी है कि सन १८४०-५० ई० तक देश के विभिन्न स्थानों पर तबला बजना प्रारम्भ हो गया था और शनैः-शनैः दिल्ली, अजराड़ा, लखनऊ आदि घरानें कायम होने

लगे थे। परन्तु पंजाब में अभी तक अपनी परम्परा में कोई अन्तर नहीं आया था। उ० फकीर बख्श पखावजी वहां के पहले कलाकार थे जिन्होंने तबला वादन के महत्व को समझा और देश में उसके प्रति बढ़ती हुई लोकप्रियता का मूल्यांकन किया। अत. उन्होंने भवानीदास जी द्वारा विकसित दुक्कड पर बजने वाले नवीन बाज को तबले पर बजाना प्रारंभ किया। तत्पश्चात् मियाँ फकीर बख्श के गुरु-भाइयों, पुत्र मियाँ कादीर बख्श ने तथा उनके कुछ शिष्य-प्रशिष्यों ने भी उनके इस प्रयास में यथा योग्य सहयोग दिया और इस प्रकार पंजाब घरानें में तबले का प्रचार प्रारंभ हो गया। उस समय वहाँ के तबले की आकृति दुक्कड़ से मिलती जुलती थी। उसकी वादन शैली पर पखावज का स्पष्ट एवं अत्यधिक प्रभाव देखा जाता था। यही कारण है कि तबले पर उँगलियों के स्थान, पूरे पंजे का प्रयोग, बोलों की निकास पद्धति, लयकारी का गणित एवं बन्दिशों की रचना में पंजाब घरानें का तबला दूसरे सभी घरानों की अपेक्षा पखावज के सर्वाधिक निकट लगता है।

पंजाब घरानें की परम्परा

पीछे के पृष्ठों में पंजाब में तबले के प्रचलन और विकास की पर्याप्त चर्चा की जा चुकी है, जहाँ उन सबके पीछे लाला भवानीदास का नाम जुड़ा हुआ है। वह समय अविभाजित भारत का था। सन् १९४७ ई० में भारत विभाजन के पश्चात् पंजाब घरानें का मूल केन्द्र लाहौर पाकिस्तान में चला गया। वहाँ की परम्परा का विस्तृत विवरण देने में हम असमर्थ है। हाँ, यहाँ हम भवानीदास के उन प्रमुख पाँच शिष्यों की चर्चा करेगे जिनके प्रयास से भारत मे पंजाब घरानें की परम्परा विकसित हुई (१) मियाँ कादीर बख्श (प्रथम) (२) हद्दू खाँ लाहौर वाले (३) ताज खाँ डेरेदार (४) अमीर अली (खब्बे हुसेन ढोलकिया के पुत्र) तथा (५) शिष्य, जिनका नाम अज्ञात है, किन्तु उनकी परम्परा मिलती है।

लाला भवानी दास के प्रथम शिष्य मियाँ कादीर बख्श (प्रथम) से जो परम्परा चली, उसमें उनके पुत्र मियाँ हुसेन बख्श, पौत्र मियाँ फकीर बख्श एव शिष्य भाई बाग, फकीर बख्श के पुत्र मियाँ कादीर बख्श तथा शिष्यों में करम इलाही, मियाँ मलंग, मीरा बख्श घिलवालिये, बहादुर सिंह इत्यादि तथा कादीर बख्श के अनेको शिष्यो में उ० अल्ला रखा एवं उनके पुत्र जाकिर हुसेन के नाम अग्रगण्य हैं। मियाँ हुसेन बख्श के शिष्य भाई बाग की परम्परा भी लम्बी है जिसमें उनके पुत्र भाई अमीर, शिष्य भाई मंदा तथा वशज एवं प्रशिष्यों में भाई नसिरा, भाई सन्तु, गुरामल तथा दासमल के नाम उल्लेखनीय हैं। मियाँ कादीर बख्श (प्रथम) की यह परम्परा जिस प्रकार भारत में फैली है उसी प्रकार पाकिस्तान में भी फैली थी। आज भी इस परम्परा के कुछ शिष्य पाकिस्तान में हैं।

लाला भवानीदास के दूसरे शिष्य हद्दू खाँ लाहौर वाले की परम्परा का इतिहास हमें नहीं मिल सका। उनके शिष्य मुख्यतः पाकिस्तान में फैले हैं, किन्तु इस घराने के कुछ प्रमुख कलाकारो की मुलाकातों से प्राप्त जानकारी के अनुसार बनारस के पं० बलदेव सहाय ने उ० हद्दू खाँ से शिक्षा ग्रहण की थी। जर्मन लेखक श्री रोबर्ट गाटलिब ने अपनी पुस्तक 'दी मेजर ट्रेडिशन्स आॅफ नार्थ इन्डियन तबला ड्रमिंग' में भी इस बात का उल्लेख किया है। यद्यपि बनारस के तबला वादक इस कथन का विरोध करते हैं।

लाला भवानीदास के तीसरे शिष्य ताज खाँ डेरेदार से जो परम्परा चली, उसमें उनके

पुत्र नासिर खाँ पखावजी का नाम प्रमुख है वे अपने समय के कुशल पखावजी थे। अवध दरबार में महाराज कुदऊ सिंह के साथ उनकी प्रतियोगिता हुई थी, ऐसा उल्लेख मिलता है जो उनके उत्कृष्ट कलाकार होने को प्रमाणित करता है। उ० नासिर खाँ बड़ोदरा (गुजरात) दरबार के कलाकार रहे। अतः उनके शिष्य-प्रशिष्यों की विशाल संख्या बड़ोदरा में फैली, जिनमें उनके पुत्र उ० निसार हुसेन खाँ, पौत्र नज़ीर खाँ तथा प्रमुख शिष्य पं० कान्ता प्रसाद के नाम उल्लेखनीय है।

लाला भवानीदास के चौथे शिष्य अमीर अली, खब्बे हुसेन ढोलकिया के सुपुत्र थे। खब्बे हुसेन अपने समय के उत्कृष्ट कलाकार थे। वे लाला भवानीदास के समकालीन, मित्र एवं प्रतिद्वन्दी थे। वे लालाजी का बड़ा आदर करते थे। अतः उनके साथ प्रतियोगिता में हार जाने के पश्चात् उन्होंने अपने पुत्र अमीर अली को लाला भवानीदास का शिष्य बना दिया। इस तथ्य का प्रमाण बृज की पोथी में उपलब्ध है। दुर्भाग्य से अमीर अली की वंश अथवा शिष्य परम्परा का उल्लेख नही मिलता।

लाला भवानीदास के पाँचवें शिष्य का नाम अज्ञात है जिनसे भवानी प्रसाद ने शिक्षा पायी थी। उनके प्रमुख शिष्यों में बृज के मक्खन लाल पखावजी का नाम भी आता है, जिन्होंने भवानी प्रसाद के उपरान्त अपने पिता तथा चाचा से कुदऊ सिंह एवं नाना पानसे घरानें की विद्या भी प्राप्त की थी।

पंजाब घरानें में तबले के प्रचार तथा उसके साहित्य को समृद्ध एवं बहुश्रुत करने का प्रमुख श्रेय उ० कादीरबख्श (प्रथम) के पौत्र मियाँ फकीर बख्श तथा प्रपौत्र मियाँ कादीरबख्श (द्वितीय) को जाता है। तबले के विकास में उन दोनों पिता-पुत्रों का तथा फकीरबख्श के शिष्य करम इलाही, बाबा मलंग इत्यादि का योगदान अमूल्य है।

उ० फकीर बख्श अपने युग के महान् कलाकार थे। पखावज एवं तबला दोनो पर उनका समान अधिकार था। उनके वादन पर लोग मुग्ध हो जाते थे। कहा जाता है कि मियाँ फकीर बख्श के सवा लाख शिष्य थे। यद्यपि यह बात अतिशयोक्ति पूर्ण लगती है तथापि इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि खाँ साहब ने तबले का काफी प्रचार किया।

मियाँ फकीर बख्श के प्रथम एवं प्रमुख शिष्य मियाँ करम इलाही थे, जो ज्ञान एवं विद्या की दृष्टि से काफी गुणी व्यक्ति माने जाते थे। कहते हैं कि फकीर बख्श को काफी अवस्था में पुत्र हुआ था। अतः मियाँ कादीर बख्श की शिक्षा पिता के उपरान्त मियाँ करम इलाही से भी हुई थी। मियाँ करम इलाही के भी अनेक शिष्य हिन्दुस्तान और पाकिस्तान में प्रसिद्ध हैं, जिनमें मियाँ नबी बख्श कालरिये, बनारस के वासुदेव प्रसाद, लुधियाना के बहादुर सिंह इत्यादि के नाम लिये जाते हैं।

मियाँ फकीर बख्श के दूसरे शिष्य बाबा मलंग (सन् १८७० ई० से सन् १९४०-४५ ई० के बीच) एक उत्कृष्ट कलाकार हो गये हैं। उनके भी सैकड़ों शिष्य-प्रशिष्य आज पंजाब तथा पाकिस्तान मे फैले हुये हैं। उनका भानजा तालब हुसेन, शिष्य शौकत हुसेन, इनायत अली, अयोध्या प्रसाद रावलपीडी वाले आदि आज पाकिस्तान में नामी तबला वादकों के रूप में अपना स्थान रखते हैं। तदुपरान्त फकीर बख्श के प्रसिद्ध शिष्यों में मीरा बख्श घिलवालिये, फकीर बख्श फत्तेहउल्ला (पेशावर) आदि का भी योगदान अनन्य है। बाबा मलंग तथा

मीरा बख्श घिलवालिये के प्रमुख शिष्यों में बहादुर सिंह का नाम भी आता है जिनकी विस्तृत शिष्य परम्परा लुधियाना, जालंधर, पटियाला, अमृतसर, चंडीगढ़ आदि में फैली है। ये सभी कलाकार ११वी शती के उत्तर-मध्य काल से २०वीं शती के मध्य के बीच हुये हैं।

मियां कादीर बख्श (द्वितीय) का देहान्त करीब ७० साल की उम्र में सन् १९६० ई० में लाहौर (पाकिस्तान) में हुआ। वे पंजाब घराने के महान् कलाकार थे। तबला तथा पखावज दोनो पर उनका समानाधिकार था। उनके शिष्यों में लाल मोहम्मद खां, महाराजा टीकमगढ़, भाई नसिरा, शौकत हुसेन, सादिक हुसेन, रायगढ़ के राजा चक्रधर सिंह, अल्ला धेत्ता खां तथा अल्ला रखा खां आदि सुप्रसिद्ध हैं। उ० अल्ला रखा के पुत्र जाकिर हुसेन भी तबला जगत् में अपना महत्वपूर्ण स्थान बना चुके हैं।

पंजाब घराने की विशेषतायें

(१) इस घरानें का बाज पखावज से अत्यधिक प्रभावित होने के कारण जोरदार और खुला है, जिसमें चारों उँगलियों के प्रयोग के साथ तबले पर थाप का भी खूब प्रयोग होता है।

(२) इस घराने की वादन शैली में ठेके के बाँट का काम तथा लयकारी के हिसाब का गणित जटिल होता है। जैसे, चक्रदारों में साढे नव मात्रा का पल्ला और पौने दो मात्रा का दम तथा साढ़े पन्द्रह मात्रा का पल्ला और पौन मात्रा का दम इत्यादि।

(३) पंजाब घरानें की बन्दिशों पर वहां की भाषा का स्पष्ट प्रभाव है : जैसे धाती के स्थान पर धात का उच्चारण अथवा धिरधिर कत्त के स्थान पर घेर घेर केट का उच्चारण इत्यादि।

(४) पंजाब घरानें में कायदे का प्रचार कम है और जो हैं भी वे काफी जटिल एवं लयकारी युक्त हैं। पंजाब मुख्यतः अपने गतों एवं रेलों के लिये प्रसिद्ध है।

(५) बन्दिशों में धिनाड, धिडन्त, क्रुतधा, धाडागेन आदि तथा ठेके में धाती धाडा तथा अति द्रुत गति में घेरकेत तेरकेत बोलों का प्रयोग होता है।

(६) बायें पर मीण्ड का काम तथा तबला-बायें का लचीलापन पंजाब घरानें की अपनी विशेषता है।

(७) पजाब प्रान्त सीमा पर होने के कारण संरक्षण के हेतु युद्ध की अनिवार्यता वहाँ के जन-जीवन में घुलमिल गयी है जिसका प्रभाव वहाँ के संगीत पर भी देखने को मिलता है। यही कारण है कि पंजाब का संगीत जोरदार एवं तेज गति युक्त प्रधान है। वह युद्ध में उत्तेजनार्थ तो शांति में शृंगार प्रधान एवं मनोरंजनार्थ है। उसकी बन्दिशें ओज, गति एवं शौर्य भरे शब्दों से पूर्ण हैं।

यहाँ पर पंजाब घरानें की कुछ बन्दिशें उदाहरणार्थ प्रस्तुत हैं जो इस घरानें के प्रतिनिधि उ० अल्ला रखा खां एवं कुछ गुणी जनों से प्राप्त हो सकी है।

कायदा—ताल तिताल (कहरवा अंग)

धात्रकधि	किटधाड़	धागेनधा	गधाति –	धागे नति	नग धेत	धागेनति	नानाकेन
×				२			
तात्रकति	किट ताड़	तागे नता	केना ति –	धागे नति	नगधेत	धागे नति	नानाकेन
०				३			

पेशकार अंग का कायदा—ताल त्रिताल

धिंता	वड़धि	ता - - वड़	धिंधि	धा - ग	धा धा	तूना	किट तक
×				२			
तिंता	वड़ति	ता - -वड़	तिं तिं	धा - ग	धा धा	तूना	किट तक
०				३			

लाहौरी गत—जुगल बोलों की, ताल त्रिताल—तिस्र जाति

घेना	धा - ड़	घेना	धा - ड़	धग, न	ग, धिन	धग, न	ग, धिन
×				२			
तकत	धा - ड	तकत	धा - ड़	तकधि	नतक	तकधि	नतक
०				३			
तक, त	क, तिन	तिन, त	क, तक	तिट, ति	ट, कत	कत, ग	द्दि, गद्दि
×				२			
घे घे धि	न धिन	घे घे धि	न धिन	धेर धेर किट	धा-ड धा - -	धेर धेर किट	धा-ड़ धा - -
०				३			

• •

अध्याय ६

बंगाल की विविध परम्परायें

भारत के विभाजन से पूर्व वृहद् बंगाल के संगीत समाज में तबले की जो विभिन्न परम्परायें फैली हुई थीं, उनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

१ विष्णुपुर परम्परा

बंगाल का विष्णुपुर जिला संगीत कला के प्रचार एवं विकास का प्रमुख स्थान रहा है। चाहे ध्रुपद गायकी हो या ख्याल, पखावज हो या तबला वादन हर क्षेत्र में उसकी अपनी विशिष्ट परम्परा रही है।

विष्णुपुर में तबले की दो प्रमुख परम्पराएँ चलीं। एक वेचाराम चट्टोपाध्याय द्वारा तथा दूसरी रामप्रसन्न बंदोपाध्याय द्वारा स्थापित। विष्णुपुर में पहले पखावज का प्रचार था तत्पश्चात् तबला-वादन का विकास हुआ। उल्लेखनीय है कि दोनो परम्परायें लखनऊ घराने से सम्बन्धित हैं।[१]

श्री वेचाराम चट्टोपाध्याय की परम्परा

विष्णुपुर परम्परा में तबले का जो इतिहास आज हमारे पास उपलब्ध है, उसका आरम्भ श्री वेचाराम चट्टोपाध्याय से हुआ है। विष्णुपुर ध्रुपद गायन की परम्परा काफी प्राचीन है। अतः उस गायकी की संगति के लिए पखावज का प्रचार भी वहाँ पहले से था।

वेचाराम जी मूलतः एक पखावज वादक थे। उन्होंने तबले की शिक्षा फरुखाबाद घराने के प्रवर्तक तथा लखनऊ के उ० बख्शू खाँ के दामाद उ० हाजी विलायत अली से, संभवतः लखनऊ में रहकर प्राप्त की थी। विष्णुपुर में तबले के प्रचार का सम्पूर्ण श्रेय उन्ही को है। अनुमान है, कि उनका समय सन् १८६० ई० के आसपास का रहा होगा।[२]

श्री चट्टोपाध्याय विष्णुपुर के गोपालपुर नामक गाँव (आजकल बंगला देश) के निवासी थे। पखावज वादन की कला तो उन्हे अपने पूर्वजों से विरासत में मिली थी। परन्तु वे पखावज तथा तबला दोनों पर समानाधिकार रखते थे। उन्होने विद्या का प्रचार उन्मुक्त हृदय से किया। उनके भतीजे गिरीश चन्द्र चट्टोपाध्याय तथा नारायण चट्टोपाध्याय अच्छे कलाकार माने जाते थे। श्री वेचाराम के शिष्यों में भैरव चक्रवर्ती (गेला), निताई संतुबाई, हरिपदा करमकार, राजा जोगेन्द्रनाथ राय (नाटोर) तथा सुप्रसिद्ध ईश्वरचन्द्र सरकार आदि ने इस क्षेत्र में काफी ख्याति अर्जित की। श्री सरकार अपने समय के उत्कृष्ट कलाकारो में एक माने जाते थे। आज भी बंगाल के लोग उन्हें सम्मान से याद करते हैं।

---

१. तबला कथा (बंगाली) : सुबोध नन्दी कृत।
२. तबला कथा (बंगाली) (विष्णुपुर घराना अध्याय) : सुबोध नंदीकृत।

विष्णुपुर की परम्परा (द्वितीय)

रामप्रसन्न बन्द्योपाध्याय (उ० मम्मू खाँ (लखनऊ) के शिष्य) (सन् १८७५ ई० के पश्चात)

विजनचन्द्र हजारे — खुदीराम दत्त — नित्यानंद गोस्वामी — नकुलचन्द्र नन्दी — पशुपति सहा — ब्रजलाल माझी

नित्यानंद गोस्वामी: शिव प्रसाद गोस्वामी

ब्रजलाल माझी: विपिन बिहारी दास (विपिन बाबू)

विजनचन्द्र हजारे: अजीत हजारे (पुत्र) — सुबोध नंदी — मनोज दे — बाकुबिहारी दत्त

पशुपति सहा: सतार अली खाँ — कालिपाद चक्रवर्ती — भालचन्द्र परमाणिक

सतार अली खाँ: अनील पाल — विश्वनाथ करमाकर

सुबीर नन्दी (पुत्र) — सुदीप नंदी (पुत्र) — लालमोहन नन्दी — क्रमाख्या धर — रविराणा — असीम पाल — अनादि दत्त — नेपाल बनर्जी — हरिपदा मडल — साधन विकासनाथ — सुब्रत गागुली — देवीप्रसाद सरकार — सुधीर राय — हरिभक्त राय — आसीम बोस — सितेन्दु बनर्जी — विश्व दत्त

विश्व दत्त: कृष्ण हान्डे

विपिन बिहारी दास: वीरभद्र दास (पुत्र) — भोला नाथ — राम गोपाल दास — शंकर दास — अजय दास — ज्ञान प्रकाश घोष (परवावज में शिष्य) — मुकुन्द घोष

भैरव चक्रवर्ती के शिष्यों में राजग्राम के स्थितिराम पांजा तथा ईश्वर चन्द्र सरकार के शिष्यों में विजनचन्द्र हज़ारे और हरिपद करमकार के नाम उल्लेखनीय हैं।

इस पीढ़ी के पश्चात् आज कल विष्णुपुर की तबला परम्परा के विषय में कोई विशेष जानकारी प्राप्त नहीं होती। प्राप्त परम्परा इस तालिका से अधिक स्पष्ट हो जायेगी—
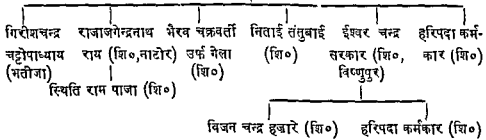
श्री राम प्रसन्न वन्दोपाध्याय की परम्परा

विष्णुपुर घरानें की दूसरी परम्परा के जन्म एव विकास का श्रेय राम प्रसन्न बंदोपाध्याय को है। अनुमान है, उनका समय सन् १८७५-८० ई० के पश्चात् का रहा होगा। वे उस्ताद मम्मन खां (मम्मू खां) के शिष्य थे। राम प्रसन्न जी विष्णुपुर के मूल निवासी थे। परन्तु तबले की शिक्षा उन्होंने कलकत्ते में प्राप्त की थी। मम्मू खां जब भी कलकत्ता आते थे, वे भी वहाँ पहुँच जाते थे। इस प्रकार उन्होंने कला की बारीकियों का सूक्ष्म अध्ययन किया।[3]

श्री राम प्रसन्न बन्दोपाध्याय तबला, पखावज तथा गायन में निपुण थे। उन्होंने अपनी विद्या का खूब प्रचार किया तथा अनेंक शिष्य तैयार किये। इनकी विशाल शिष्य परम्परा में सर्व श्री खुदीराम दत्त, बृजलाल माझी, नकुल चन्द्र नन्दी, नित्यानन्द गोस्वामी, पशुपति सखा तथा विजनचन्द्र हज़ारे का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

उनके प्रशिष्यों की सूची में नित्यानंद गोस्वामी के पुत्र शिवप्रसाद गोस्वामी, पशुपति सखा के शिष्य कालिपाद चक्रवर्ती, भालचन्द्र परमणिक तथा सत्तार अली खां (सतीश), श्री बृजलाल माझी के शिष्य विपिन विहारी दास (विपिन बाबू), श्री विजनचन्द हज़ारे के पुत्र शुजित हज़ारे तथा शिष्य मनोज दे, बांकेबिहारी दत्त एवं सुबोध नन्दी के नाम लिये जाते हैं। उनकी चौथी पीढ़ी के कलाकारों में सर्व श्री सुदीर नन्दी, सुबीर नन्दी, विश्वनाथ करमकार, अनील पाल आदि के नाम प्रमुख हैं। कलकत्ता के सुप्रसिद्ध तबलावादक पद्मभूषण ज्ञानप्रकाश घोष ने पखावज वादन की शिक्षा इसी परम्परा के सुप्रसिद्ध कलाकार श्री विपिनबाबू से प्राप्त की है।

२. ढाका की परम्पराएँ

वासक परम्परा

अविभाजित भारत के पूर्व ढाका का क्षेत्र पूर्वी बंगाल में था। देश के अन्य स्थानों के

---

३. तबला कथा (बंगाली) : सुबोध नन्दी, विष्णुपुर घराना।

गुरु उस्ताद हुसैन अली खाँ फरुक्खाबाद घरानें के प्रवर्तक हाजी विलायत अली खाँ के पुत्र थे। यद्यपि श्री सुबोध नन्दी की 'तबला कथा' नामक बंगला पुस्तक में उनके गुरु का नाम हुसेन बख्श लिखा है। तथापि फरुखाबाद घरानें के हुसैन अली की शिष्य परम्परा में ही अताहुसेन का नाम जोड़ना अधिक उचित जान पड़ता है। सम्भव है कि उस्ताद हुसेन बख्श जो कि हाजी विलायत अली खाँ के दामाद थे, उनसे भी सीखा हो। खाँ साहब की कर्म भूमि ढाका थी। वे मुर्शीदाबाद का राजाश्रय छोड़ कर ढाका चले आये और जीवन के अन्त समय तक वहीं रहे। वहाँ के सुप्रसिद्ध तबला वादक श्री वाणिवय उनके प्रमुख शिष्यों में से थे। उनके अतिरिक्त खाँ साहब के शिष्यों की बड़ी संख्या है, जिनमें अधिकतर लोग मुर्शिदाबाद, ढाका एवं बंगाल के अन्य भागों से सम्बन्धित थे, जिनमें मुर्शीदाबाद के उस्ताद कादिर बख्श, मोतीधारा, बावल के राजकुमार, भवानी चरण बसन, अवानी गांगुली आदि प्रमुख थे। उस्ताद अताहुसेन खाँ के अनेक प्रशिष्यों में निम्नलिखित कलाकार उल्लेखनीय है :—

त्रिपुरा के कामनी कुमार भट्टाचार्य, अक्षय कुमार करमकार, राधा बल्लभ गोस्वामी, भागवत साहा, राय बहादुर केशवचन्द बनर्जी, हिरेन्द्र किशोर राय चौधरी, राणेन्द्र किशोर राय चौधरी, अरुणेन्द्र किशोर राय चौधरी, विमल दास, सुनिर्मल, निर्मल बन्दोपाध्याय, सुरेन्द्र अधिकारी, हरेन्द्र चक्रवर्त्ती, मणिन्द्रनाथ लहरी, विश्वनाथ सोम, शष्ठि बाबू, चुन्नीलाल बाबू, दुलाल मुन्ना, रबिन्द्र बसन, कृष्ण कुमार गांगुली इत्यादि। ये सूची श्री नंदी कृत 'तबला कथा' से प्राप्त हुई है। इस घरानें की तालिका आगे देखिये।

ढाका के उस्ताद अता हुसैन खाँ की परम्परा
अता हुसैन
कादिर बख्श (शि०)
मोती धारा (शि०)
प्रसन्न कुमार साहा वाणिज्य (शि०)
बावल के राजकुमार (शि०)
भवानी चरण बरन (शि०)
अबानी गांगुली (शि०)
दुलाल मुशा (शि०)
राजील लोचन डे (शि०)
रविन्द्र बरु (पु०)
सभी शिष्य
राय बहादुर केशव चन्द्र बनर्जी
राजा प्रताप चन्द्र बरुआ
हिरेन्द्र कुमार राय चौधरी
अक्षय कुमार करमाकर
राधा वल्लभ गोस्वामी
भागवत साहा
कामिनी कुमार भट्टाचार्य
हेमचन्द्र राय
विमल दास (शिष्य)
सुनिर्मल गुप्ता (शि०)
अरुणेन्द्र किशोर राय चौधरी (पु०)
रणेन्द्र किशोर राय चौधरी (भतीजा)
सुरेन्द्र अधिकारी (शि०)
हरेन्द्र चक्रवर्ती (शि०)
मणिणेन्द्र नाथ लहरी (शि०)
किशोर चौधरी
अबानी गांगुली के शिष्य
विश्व नाथ सोम
शष्ठि बाबू
कृष्ण कुमार गांगुली
चुनी लाल बाबू

ढाका के छोट्टन खाँ की परम्परा

लखनऊ घरानें के छुट्टन खाँ की परम्परा के उ० मम्मन खाँ (मम्मू खाँ) के पौत्र नादिर हुसैन खाँ उर्फ छोट्टन खाँ कुछ समय तक ढाका में रहे। छोट्टन खाँ अपने घराने के सिद्धहस्त कलाकार थे। अत. उनको वहाँ काफी मान सम्मान मिला। ढाका में उनकी शिष्य-परम्परा में वहाँ के जमीदार खान बहादुर काजी उ० अल्लाउद्दीन अहमद खाँ तथा श्री फेलुचन्द्र चक्रवर्ती के नाम महत्वपूर्ण हैं।

उस्ताद छोट्टन खाँ की परम्परा
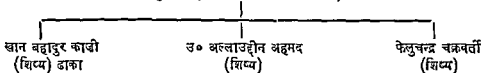
ढाका के मिअन खाँ और सुप्पन खाँ की परम्परा

ढाका के उस्ताद मिअन खाँ तथा उनके पुत्र सुप्पन खाँ (कोई छुप्पन खाँ कहते हैं) अपने समय में अत्यन्त प्रसिद्ध कलाकार माने जाते थे। सुप्पन खाँ ने अपने पिता तथा फरुक्खाबाद घरानें के कुछ उस्तादों से भी शिक्षा प्राप्त की थी जिनमें सर्वश्री गुलाम अब्बास, सलारी खाँ, हुसेन बख्श तथा आबिद हुसेन के नाम प्रमुख हैं। उ० सुप्पन खाँ अता हुसैन के गुरु भाई थे। उनके प्रमुख शिष्यों में दुर्गादास लाखा तथा शशीमोहन वासक के नाम उल्लेखनीय हैं।

ढाका के उ० साधुचरण की परम्परा

ढाका की तबला परम्परा में श्री गगनचन्द्र चौधरी तथा साधुचरण के नाम भी महत्व-पूर्ण हैं। साधुचरण की वश परम्परा में उनके पुत्र गोपालचन्द्र तथा महताब चन्द्र, भतीजा पुतु एवं शिष्य राजेन्द्र नारायण राय, शारदाचरण राय चौधरी (काशिमपुर) तथा रास बिहारी दास उल्लेखनीय हैं। श्री गगनचन्द्र चौधरी के शिष्यों में श्री गोरा मुख्य हैं।
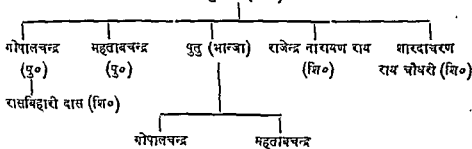
अगरतल्ला के कलाकारों की परम्परा

संभवतः डेढ़ सौ वर्ष पूर्व राम कन्हाई तथा रामधन नाम के दो भाई अगरतला दरबार

भारतीय सगीत कोश : बिमलाकान्त राय चौधरी, पृष्ठ २१८

के कलाकार थे। यद्यपि उन्होंने किससे सीखा था, इसका उल्लेख कहीं नहीं मिलता, तथापि वे दोनों भाई बड़े कुशल तबला-वादक थे, ऐसी जानकारी प्राप्त होती है। त्रिपुरा जिले के आफताब उद्दीन खाँ मैहर के सुप्रसिद्ध सरोद नवाज बाबा अल्लाउद्दीन खाँ के बड़े भाई थे। अतः बाबा अल्लाउद्दीन खाँ की तबले की शिक्षा उनके बड़े भाई उ० आफताब उद्दीन से सम्पन्न हुई थी। तत्पश्चात् उन्होंने पखावज की तालीम प्रसिद्ध मृदंगाचार्य मुरारीलाल गुप्त के शिष्य श्री नन्दी भट्ट से प्राप्त की थी, जो पथुरियाघट के राजा जोगेन्द्र मोहन टैगोर के दरबारी कलाकार थे।

उ० आफताबउद्दीन माँ काली के परम उपासक थे। उन्हे माँ की सिद्धि प्राप्त थी। अतः वे फकीर साहब के नाम से पहचाने जाते थे। उन्होंने अपने छोटे भाई अलाउद्दीन के उपरान्त अपने नाती यार रसूल उर्फ फुलझड़ी खाँ को तबले की शिक्षा दी। फुलझड़ी के पश्चात् मैहर में रह कर बाबा अल्लाउद्दीन से भी सीखा था। फुलझड़ी तबले के अत्यन्त गुणी एव कुशल तबला वादक माने जाते थे। उनके तबला वादन में बोलों का सौन्दर्य फुलझड़ी की भांति निखर उठने के कारण मैहर के राजा ने उन्हे "फुलझड़ी खाँ" की उपाधि से विभूषित किया था। इनके शिष्यों में खादिम हुसेन तथा दिल्ली की श्रीमती जोगमाया शुक्ल का नाम उल्लेखनीय है।

अगरतला की परम्परा

राम कन्हाई | राम धन (दोनों भाई अगरतला के दरबारी कलाकार)

आफताब खाँ उर्फ फकीर साहब (मैहर के बाबा अल्लाउद्दीन खाँ के बड़े भाई)

अल्लाउद्दीन खाँ (मैहर) (छोटे भाई) | यार रसूल उर्फ फुलझड़ी (नाती) उर्फ खुदायार खाँ

अल्लाउद्दीन खाँ के शिष्य: यार रसूल उर्फ फुलझड़ी खाँ (शिष्य) | खादिम हुसैन (शिष्य)

यार रसूल उर्फ फुलझड़ी के शिष्य: खादिम हुसैन (मैहर) (शिष्य) | श्रीमती जोगमाया शुक्ल दिल्ली (शिष्या)
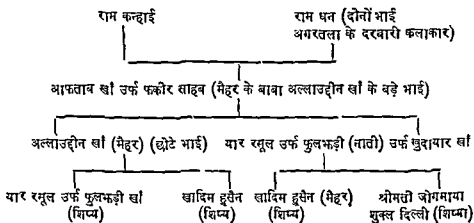
कलकत्ता में उ० बाबू खाँ की परम्परा

बंगाल के कलकत्ता नगर में तबले के प्रचार एवं प्रसार में जिन व्यक्तियों का विशेष हाथ रहा है, उनमें से लखनऊ घराने के बाबू खाँ एक हैं। वे लखनऊ घराने के स्थापक बख्शू खाँ के नाती थे। वे दीर्घकाल तक कलकत्ता में रहे और वहाँ अनेक शिष्य तैयार किये, जिनमें नगेन्द्र नाथ बरन, विधु भूषण दत्त, मन्मथ नाथ गांगुली, बुद्धेश्वर डे, मोतीलाल मित्रा, गोवर्धन पाल, विनयकान्त सरकार, अरुण मुखर्जी, मोहम्मद इस्माईल, इनायत उल्ला खाँ, प्रसन्न कुमार साहा बाणिक्य तथा भवानीचरण दास प्रमुख हैं।

ये सूचनायें मुझे उस्ताद अल्लाउद्दीन खाँ की सुपुत्री श्रीमती अन्नपूर्णा देवी से प्राप्त हुई है।

इनके शिष्य-प्रशिष्यों का विस्तृत उल्लेख तालिका में दिया गया है।

अध्याय १०

कुछ दरबारी परम्परायें

मुगल साम्राज्य के पतन के पश्चात् १८वी शती के उत्तरार्ध में केन्द्रीय शासन की दुर्बलताओ के कारण अनेक छोटे-मोटे राज्य अस्तित्व में आये। इन राज्यों में हैदराबाद, अवध (लखनऊ), मैसूर, रामपुर, रायगढ़, काशी, जौनपुर, इन्दौर, ग्वालियर, झांसी, बांदा, दतिया, रीवा, अलवर, जयपुर, जोधपुर, बीकानेर, मेवाड, डुगरपुर, चरखारी, बीजना, भावनगर, जामनगर, बडोदरा (बड़ौदा), कोल्हापुर, सागली, सातारा, पटियाला, ढाका, रामगोपालपुर, नाटोर, मुर्शिदाबाद आदि प्रमुख थे।

धार्मिक, भौगोलिक, सांस्कृतिक एवं राजकीय विविधताओं एवं शासकों की रुचि तथा प्रभाव के अनुसार संगीत की विविध गतिविधियाँ इन राज्यों में होती रहती थीं तथा अनेक गायन शैलियों का प्राधान्य शासकों की रुचि के अनुसार वहाँ बना रहता था। कही ध्रुपद गायकी का प्रभाव था तो कही खयाल गायकी का। कही ठुमरी-दादरा-टप्पा में रुचि थी तो कही सोज मर्सिये का बोलबाला था। कही कत्थक नृत्य एवं तबला वाद्य छाया हुआ था तो कहीं वीणा, बीन और पखावज का प्रभाव था। किन्तु यह सत्य है कि इन्ही राजा-महाराजा, नवाब-ठाकुरों की गुणग्राहिता और संगीत-प्रेम के कारण हमारी सगीतिक एवं सास्कृतिक परम्परा आज तक सुरक्षित रह सकी है। भारतीय अभिजात सागीत इन देशी राज-रजवाड़ों का सदैव ऋणी रहेगा। भले ही आज स्वतत्र भारत मे कलाकारों को सरकारी स्तर पर प्रोत्साहन मिल रहा है, फिर भी सगीत कला और उसके कलाकारो को आज भी ऐसे गुणग्राही राजाओं की कमी महसूस होती है।

अब हम आगे कुछ उन राज्यों की विशेष चर्चा करेंगे जहाँ संगीत और संगीतकारो को सरक्षण मिला।

(१) रामपुर दरबार की परम्परा

उत्तर भारत का रामपुर राज्य, एक लम्बे काल पर्यन्त उत्तर भारतीय संगीत प्रणाली का महत्वपूर्ण केन्द्र रहा है। मुगल साम्राज्य के पतन के पश्चात् १८वी शती के उत्तरार्द्ध में लखनऊ संगीत का महत्वपूर्ण केन्द्र बन गया था। लखनऊ के नवाबों की गुणग्राहिता के कारण दिल्ली के बहुतेरे कलाकार वहाँ आकर बस गये। अवध के संगीत प्रेमी नवाबो ने उन सबको सदा आश्रय दिया था। लखनऊ दरबार के आश्रित कलाकारो में उ० मोदू खाँ, बख्शू खाँ, सलारी मियाँ, हाजी विलायत खाँ (फरुखाबाद), पं० राम सहाय जी (बनारस) जैसे तबला-नवाज तथा कुदऊ सिंह एवं जोध सिंह जैसे मृदंगाचार्य सम्मिलित थे। किन्तु वाजिद अली शाह के समय में धीरे-धीरे स्त्रैणता आने लगी थी। तत्पश्चात् सन् १८५७ की राष्ट्रीय क्रान्ति हुई और नवाब वाजिद अली शाह का पतन हो गया। इसके साथ ही लखनऊ के कलाकार भी आश्रयहीन हो गये।

उन दिनों अच्छे संगीतज्ञाता और आश्रयदाता के रूप में रामपुर दरबार के नवाबों की काफी कीर्ति फैली हुई थी। अतः बहुतेरे कलाकार लखनऊ छोड़ कर रामपुर के नवाबों की शरण में चले गये। रामपुर के साथ अंग्रेजों का सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण था। अतः वहाँ के नवाबों को संगीत तथा साहित्य को प्रोत्साहन देने में कोई कठिनाई नहीं हुई। सबसे महत्वपूर्ण बात तो यह थी कि रामपुर के अधिकतर नवाब, केवल गुणग्राही रसिक व्यक्ति ही नहीं थे वरन् स्वयं संगीत साधक एवं उत्कृष्ट कलाकार भी थे। यही कारण है कि पिछले डेढ सौ वर्ष तक रामपुर राज्य, संगीत का महत्वपूर्ण स्थान एवं संगीतकारों का प्रिय अड्डा रहा।

यह वही स्थान है जहाँ जगप्रसिद्ध संगीतकार पं० रविशंकर एवं उस्ताद अली अकबर खाँ के गुरु बाबा अल्लाउद्दीन खाँ ने उ० वज़ीर खाँ के पास वर्षोपर्यन्त संगीत साधना की थी। इसी रामपुर दरबार के गुणी नवाबों और दरबारी कलाकारों से पं० भातखण्डे ने संगीत शास्त्र का अध्ययन किया था जिसके फलस्वरूप आज संगीत के इतिहास में क्रान्ति सम्भव हो सकी है तथा इसी रामपुर दरबार में विद्वान् पं० कैलाश चन्द देव बृहस्पति का उदय हुआ, जिनके प्रपितामह से रामपुर दरबार का संबध राजपंडित के रूप में पीढ़ी दर पीढ़ी से चला आ रहा है।

रामपुर के रुहेला वश के प्रथम नवाब अली मोहम्मद खाँ दिल्ली के बादशाह मोहम्मद शाह रंगीले (सन् १७१६ ई० से सन् १७४६ ई० तक) के समय में हुए थे। दिल्ली के सपर्क में आने के कारण उनमें भी संगीत एव साहित्य के संस्कार उद्भवित हुए जो उनके वंशजों में फैल करके पल्लवित हुए। किन्तु विद्या और कला की दृष्टि में नवाब कल्वे अली खाँ का समय (सन् १८६४ से सन् १८८७ ई०) अत्यन्त महत्वपूर्ण माना जाता है। उनके दरबार में बहादुर हुसेन खाँ (सुरसिंगार वादक) से लेकर के अनेक गुणीजन आश्रित थे जिनमें कुदऊ सिंह पखावजी का नाम भी लिया जाता है। अवध के पतन के पश्चात् कुदऊ सिंह जी कुछ समय तक रामपुर दरबार के आश्रित कलाकार रहे। लखनऊ के उ० मौदू खाँ तबलावादक भी कुछ वर्ष उनके दरबारी-कलाकार रहे। उ० मौदू खाँ की मृत्यु पचहत्तर वर्ष की आयु में रामपुर में ही हुई थी। नवाब कल्वे अली के सौतेले भाई नवाब हैदरअली खाँ साहित्य और संगीत के महान् उपासक थे। संगीत के अनेक वाद्यों पर उनका अद्भुत प्रभुत्व था। नवाब हैदरअली के पुत्र नवाब छम्मन खाँ और नवाब जानी साहब भी अपने पिता की तरह ही संगीत के परम सुधारक एवं गुणग्राहक रहे। पं० भातखण्डे जी अपने गुरु के रूप में नवाब छम्मन खाँ साहब का अत्यन्त आदर करते थे।

तत्पश्चात् सन् १८८६ ई० में नवाब हामिद अली खाँ रामपुर की गद्दी पर बैठे और तब से रामपुर में मानो संगीत का स्वर्ण युग प्रारम्भ हो गया, जो सन् १६३० में उनकी मृत्यु पर्यन्त रहा। नवाब हामिद अली स्वयं ध्रुपद, पखावज, तबला तथा नृत्य के विशेषज्ञ थे। पं० भातखण्डे जी नवाब हामिद अली के शिष्य बने थे। नवाब हामिद अली के उपरान्त उन्होंने नवाब हैदर अली के पुत्र नवाब छम्मन साहब एवं उनके मित्र ठाकुर नवाब अली से भी संगीत विषयक अनेक बातों का एवं रागों के तत्व भेद का ज्ञान प्राप्त किया था। पं० भातखण्डे जी की ऐतिहासिक रचनाओं पर रामपुर के नवाबों के अनुग्रह का तथा वहाँ के दरबारी गुणीजनों से किये गये विचार-विनिमय का गहरा प्रभाव है।

उस्ताद हामिद अली खाँ स्वयं तबले के अच्छे ज्ञाता एवं वादक थे। सुप्रसिद्ध तबला-

वादक उस्ताद आजीम खाँ, नवाब साहब के गंडाबद्ध शिष्य बने थे। नवाब हामिद अली खाँ के दरबार में सैकड़ो संगीतज्ञ आश्रित थे जिनमें तबला पखावज के कलाकारों में सर्वश्री गया प्रसाद पखावजी, अयोध्या प्रसाद पखावजी, नासिर खाँ पखावजी, उ० नत्थू खाँ (दिल्ली घराना), आज़ीम खाँ तबला वादक आदि के नाम प्रमुख हैं। फरुक्खाबाद घराने की तबला परम्परा को फूलने-फलने का पूर्ण अवसर रामपुर दरबार मे ही मिला था। फरुक्खाबाद घरानें के उ० नन्हे खाँ के भाई उ० निसार अली खाँ, सर्वप्रथम नवाब हामिद अली के समय में रामपुर मे आकर बसे थे। उनके पीछे-पीछे उ० नन्हे खाँ भी रामपुर आ गये। अपने पिता नन्हे खाँ के साथ उनके पुत्र उ० मसीत खाँ तथा पौत्र करामतुल्ला भी रामपुर रहने लगे थे। इस प्रकार करीब पचास वर्ष का दीर्घकाल फरुक्खाबाद घरानें के तबला वादकों ने रामपुर रियासत में बिताया और वहीं से सुप्रसिद्ध होकर यह घराना सारे भारतवर्ष पर छा गया। सन् १९३० मे नवाब हामिद खाँ का देहान्त हो गया। तदुपरान्त नवाब रज़ाअली खाँ गद्दी नशीन हुए। नवाब रजा अली खाँ भी संगीत प्रेमी एवं कलाकारो के आश्रयदाता थे किन्तु नवाब हामिद अली खाँ के देहान्त के बाद उ० मसीत खाँ रामपुर नहीं रह सके और अपने पुत्र करामतुल्ला के साथ कलकत्ता चले गये। ई० स० १९३० से ई० स० १९६६ तक नवाब रज़ाअली जीवित रहे। उनके दरबार में उ० अज़ीम खाँ, उ० अहमदजान थिरकवा तथा उ० शौकत अली जैसे तबलानवाज कई वर्ष पर्यन्त आश्रित कलाकार रहे। उ० शौकत अली के सुपुत्र अस्लम हुसेन तत्पश्चात् रामपुर छोडकर कलकत्ता चले गये।[१]

मध्य प्रदेश की विविध दरबारी परम्पराएँ

सम्पूर्ण संगीत जगत् जिन पर गौरव कर सके ऐसे महान् कलाकार, विद्वान्, संगीत प्रोत्साहक एवं गुणग्राही शासकों से मध्य प्रदेश की धरती समृद्ध है। वहाँ की रियासतें जैसे कि ग्वालियर, रीवा, रायगढ़, दतिया, इन्दौर, मैहर, उज्जैन, जावरा, रतलाम, देवास, धार, सागर, बुरहानपुर आदि संगीत के लिये भारत भर में सुप्रसिद्ध हैं। वहाँ के गुणग्राही शासकों ने सगीत एव संगीतकारों को सदा प्रोत्साहन एवं आश्रय दिया। ग्वालियर के राजा मानसिंह, माडव की रूपमती बाजबहादुर तथा रायगढ़ के महाराज चक्रधरसिंह जैसे संगीतानुरागी, संगीतज्ञ राजाओ ने इस प्रदेश को गौरवान्वित किया है। संगीत जगत् को इस प्रदेश ने ऐसे-ऐसे समर्थ कलारत्न भेंट किये हैं जो अपने क्षेत्र में अजर-अमर है। तानसेन को भला कौन भूल सकता है? तानसेन के उपरान्त पिछली दो-तीन सदियो में वहाँ कुछ विशिष्ट प्रतिभाएँ इतनी समर्थ सिद्ध हुई हैं कि जिनके द्वारा नवीन परम्पराओं तथा घरानो का भी आविष्कार हुआ है। विश्वविख्यात बाबा अलाउद्दीन खाँ, उ० अली अकबर, प० रविशंकर आदि कलाकार मध्य प्रदेश की ही देन हैं।

ग्वालियर के राजा मानसिंह और संगीत सम्राट् तानसेन तथा माडव के राजा बाज-बहादुर और रानी रूपमती से लेकर आधुनिक युग के सैकड़ो कलाकार जिनमें मैहर के उ० अलाउद्दीन खाँ, उ० अली अकबर खाँ, पं० रविशंकर, श्रीमती अन्नापूर्णा देवी के उपरान्त इन्दौर के उ० अमीर खाँ, जावरा के उ० अब्दुल हलीम जाफर खाँ (सितार-वादक), उज्जैन के सितार-

---

१. आधारित : (क) संगीत चिन्तामणि : आचार्य कैलाशचन्द्र देव बृहस्पति : पृ० ३५५-३६५
(ख) खुसरो, तानसेन और अन्य कलाकार : सुलोचना-बृहस्पति : ।

वादक पं० कृष्णराव आप्टेवाले, देवास के रज्जवअली तथा पं० कुमार गांधर्व, उ० बन्दे अली खाँ बीनकार, उ० मुराद खाँ बीनकार, उ० आबीद हुसैनखाँ बीनकार, ग्वालियर के उ० हद्दू खाँ, उ० हस्सू खाँ, उ० बड़े मोहम्मद खाँ, उ० नत्थे खाँ, उ० नत्थन पीरबख्श खाँ, उ० निसार हुसैन खाँ, उ० रहमत खाँ, उ० हाफिज अली, पं० एकनाथ, पं०शंकरराव, पं०कृष्णराव शंकर पंडित, रायगढ़ के महाराज चक्रधर सिंह, मृदंग सम्राट् कुदऊसिंह महाराज, मृदंगाचार्य नाना पानसे, ग्वालियर के पं० जोरावर सिंह, पं० सुखदेव सिंह, प० पर्वतसिंह, रायगढ़ के मृदंगवादक ठाकुर लक्ष्मणसिंह, ठाकुर जगदीश सिंह, दुर्गाप्रसाद कथक, पं० कार्तिकराम कथक तथा शास्त्रकार श्री शरदचन्द्र पराजपे एवं श्री प्यारेलाल श्रीमाल का समावेश भी इनमें हो जाता है।

ताल वाद्य के क्षेत्र में तो मध्यप्रदेश का योगदान अनन्य है। संपूर्ण भारत की आधुनिक पखावज विद्या और उसकी परम्परा का वह आदि स्थान माना जा सकता है। पखावज के दोनों प्रमुख घराने कुदऊसिंह तथा नाना पानसे मध्य प्रदेश की ही देन हैं। कुदऊसिंह की परम्परा दतिया से फैली है और पानसे की परम्परा इन्दौर से। ये दोनों पखावज की कला के धुरंधर पथप्रदर्शक माने जाते हैं। ग्वालियर के पडित जोरावर सिंह, उनके पुत्र सुखदेव सिंह, पौत्र पर्वतसिंह तथा प्रपौत्र विजयसिंह, माधव सिंह तथा गोपाल सिंह की परम्परा भी काफी प्रचलित है।

हम यहाँ मध्य प्रदेश की कुछ विशिष्ट दरबारी परम्पराओं का विस्तृत इतिहास देखेंगे जो केवल तबला तथा पखावज से संबंधित हैं।[२]

रायगढ़ दरबार की परम्परा

मध्य प्रदेश की रायगढ़ रियासत की राजपरम्परा अति प्राचीन है। संगीत कला के क्षेत्र में उसका अपना निजी महत्व रहा है। उन्नीसवीं शताब्दि के अन्त में रायगढ़ में ऐसे-ऐसे संगीतानुरागी शासक हुए जिनकी सांस्कृतिक अभिरुचि और संगीत प्रेम ने रायगढ़ को एक विशेष गौरव प्रदान किया।

वर्तमान रायगढ़ राज्य की नींव डालने वाले महारथी नरेश मदनसिंह की सातवीं पीढ़ी के राजा भूपदेवसिंह संगीत के रसिक व्यक्ति थे। गणेशोत्सव के समय संगीत सम्मेलनों का आयोजन उनके पिताजी राजा घनश्याम के समय से होता आ रहा था। राजा भूपदेवसिंह के पश्चात उनके ज्येष्ठ पुत्र राजा नटवरसिंह उर्फ नारायणसिंह गद्दी नशीन हुए। उनका शासन काल सन् १९१७ से १९२३ तक का रहा। वे स्वयं अच्छे मृदंगवादक थे तथा संगीत के अत्यन्त अनुरागी थे। किन्तु रायगढ़ राज्य में संगीत का चरमोत्कर्ष "संगीत सम्राट्" महाराजा चक्रधरसिंह के समय में ही हुआ माना जाता है जो कि महाराज भूपदेव सिंह के द्वितीय पुत्र थे। वे अपने ज्येष्ठ भ्राता महाराज नटवर सिंह के पश्चात् गद्दी पर बैठे। उनका शासन काल सन् १९२३ से १९४७ तक का रहा है। सन् १९४७ में केवल ४२ वर्ष की अल्पायु में जब उनका देहान्त हुआ तब से रायगढ़ का संगीत महल सूना पड़ गया है।

---

२. मध्यप्रदेश के संगीतज्ञ प्यारेलाल श्रीमाल तथा इन्दौर, ग्वालियर, रायगढ़, दतिया, आदि स्थानों के विविध तबला-नवाजों, पखावजियों तथा शास्त्रज्ञों की मुलाकातों पर आधारित।

महाराजा चक्रधरसिंह केवल संगीत प्रेमी ही नहीं वरन् स्वयं एक उच्चकोटि के संगीतज्ञ, तबला वादक, हारमोनियमवादक, सितारवादक तथा कथक नृत्य के विशेषज्ञ एवं रचनाकार थे। भारत के श्रेष्ठ कलाकार दूर-दूर से आकर उनके समक्ष अपनी कला प्रदर्शित करने में गौरव का अनुभव करते थे। श्रेष्ठतम गायक, वादक, नर्तक उनके यहाँ राजाश्रय पाकर रायगढ़ दरबार को सुशोभित करते थे। उल्लेखनीय है कि महाराज चक्रधर सिंह जी को लखनऊ के संगीत सम्मेलन में "संगीत सम्राट्" की उपाधि से विभूषित किया गया था।

सहज है कि ऐसे गुणग्राही राजा के दरबार में कलाकारों का मेला सदैव लगा रहता होगा। कथक नृत्य तथा तबला एवं पखावज के प्रति महाराज को बेहद लगाव था। अतः उनके दरबार में नृत्य तथा तालवाद्यों के उत्कृष्ट कलाकारों की ऐसी महफिलें सजती थी जिनकी कल्पना करना भी आज कठिन है। हम यहाँ पर उनके दरबार के केवल तबला तथा पखावज के कलाकारों की ही चर्चा करेंगे।

उस्ताद कादिर बख्श खाँ, उ० मलंग खाँ, उ० करम इलाही खाँ, (पंजाब), उ० गुलाम हुसेन खाँ, खलीफा नत्थू खाँ (दिल्ली), उ० मुनीर खाँ (बम्बई), उ० अजीम बख्श, उ० फिरोज खाँ दिल्ली वाले, उ० कादिर बख्श के शिष्य उ० सादिक हुसेन, उ० हबीबुद्दीन खाँ (मेरठ), श्री कृपाराम ब्यास (रायगढ़), उ० अहमद जान थिरकवा, उ० जमाल खाँ, उ० भूरजी खाँ (इन्दौर), उ० अमीर हुसेन खाँ (बम्बई), उ० कल्लू खाँ तथा अनुजराम मालाकार आदि तबलावादक, पं० शोभा राम अय्यर (कोयंबतूर) जैसे घटम् वादक, तथा ठाकुर लक्ष्मण सिंह, पं० सखाराम, पं० शम्भू पखावजी (बांदा) श्री रामदास जी, ठाकुर जगदीश सिंह 'दीन', श्री कृष्णदास पखावजी, पं० वासुदेव पखावजी आदि पखावज वादक उनके दरबार को शोभायमान करते थे। कुदऊ सिंह घराने के मृदगाचार्य अयोध्या वाले बाबा ठाकुरदास जी वर्षोंपर्यन्त रायगढ़ दरबार में रहे।

महाराज चक्रधर सिंह ने अनेक विद्वानों की सहायता से स्वयं संगीत के कई अमूल्य ग्रन्थों की रचना की। इन हस्तलिखित विशालकाय ग्रन्थों में 'राग रत्न मंजूषा', 'नर्तन सर्वस्व' 'ताल तोय निधि', 'ताल बल पुष्पाकर' तथा 'मुरज परन पुष्पाकर' प्रमुख है। 'ताल तोय निधि', 'ताल बल पुष्पाकर' तथा 'मुरज परन पुष्पाकर' लय और ताल के मूल्यवान हस्तलिखित ग्रन्थ हैं जो महाराजा चक्रधर सिंह जी के वंशज द्वारा आज भी सुरक्षित हैं।

'ताल तोय निधि' का वजन ३२ किलो ग्राम है। वह संस्कृत श्लोकों मे लिखा गया विशालकाय ग्रन्थ है। उसमें करीब २००० श्लोक हैं। भरत नाट्य शास्त्र, संगीत रत्नाकर तथा संगीत कलाधर आदि ग्रन्थों का आधार लेकर उसकी रचना की गयी है जिसमें दो से लेकर तीन सौ अस्सी मात्रा तक के तालों का तालचक्र सहित विशद वर्णन है।

महाराज चक्रधर सिंह ने इन ग्रन्थ लेखन का जो अनमोल कार्य किया है इसके पीछे उनके गुरुदेव ठाकुर लक्ष्मण सिंह जी पखावजी, पं० भगवान जी पाडेय, अयोध्या निवासी पं० भूषण महाराज तथा संस्कृत श्लोकों के लिए महामहोपाध्याय पं० सदाशिव दास शर्मा का बहुत बड़ा योगदान था। इन विद्वानों के सहयोग से ऐसे अमूल्य ग्रन्थों की रचना हो सकी।[३]

३. आधारित : (१) मध्यप्रदेश के संगीतज्ञ : प्यारेलाल श्रीमाल, रामपुर संभाग : पृष्ठ २८३ से ३०४।
(२) रायगढ़ के मृदंगाचार्य ठाकुर जगदीशसिंह दीन, नृत्याचार्य कार्तिकराम पं० फिरतू महाराज तथा दूसरे अनेक गुणी कलाकारों और विद्वानों रायगढ़ में ली गयी भेंट के आधार पर।

३. इन्दौर की दरबारी परम्परा

मध्य प्रदेश के रमणीय नगर इन्दौर को कला एवं साहित्य में समृद्ध करने का श्रेय इन्दौर के महाराजा शिवाजी राव होलकर को जाता है। देश के अनेक सुप्रसिद्ध कलाकार उनके दरबार में आश्रित थे। मृदंगकेसरी नाना पानसे उन्ही के दरबार के कलारत्न थे। काशी मे विद्याभ्यास पूर्ण करने के पश्चात् नाना पानसे जब इन्दौर पहुँचे तो वहाँ के शासक शिवाजी राव के स्नेह एवं सम्मान से इतने प्रभावित हुए कि विविध रियासतो के राजा-महाराजाओं से सतत आमत्रण मिलते रहने पर भी वे मरण-पर्यन्त इन्दौर दरबार को छोड़कर कही नहीं गये।

महाराजा शिवाजीराव के पश्चात् उनके सुपुत्र महाराजा तुकोजी राव होलकर गद्दीनशीन हुए। उनको अपने पिताजी से भी अधिक संगीत के प्रति प्रेम था, अतः सच्ची कद्रदानी के कारण उनके समय में इन्दौर शहर कलाकारो का तीर्थधाम बन गया था। होली के रंगोत्सव के अवसर पर वहाँ रंगपचमी से गुडीपड़वा के पर्व पर्यन्त एक बहुत बडे संगीत सम्मेलन का प्रतिवर्ष आयोजन होता था जो 'इन्दौर सभा' के नाम से सम्पूर्ण देश में विख्यात था। मैसूर का दशहरा और इन्दौर की होली देश भर में प्रसिद्ध थी। इस रगोत्सव में देश के कोने-कोने से कलावन्त आ करके 'इन्दौर सभा' में अपनी कला का प्रदर्शन किया करते थे। महाराज दत्तचित्त होकर रात्रि-रात्रि भर संगीत का रसपान किया करते थे।

ध्रुपद के डागुर घराने के प्रपितामह उ० बहेराम खाँ डागुर इन्दौर के रहने वाले थे अतः उ० नासिरुद्दीन डागुर वर्षों पर्यन्त इन्दौर दरबार के मुलाजिम रहे। उ० बन्देअली खाँ बीनकार, उनकी पत्नी गायिका चुन्नाबाई तथा शिष्य उ० मुराद खाँ बीनकार इन्दौर के दरबारी कलाकार न होते हुए भी सदैव तुकोजो राव जैसे गुणग्राही राजा के दरबार में अपनी कला का जौहर दिखाने आया करते थे।

महाराजा तुकोजी राव के दरबारी कलाकारों में ध्रुपदिये नासिरुद्दीन डागुर, पखावजी पं० सखाराम पन्त आगले, उ० बाबू खाँ बीनकार, उ० आबीद हुसेन खाँ बीनवादक तथा ध्रुपदिये उ० लतीफ खाँ बीनवादक, पं० केशव बुवा आप्टे (ध्रुपदिये), पं० माधवराव चोधुले हारमोनियम वादक, देवीदास (सूरदास), बुन्दु खाँ सारंगीवादक, इन्दौर की वज़ीर जान बाई, ग्वालियर की श्रीजान बाई, श्रीमती तारावाई शिरोडकर, बनारस की केसर बाई, नर्तकी हरिद्वारी बाई तथा तबलानवाज उ० मौला बख्श, उ० रहेमान खाँ एवं उ० जहाँगीर खाँ आदि उल्लेखनीय हैं।

हम देख चुके हैं कि नाना पानसे इन्दौर दरबार के अमूल्य कलारत्न थे। उन्होंने अपनी विद्वत्ता एवं प्रतिभा से मृदंग की कला एवं साहित्य को इतना समृद्ध किया कि उनसे मृदंग का एक पृथक् घराना ही प्रारम्भ हो गया जो नाना पानसे घराने के नाम से सुप्रसिद्ध हुआ है। आज भारत मे जो इने-गिने मृदगवादक उपस्थित हैं, उनमे पानसे घराने के कलाकारो का योगदान अमूल्य है।

नाना पानसे जी के पट्ट शिष्य पं० सखाराम पन्त आगले तथा उनके सुपुत्र पं० ' ' पन्त आगले महाराज तुकोजीराव के दरबारी कलाकार थे। इन्दौर दरबार के राज-

वैद्य पं० गोविन्द भाऊ राजवैद्य स्वयं कुशल पखावजी थे तथा नाना पानसे के प्रमुख शिष्यों में से थे। कहते हैं कि राजवैद्यजी पखावज के ऐसे अनन्य भक्त थे कि उनके वहाँ वैद्यक सीखने वाले विद्यार्थियों के लिये मृदंग सीखना अनिवार्य था। गोविन्द भाऊ राजवैद्य के चारों पुत्र तथा पौत्र आज भी मृदग साधना में निमग्न है तथा पानसे जी की परम्परा को गौरवान्वित कर रहे हैं।

महाराजा तुकोजीराव के दरबार में अनेक कलाकार अपनी कला का जौहर दिखाने आते थे, जिनमे पं० लक्ष्मणराव का उल्लेख अनिवार्य है। हैदराबाद दरबार के पं० वामनराव चांदवाडकर के छोटे भाई एवं शिष्य पं० लक्ष्मणराव मृदंग पुराण में अत्यन्त दक्ष थे। महाराज के दरबार में उनका मृदग पुराण अत्यत लोकप्रिय था। तुकोजीराव महाराज उनकी कला पर इतने मुग्ध थे कि वे उन्हे अपना दरबारी कलाकार नियुक्त करना चाहते थे, किन्तु योग साधना मे लीन होने के कारण भक्त प्रकृति के लक्ष्मणराव दरबारी सेवक नही हुए। उन्होंने अपने एक शिष्य देवीदास (सूरदास) को महाराज की सेवा में रखा दिया था। देवीदास भी कुशल कलाकार थे। वे मृत्युपर्यन्त इन्दौर मे ही रहे। तदुपरान्त श्रीमंत तुकोजीराव के दरबार में एक त्रिमूर्ति भी उन दिनों बहुत प्रसिद्ध थी जिनका गायन-वादन सुनने के लिये लोग लालायित रहा करते थे। वे थे केशवनारायण आप्टे (ध्रुपद गायक), सखाराम पंत आगले (मृदंगवादक) तथा माधवराव चौघुले (हारमोनियम वादक)।

सन् १९२६ के पश्चात् तुकोजी राव के सुपुत्र यशवन्त राव होलकर गद्दीनशीन हुए। नये महाराज संगीतप्रेमी तो थे किन्तु अपने पिता जैसे अनन्य संगीतानुरागी नही थे। अतः उनके समय में बहुत से कलाकार इन्दौर छोड़कर चले गये। मान्यतानुसार इन्दौर के बहुतेरे कलाकार इन दिनों हैदराबाद दरबार मे पहुँच गये थे।

जिस प्रकार पखावज के क्षेत्र में इन्दौर का अपना अनोखा स्थान है उसी प्रकार तबले के क्षेत्र में भी इन्दौर का योगदान महत्वपूर्ण है। दिल्ली के पास रियासत पटौडी में उ० नियामत खाँ सौ-डेढ़ सौ वर्ष पूर्व हुए थे। वे दिल्ली घराने के तबला वादक थे तथा इन्दौर आकर बसे थे। उनके सुपुत्र उस्ताद मुसाहिब खाँ साहब, इन्दौर संभाग के तबले के प्रमुख प्रचारक एवं गुरु माने जाते है। इन्हीं की शिष्य एवं वंश परम्परा इन्दौर के तबला जगत् पर अपना वर्चस्व रखती है। उ० मुसाहिब खाँ सुप्रसिद्ध खयाल गायक स्व० उ० अमीर खाँ के नाना होते थे। यद्यपि वे कुछ वर्ष तक हैदराबाद राज्य में भी मुलाजिम रहे परन्तु इन्दौर के साथ उनका गहरा संबंध सदैव बँधा रहा था। कहा जाता है कि मुसाहिब खाँ ने कुछ समय पर्यन्त हैदराबाद मे उ० हैदरअली खाँ से भी तबला सीखा था। मुसाहिब खाँ के तीन पुत्र तथा एक पुत्री थी। उनके दो पुत्र उ० बहादुर खाँ तथा उ० करमू खाँ ने तबले में काफी नाम कमाया। वे दोनो हैदराबाद राज्य के दरबारी कलाकार रहे थे। उनके तीसरे पुत्र उ० अल्लाउद्दीन खाँ सुप्रसिद्ध सारगी वादक थे। वे जावरा स्टेट के दरबारी कलाकार तथा वहाँ के नवाब इफ्तेखार अली के गुरु थे। उ० मुसाहिब खाँ के पौत्र उ० आज़ीम खाँ जावरावाले भारत-प्रसिद्ध कलाकार हुए। उनके पुत्र उ० निज़ामुद्दीन अपने पुत्र परिवार सहित इस परम्परा को सम्भाले हुए हैं।

उ० मुसाहिब खाँ ने कई उत्कृष्ट शिष्य तैयार किये थे, जिनमें सुप्रसिद्ध तबला-नवाज उ० मौला बख्श, उनके भाई उ० करीम बख्श (तबला-नवाज उ० मुनीरखाँ के पिता जो हैदराबाद में रहते थे), उ० रहेमान खाँ, उ० भूरे खाँ, उ० दल्लाजी, उ० शो बख्श खाँ तथा

पं॰ मुन्नालाल आदि प्रमुख हैं। पं॰ मुन्नालाल मुख्यतः पखावज वादक थे तथा नाना पानसे घराने के पं॰ सखाराम पंत आगले के शिष्य थे। उनके पुत्र चुन्नीलाल तथा पौत्र लक्ष्मी नारायण आज भी इस क्षेत्र में अग्रणी हैं।

तबला-नवाज़ उ॰ मौला बख्श के प्रमुख शिष्य एवं प्रशिष्यों में उदयपुर के उ॰ अब्दुल हाफ़िज खाँ, लखनऊ के प॰ सखाराम, पं॰ बालू भाई रूकड़ीकर, पं॰ नारायणराव इन्दौरकर, स्व॰ प॰ चतुरलाल तथा श्री माधवराव इन्दौरकर आदि प्रमुख हैं।

उ॰ रहमान खाँ की शिष्य परम्परा में उ॰ युसुफ खाँ, उ॰ अशरफ खाँ, उ॰ हाफ़िज खाँ उदयपुरवाले, उ॰ नज़ीर खाँ, उ॰ सुलेमान खाँ, पं॰ श्यामलाल, उ॰ फैयाज़ खाँ, उ॰ हिदायत खाँ, प्रोफेसर लालजी श्रीवास्तव (इलाहाबाद) आदि प्रमुख हैं।

उ॰ भूरे खाँ की परम्परा में पुत्र उ॰ अब्दुल्ला खाँ, पौत्र इस्माईल दद्दू खाँ, उ॰ धूलजी खाँ, उ॰ अजीज़ अहमद आदि प्रमुख हैं। उ॰ धूलजी खाँ ने गुरु उ॰ भूरे खाँ के उपरान्त पूरब घराने के खलीफा उस्ताद अबीद हुसेन खाँ के शिष्य पं॰ गंगाप्रसाद जी से भी सीखा था।

उ॰ मुसाहिब खाँ और उनके पिताजी उ॰ नियामत खाँ से चली आयी इन्दौर की यह तबला परम्परा अखिल भारतीय स्तर पर विख्यात है।

इन्दौर निवासी उ॰ जहाँगीर खाँ साहब पूरब घराने के मशहूर कलाकार तथा लखनऊ के उ॰ आबिद हुसेन खाँ के शिष्य थे। वे इन्दौर दरबार मे वर्षों तक सेवारत रहे। करीब सौ वर्ष की लम्बी उम्र में सन् १६७६ में इन्दौर में ही उनका देहान्त हुआ। उनसे तालीम प्राप्त करके अनेक शिष्य इन्दौर में तैयार हुए हैं जिनमें उ॰ हाफ़िज खाँ उदयपुर वाले, प॰ चतुरलाल, पं॰ नारायण राव इन्दौरकर, उ॰ महबूब खाँ मिरजकर (पुणे), श्री शरद खरगोनकर, श्री दीपक गरुड़, श्री रवि दाते आदि प्रमुख हैं।

४. ग्वालियर की परम्परा

साहित्य, संगीत एवं अन्य ललित कलाओं का, शताब्दियों तक ग्वालियर गढ़ रहा है। ग्वालियर के तोमर वंश के महाराजा मानसिंह (ई. स. १४८६ से १५१८) स्वयं उच्चकोटि के संगीतज्ञ थे। ध्रुपद शैली को प्रचार में लाने का श्रेय उन्हीं को जाता है। देश के कई प्रसिद्ध गायक-वादक इनके दरबार को सुशोभित करते थे। अपने दरबारी कलाकारों की सहायता से राजा मानसिंह ने 'मान कुतूहल' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। उनकी गुर्जरी रानी मृगनयनी भी अच्छी कलाकार थीं, जिनके नाम से गुर्जरी तोड़ी राग प्रसिद्ध है।

मुग़ल बादशाह अकबर के दरबारी गायक मियाँ तानसेन की जन्मभूमि ग्वालियर थी। उनकी समाधि ग्वालियर में ही है जहाँ प्रत्येक वर्ष संगीत महोत्सव में संगीतकारों का मेला लगता है।

अठारहवीं शताब्दी के पश्चात् ग्वालियर पर सिंधिया राजाओं का राज्य हुआ। वे कला के पारखी एवं कलाकारों के सच्चे कद्रदान थे, अतः अनेक उच्चकोटि के संगीतकारों का वहाँ उदय हुआ। इनमें से कुछ कलाकार ग्वालियर दरबार के आश्रित थे, कुछ लोग ग्वालियर के निवासी थे, कोई राजाओं के आमंत्रण से अपनी कला पेश करने आते थे तो कोई ग्वालियर दरबार की कीर्ति गाथा सुन करके अपने आप चले आते थे। पिछली पाँच छः-सदियों से

उच्चकोटि के सैकड़ों कलाकार ग्वालियर में हो गये हैं जिनमें बड़े मोहम्मद खाँ, उ० नत्थन पीरबख्श, उ० हद्दू खाँ, उ० हस्सू खाँ, उ० नत्थे खाँ, उ० निसार हुसेन खाँ, उ० रहेमत खाँ, उ० छोटे मोहम्मद खाँ, उ० बन्देअली बीनकार, एकनाथ पंडित, शंकरराव पण्डित, कृष्णराव पंडित, पंडित विष्णु दिगम्बर के गुरु पंडित रामकृष्ण बुवा झ्वलकरंजीकर, उ० हाफिज अली खाँ, अमीर खाँ सितार वादक, सादत खाँ सरोदवादक, गुलाम अली सरोदवादक, पंडित अनन्त मनोहर जोशी, पंडित बालकृष्ण शास्त्री, पंडित भैया जोशी, प्रो० नारायण लक्ष्मण गुणे, भैया साहब मावलंकर, पंडित राजा भैया पूंछवाले, बाला साहेब पूंछवाले, कृष्णराव दाते, केशवराव सुरगे तथा तबला-पखावज के क्षेत्र में सर्वश्री पंडित जोरावर सिंह, सुखदेव सिंह, गणेश उस्ताद, दयानंद उस्ताद, दाताराम उर्फ दान सहाय, पर्वत सिंह, माधव सिंह, विजय सिंह, गोपाल सिंह, मिट्ठू खाँ तबलावादक आदि प्रमुख हैं। ग्वालियर के पूर्वदिये पं० नारायण स्वामी तो इतने श्रेष्ठ कलाकार थे कि उन्होंने मृदंग सम्राट् कुदऊ सिंह महाराज को परास्त कर दिया था, ऐसा उल्लेख मिलता है।[५]

सुप्रसिद्ध मृदंगाचार्य कुदऊसिंह सिंधिया राज के आमंत्रण से प्राय: दतिया से ग्वालियर चले आते थे और कुछ वर्षों तक तो वे ग्वालियर में रहे भी किन्तु दतिया महाराज के साथ उनके सम्बन्ध आजीवन रहा।

महाराजा दौलतराव सिंधिया, महाराजा जनकोजी राव सिंधिया, महाराज माधवराव सिंधिया तथा महाराजा जीयाजीराव सिंधिया संगीत के परम अनुरागी थे। इन सबकी व्यक्ति-गत रुचि के कारण ग्वालियर में कलाकारों को सदैव प्रोत्साहन मिला, तथा धन, सम्मान एवं कीर्ति प्राप्त हुई। गायक उ० नत्थे खाँ को महाराज जीयाजीराव ने अपना गुरु मानकर उनको 'राजगुरु' के पद से सम्मानित किया था।

मृदंगाचार्य कुदऊसिंह के समकालीन सुप्रसिद्ध पखावजी तथा तबलावादक जोरावरसिंह जी महाराजा जनकोजीराव सिंधिया के शासन काल में ग्वालियर आकर आजीवन ग्वालियर दरबार के आश्रित कलाकार रहे। वे अत्यन्त कुशल संगतकार माने जाते थे। उन्नीसवीं शताब्दि के उत्तरार्ध में वे स्वर्गवासी हुए। पं० जोरावर सिंह की वंश परम्परा ग्वालियर में ही फली-फूली। उनके पुत्र सुखदेव सिंह तथा पौत्र पर्वतसिंह अपने समय के महान् कलाकार सिद्ध हुए। वे दोनों सिंधिया राजाओं के आश्रित कलाकार थे। उ० हाफिज अली खाँ के सरोद तथा पं० पर्वतसिंह के पखावज की जोड़ी देश भर में प्रसिद्ध थी। उनके तीनों पुत्र माधवसिंह, विजय-सिंह तथा गोपालसिंह भी अपने पूर्वजों के पदचिन्हों पर अग्रसर हैं।

इस परिवार की शिष्य परम्परा में पं० नारायण प्रसाद दीक्षित अग्निहोत्री, पुत्र व्यंकटराव, पौत्र शकरराव तथा शिष्य गणपतराव के नाम भी उल्लेखनीय हैं। पं० नारायण प्रसाद जी पखावज के उद्भट विद्वान् थे।

इस अग्निहोत्री परिवार के अतिरिक्त इस परम्परा में पं० रामप्रसाद, उनके पुत्र पं० कान्ताप्रसाद तथा तबलावादक उ० मिट्ठु खाँ आदि भी उच्च कोटि के कलाकार हुए। यह सभी कलाकार सिंधिया दरबार से सम्बन्धित थे। इसी परम्परा में रामाराव काटे का नाम भी मिलता है।

---

५. मध्य प्रदेश के संगीतज्ञ : ग्वालियर : पृ० १६६-१७८ : प्यारेलाल श्रीमाल।

श्री जोरावर सिंह की परम्परा के साथ ही एक दूसरी तबला-पखावज की स्वतंत्र परम्परा भी पिछली एक सदी से चली आ रही है जो गणेश उस्ताद की परम्परा के नाम से प्रसिद्ध है। ग्वालियर के पं० गणेश उस्ताद (गणेशी उस्ताद) उनके पुत्र दयाराम उस्ताद, दयाराम के भानजे पं० दायाराम उर्फ दानसहाय आदि कुशल तबला व पखावज वादक हो गये हैं, जो ग्वालियर के श्रीमंत जनकोजीराव, श्रीमंत माधवराव तथा श्रीमंत जीयाजीराव के दरबार के कलाकार थे। आज भी इनकी परम्परा मे दानसहाय के पुत्र नारायणप्रसाद रतौनिया तथा पौत्र रामस्वरूप रतौनिया तथा भोगीराम रतौनिया अपना उत्तरदायित्व निभा रहे है।

श्रीमंत माधवरावजी सिंधिया अत्यन्त कलाप्रेमी थे। उन्होंने संगीत के ग्रन्थों का निर्माण, संगीत सम्मेलनो का आयोजन तथा विद्यालयो के संस्थापन में गहरी रुचि लेकर अनेक रचनात्मक कार्य किये। 'मारिफुन्नग़मात' के लेखक राजा नवाबअली के गुरु पं० बलवन्तराय शिन्दे माधवराव महाराज के ही आश्रित कलाकार थे। श्रीमंत माधवरावजी ने सन् १९१८ ई० में संगीत गुरु पं० विष्णु नारायण भातखण्डे की प्रेरणा से ग्वालियर में माधव संगीत महाविद्यालय की नीव डाली, जो संगीत की तत्कालीन परिस्थिति में एक महत्वपूर्ण घटना कही जा सकती है। आज भी यह महाविद्यालय ग्वालियर में कार्यरत है।

बीसवी सदी के पूर्वार्द्ध में पं० भातखण्डे की प्रेरणा से श्री मनोहर सदाशिव आफले अग्निहोत्री ने 'ताल प्रकाश' नामक तबले की एक पुस्तक की रचना की थी। श्री अग्निहोत्री स्वयं तबला वादन में कुशल थे। आज भी उनके परिवार में यह विद्या संचित है।

आधुनिक काल के ग्वालियर के उदीयमान तबला वादको मे श्री राजेन्द्र प्रसाद (रज्जन), उनके भाई सज्जनलाल, उ० फैयाज खाँ, उमेश कम्पुवाला, तथा मुकुन्द भाले के नाम उल्लेखनीय हैं।[६]

५. दतिया की राज परम्परा

सत्रहवी शताब्दी के अंत में बुन्देलखण्ड प्रदेश जब अनेक रियासतों में बँट गया तब दतिया रियासत की, स्वतन्त्र इकाई के रूप में स्थापना हुई। तब से संगीत की परम्परा में एक नवीन मोड का उदय हुआ तथा पखावज के क्षेत्र में एक नवीन इतिहास का प्रारम्भ हुआ। वैसे भी बुन्देला नरेश कलाप्रेमी थे। बुन्देलखण्ड के सभी राज दरबारो में कला और कलाकारों के आश्रय का प्रबन्ध था, किन्तु दतिया नरेशो का कला प्रेम तो सविशेष था। सन् १९४८ ई० में दतिया राज्य का विन्ध्यप्रदेश में विलीनीकरण हुआ। तब तक के दो सौ से अधिक वर्षों का इतिहास वहाँ के राजाओं की कलाभक्ति का उज्ज्वल उदाहरण है। महाराजा विजय बहादुरसिंह (मृत्यु सन् १८५७ ई.), महाराजा भवानीसिंह (सन् १८५७ से सन् १९०७) तथा महाराजा गोविन्द सिंह (सन् १९०७ से सन् १९४८ तक) के राज्य काल के दरमियान संगीत कला का चौमुखा विकास हुआ था। पखावज के क्षेत्र में तो कुदऊसिंह पखावजी तथा दतिया महाराजा भवानीसिंह का नाम संगीत के इतिहास मे स्वर्ण अक्षरों से लिखा जायेगा।

संगीत कला की दृष्टि से दतिया में महाराजा भवानीसिंह का शासन काल (सन् १८५७

६. माधव संगीत विद्यालय के प्राचार्य, आचार्य एवं संगतकारो की मुलाकातों के आधार पर तथा ग्वालियर के पं० कृष्णराव शंकर पंडित, प० रामकृष्ण अग्निहोत्री तथा नारायण प्रसाद रतौनिया की मुलाकातो पर आधारित।

से १८०७ ई०) सर्वोत्तम काल कहा जा सकता है। उनके दरबार में अनेक कलाकारों का उल्लेख मिलता है।

दतिया दरबार का संगीत विभाग 'महकमा अरबाब निशात' के नाम से प्रसिद्ध था, जिसमें अनेक गायक वादक सेवारत थे। इन कलाकारों में श्री कमलापति, श्री ग्वारिया बाबा, उस्ताद भीखन खाँ, पंजाबी बाबा, नारायण दास, श्री गुल्ला नर्तक, श्री चुन्नीलाल मास्टर, उस्ताद रज्जू खां, उस्ताद प्यार खां, गायिका फ़ैजबख्श, नृत्याचार्य मोहनलाल जी, पं० छुद्दू गोसाई, गायिका सक्का (शक्करबाई), सितार वादक रामदयाल, लालमणि पंडा, मृदंग सम्राट् कुदऊसिंह महाराजा, जानकी प्रसाद मृदंगवादक, बलवान पखावजी, पर्वत पखावजी, नन्दू पखावजी, उसके पुत्र रघुवर, पौत्र रज्जत, धन्नु उस्ताद तबलावादक आदि के नाम प्रमुख हैं।

महाराज भवानी सिंह के दरबारी कलारत्न मृदग सम्राट् कुदऊसिंह जैसा समर्थ वादक सदियों में पैदा होते हैं। माँ जगदम्बा की उन पर बेहद कृपा थी। उनके मृदंगवादन की अनेक चमत्कारपूर्ण कथाएँ प्रसिद्ध हैं। उनके द्वारा मदमस्त हाथी के समक्ष गज परण बजाकर उसे वश मे कर देने की किंवदन्ती आज भी जनश्रुति में सुरक्षित है। उनके वादन में जो स्फूर्ति तथा माधुर्य था, उनकी प्रस्तुतीकरण शैली में जो नवीनता थी तथा उन्होंने जो विशाल शिष्य समुदाय उत्पन्न किया था उसी के फलस्वरूप उनकी मृत्यु के पश्चात् उनके नाम से एक नवीन घराना ही चल पड़ा। आज पखावज के जो इने-गिने कलाकार भारत मे मौजूद है, उनमें कुदऊसिंह घराने का योगदान प्रमुख है।

६. रीवाँ दरबार की परम्परा

संगीत परम्परा मे रीवाँ राज्य का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। दिल्ली जा रहे मिया तानसेन की डोली को रीवाँ के रसिक राजा रामचन्द्र जू देव द्वारा कन्धा लगाने की ऐतिहासिक घटना सर्व विदित है।

सन् १८३३ ई० में महाराजा विश्वनाथ सिंह जू देव राजगद्दी पर बिराजे। वे संगीत के रसिक ही नहीं, स्वयं अच्छे संगीतज्ञ एवं साहित्यकार थे। उनका राज पुस्तकालय 'सरस्वती पुस्तक भण्डार' बहुत प्रसिद्ध था। उन्होंने 'संगीत रघुनन्दन' नामक एक संगीत ग्रन्थ की रचना की थी। देश के अनेक उत्कृष्ट कलाकार उनके दरबार को सुशोभित करते थे, जिनमे गायक बड़े मोहम्मद खाँ (ग्वालियर दरबार के भी कलाकार रहे), उ० बख्तावर खाँ ध्रुपदिये, साधुबाबा तथा उ० प्यार खाँ के नाम उल्लेखनीय हैं। उ० प्यार खाँ उत्तमकोटि के कलाकार थे, जिन्हे लखनऊ के नवाब वाजिदअली शाह के गुरु होने का सम्मान भी प्राप्त हुआ था।

तत्पश्चात् के महाराजा रघुराजसिंह जू देव का राज्यकाल भी संगीत की दृष्टि से गौरवशाली रहा है। बड़े मोहम्मद खाँ के पुत्र मुनव्वर खाँ तथा प्रसिद्ध सुरबहार वादक दिलावर खाँ—करमअली खाँ की जोड़ी उनके दरबार में आश्रित थी। उ० दिलावर खाँ तथा उ० करमअली खाँ तत्कालीन वाद्यकारों में अद्वितीय माने जाते थे।

महाराजा रघुराजसिंह के पश्चात् महाराजा गुलाब सिंह एवं महाराजा मार्तण्डसिंह जू देव का समय आया। इन दोनों ने भी अपने वंश के परम्परागत संगीत संस्कार को यथावत् कायम रखा।

७. मैहर राज्य की संगीत परम्परा

मध्य प्रदेश का मैहर राज्य विश्वविख्यात है। संगीत शिरोमणि बाबा उ० अलाउद्दीन खाँ की कर्मभूमि बने रहने के कारण मैहर अब संगीत एवं संगीतकारों का तीर्थस्थान बन गया है। उ० अली अकबर खाँ, पं० रविशंकर, श्रीमती अन्नपूर्णादेवी, पं० निखिल बनर्जी इत्यादि सैकड़ों महानुभावों का उदय स्थान होने के कारण मैहर विश्व में आकर्षण का केन्द्र है।

जीवन की घोर समस्याओं एवं कष्टों का सामना करके तथा अपनी दीर्घ साधना के द्वारा संगीत पर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लेने के पश्चात् बाबा अलाउद्दीन खाँ अपने गुरु उस्ताद वजीर खाँ की अनुमति से देश का भ्रमण करने निकले। भारत के विविध संगीत सम्मेलनों में कीर्ति अर्जित करने के पश्चात् वे महाराजा वृजनाथ सिंह का राजाश्रय प्राप्त करके मैहर आये और सदा के लिए मैहर के ही होकर रह गए।

उ० अल्लाउद्दीन खा ने वायोलिन, शहनाई, बंसी, सरोद, पाश्चात्य संगीत, स्टाफ नोटेशन एवं गायकी की विस्तृत तालीम अनेक विद्वान् कलागुरुओं से प्राप्त की थी, किन्तु यहाँ हम उनकी तबला तथा पखावज की साधना के विषय पर ही चर्चा करेंगे।

उ० अल्लाउद्दीन खा ने तबले की शिक्षा अपने अग्रज उ० आफताबुद्दीन खाँ उर्फ फकीर-साहब से तथा स्वामी विवेकानन्द के बड़े भाई श्री अमृतलाल दत्त उर्फ हृब्योदत्त से पायी थी। पखावज की तालीम उ० अल्लाउद्दीन खाँ ने पथुरियाघट के राजा जोगेन्द्र मोहन टैगोर के दरबार के पखावजी पं० नन्दीभट्ट से पायी थी जो स्वयं उत्कृष्ट मृदंगवादक श्री मुरारीमोहन गुप्त के शिष्य थे।

राजा वृजनाथ सिंह संगीत के सच्चे रसिक थे। वे उस्ताद अल्लाउद्दीन खाँ के गडाबद्ध शिष्य थे। वे अपने विद्वान् उस्ताद को बहुत प्यार करते थे। उ० अल्लाउद्दीन खाँ की विविध संगीत प्रवृत्तियों में महाराज साहब का हार्दिक सहयोग एवं प्रोत्साहन रहता था। बाबा द्वारा प्रस्थापित मैहर का ऐतिहासिक संगीत विद्यालय विद्यार्थियो का छात्रावास एवं छात्रवृत्तियों का प्रबन्ध तथा मैहर बैण्ड के विकास एवं प्रगति के पीछे महाराज वृजनाथ सिंह का योगदान भी अनन्य था।

मैहर के राज दरबार में संगीत के कार्यक्रम नियमित हुआ करते थे, जिनमें बाबा अल्लाउद्दीन खाँ, उनके पुत्र-परिवार तथा शिष्यगण तथा देश के अनेक कलाकार भी आमन्त्रित किये जाते थे। तबला के क्षेत्र में बाबा के शिष्य उ० फूलझड़ी का नाम भी उल्लेखनीय है। फूलझड़ी खाँ का मूल नाम मारसूल था, किन्तु उनके हाथ से फूलझड़ी की भांति निखरते हुए तबले के बोल सौंदर्य से[८] प्रभावित होकर मैहर नरेश ने उन्हें फूलझड़ी खाँ की उपाधि से सम्मानित किया था।

संगीतानुरागी कुछ छोटी रियासतें

८. छरी

मध्य प्रदेश के कतिपय जमींदारों का संगीत के विकास में उल्लेखनीय सहयोग रहा है,

---

[८] उ. अल्लाउद्दीन खाँ की सुपुत्री श्रीमती अन्नपूर्णा देवी की मुलाकात पर आधारित

जिनमें छुरी के जमीदार श्री महेन्द्रपाल भी एक थे। वे संगीत के ज्ञाता तथा कलाकारों के आश्रयदाता थे। सुप्रसिद्ध मृदंगाचार्य मुंशी भृगुनाथ लाल वर्मा जी के 'ताल मजरी', 'वंसी मंजरी' तथा 'सगीत विनोद' आदि ग्रन्थों की रचना में जमींदार श्री महेन्द्र पाल का काफी सहयोग रहा।

९. मुलमुला

मुलमुला के जमींदार श्री मानसिंह स्वयं अच्छे तबलावादक थे। उनके वहाँ अनेक कलाकार आते-जाते रहते थे। मुलमुला में श्री मानसिंह तथा प० बलदाऊ प्रसाद त्रिपाठी प्रसिद्ध तबलावादक थे। श्री मानसिंह के शिष्यों में श्री रामलाल शुक्ल का नाम उल्लेखनीय है।

१०. किंकरदा

किंकिरदा गाँव के जमीदार ठाकुर श्रीधर सिंह संगीत के कद्रदान व्यक्ति थे। उनके सुपुत्र ठाकुर महेन्द्रप्रताप सिंह तबले के कलाकार हैं। ठाकुर महेन्द्रप्रताप सिंह ने तबले की तालीम रायगढ़ के सुप्रसिद्ध मृदगाचार्य ठाकुर जगदीश सिंह 'दीन' तथा उनके पुत्र ठाकुर वेदमणि सिंह से प्राप्त की है।

११. हैदराबाद दरबार की तबला परम्परा

सगीत के प्रति हैदराबाद के निजामों की जानकेशानी और कद्रदानी सुविख्यात है। वहाँ गुणग्राही निजामो ने सगीतकारो को सदा आश्रय दिया तथा बाहर से कलाकारों को आमंत्रित करके उनकी कला का सम्मान किया। इस प्रकार संगीत के विकास तथा कलाकारों की उन्नति मे हैदराबाद का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। तबले के कलाकारों का तो वह मुख्य अड्डा रहा है। अनेक उत्कृष्ट तबला-वादक निजाम दरबार मे अपनी कला के प्रदर्शन के लिये उत्सुक रहते थे।

इन्दौर में सन् १६२६ ई० में जब महाराज यशवन्तराव (महाराजा तुकोजीराव के पुत्र) गद्दी पर बैठे तब बहुत से कलाकारों ने इन्दौर छोड़कर हैदराबाद दरबार का आश्रय लिया था।

इन्दौर के उ० मुसाहिब खाँ कुछ समय के लिये हैदराबाद आये थे और उन्होंने उ० हुसैन बख्श (हैदर खाँ) से कुछ तालीम भी प्राप्त की थी। उ० मुसाहिब खाँ निजाम दरबार में कुछ समय तक मुलाजिम भी रहे। बाद में वे इन्दौर वापस चले गये थे। उनके दोनो पुत्र उ० बहादुर खाँ और उ० करमु खाँ निजाम दरबार के आजीवन कलाकार रहे। उ० मुसाहिब खाँ के प्रमुख शिष्य उ० मौला बख्श भी हैदराबार दरबार में कुछ समय तक रहे। उनके भाई करीम बख्श बाद में हैदराबाद के ही निवासी हो गये, जो सुप्रसिद्ध तबलानवाज उ० मुनीर खाँ के पिता थे। यही कारण है कि उ० मुनीर खाँ हैदराबाद मे बहुत समय तक रहे और उनके अनेक शिष्य आये दिन वहाँ आते रहते थे जिनमें उ० अहमदजान थिरकवा तथा उ० अमीर हुसैन खाँ आदि प्रमुख थे। उ० अमीर हुसैन खाँ तो हैदराबाद के ही रहने वाले थे। वे उ० मुनीर खाँ के भान्जे थे। वैसे उनका कर्मस्थल बम्बई रहा, किन्तु अपने जन्म स्थान हैदराबाद में लम्बे अर्से तक रहे। उ० मुनीर खाँ, उ० थिरकवा खाँ तथा अमीर हुसैन खाँ के कारण उस बाज का प्रचलन हमें आज भी हैदराबाद में देखने को मिलता है।

हैदराबाद दरबार में सहारनपुर के उ० बुन्दू खाँ के सुपुत्र तबलानवाज़ उ० जंगबख्श खाँ आश्रित कलाकार थे। उनके गुण की चर्चा तथा कला की प्रशंसा उ० थिरकवा खाँ तथा उ० अमीर हुसैन खाँ किया करते थे।

मृदंगवादक नाना पानसे के प्रमुख शिष्य पं० वामनराव चाँदवडकर भी निज़ाम दरबार के प्रमुख कलाकार रह चुके हैं। वे तबले के सिद्धहस्त कलाकार थे। पानसे जी ने चाँदवडकर को मुख्यत: तबले की ही शिक्षा दी थी। श्री जगन्नाथ राव भी निज़ाम के प्रिय कलाकार थे। वे हारमोनियम वादन मे तो सिद्धहस्त थे ही तबला की उत्तम जानकारी भी उन्होंने श्री० वामनराव चाँदवडकर के शिष्यत्व में ग्रहण की थी। तदुपरान्त पं० वामनराव के छोटे भाई और शिष्य प० लक्ष्मणराव भी दक्ष कलाकार माने जाते थे। वे मृदंगपुराण में निष्णात थे। पौराणिक कथाओं को वे मृदंग पर प्रस्तुत करते थे। निज़ाम के दरबारी कलाकार न होते हुए भी वे निज़ाम के कृपापात्र थे। उनका मृदगपुराण हैदराबाद में ही नही दूसरी रियासतों में भी लोकप्रिय थी। इन्दौर दरबार के श्रीमत तुकोजीराव समय-समय पर उनको आमन्त्रित किया करते थे। अत: हैदराबाद की तरह ही इन्दौर तथा उसके आसपास के प्रदेशों में वे बहुत लोकप्रिय हो चुके थे। यद्यपि महाराज तुकोजीराव उनको अपने दरबार में नियुक्त करना चाहते थे तथापि साधु प्रकृति के लक्ष्मणराव इस बधन में नही बंधना चाहते थे। अत: उन्होंने अपने एक सूरदास शिष्य को दरबार में नियुक्त कराकर सन्यास ग्रहण कर लिया था।

प० वामनराव चाँदवडकर के एक शिष्य श्री गुरुदेव पटवर्धन थे जो पखावज सीखने के हेतु हैदराबाद आकर बस गये थे। पं० गुरुदेव, पं० विष्णु दिगम्बर जी के समकालीन एवं घनिष्ठ मित्र थे। एक अच्छे कलाकार के साथ-साथ वे बहुत अच्छे शिक्षक भी थे। प० विष्णु दिगम्बर पलुस्कर के शिक्षण कार्य में उनका भी योगदान रहता था।

हैदराबाद निवासी पं० मार्तण्डराव, श्री चाँदवडकर के तीसरे शिष्य थे। तबला तथा पखावज दोनों पर उनका प्रभुत्व था। वे लयकारी मे निष्णात थे तथा ताल की कठिन बातों को वे जानते थे। उन्होंने अपने भानजे रगनाथ काले को सिखाया था, जो 'हैदराबाद म्यूजिक एन्ड डान्स कॉलिज' के प्राध्यापक रहे। पडित मार्तण्डबुवा के दूसरे शिष्य श्री रगनाथ बुवा देगलुरकर यद्यपि अंबेजोगाई (महाराष्ट्र) के निवासी थे, वे लम्बी अवधि तक निजाम के दरबारी कलाकार थे और वे भी लयकारी में निष्णात थे।

प्राप्त जानकारी के अनुसार हैदराबाद दरबार में एक स्त्री पखावज वादिका थी, जिनके विषय में सुश्री केसरबाई केलकर ने श्री वामनराव देशपाण्डे को एक रोचक घटना सुनायी थी। मुझे श्री वामनराव देशपाण्डे के स्वमुख से उस घटना को सुनने का सौभाग्य प्राप्त है, जो कुछ इस प्रकार है—लगभग पचास-पचपन वर्ष पूर्व की बात है। एक बार श्रीमती केसरबाई निज़ाम के आमंत्रण से अपना गायन पेश करने हैदराबाद गयी हुई थीं। गायन की समाप्ति पर उन्हे पता चला कि निज़ाम के ज़नानखाने मे एक बहुत ही वृद्धा किन्तु अत्यत गुणी महिला पखावज वादिका हैं जो बेगमों को पखावज सुनाती है, सिखाती हैं तथा दरबार के कलाकारों की साथ-संगत भी करती हैं। केसरबाई ने तुरन्त उस महिला से मिलने की इच्छा प्रगट की। मिलने से पता चला कि वे अति वृद्धा हो चुकी है और पखावज बजाने मे असमर्थ हैं। केसरबाई को उनका पखावज सुनने की बहुत इच्छा थी, किन्तु वृद्धावस्था के कारण उनकी शक्ति क्षीण हो चुकी थी। अत: वे बजा नहीं सकीं। किन्तु उन्होंने पखावज को अनेक सुन्दर परनें पढ़ कर

सुनायी जिससे केसरबाई मंत्रमुग्ध हो गयी। केसरबाई के कथनानुसार वह महिला पखावजी, मृदंगाचार्य नाना पानसे जी की सुपुत्री थी। यद्यपि हमारे पास ऐसा कोई प्रमाण नहीं है जो सिद्ध करे कि वे नाना पानसे की ही पुत्री थीं तथापि ऐसी उच्च कोटि की महिला कलाकार हैदराबाद दरबार में मौजूद थीं, यह हकीकत, वहाँ के निज़ाम के कलाप्रेम तथा उनकी गुणग्राही दृष्टि का, तथा भारत मे महिलायें भी वर्षों से तबला तथा पखावज बजाती चली आ रही हैं, इस तथ्य का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

हैदराबाद दरबार की एक दूसरी तबला परम्परा भी काफी प्रसिद्ध है जिसका सिलसिला आज भी मौजूद है। उ० तानरस खाँ के समकालीन उ० हुसेन बख्श, निज़ाम दरबार के तबला नवाज हो गये हैं। वे फरुक्खाबाद घरानें के सस्थापक हाजी विलायत अली के दामाद एवं शिष्य थे। उनके गुण की चर्चा अनेक गुणीजनों के मुख से सुनने को मिली है। उ० हुसेन बख्श औलिया प्रकृति के मस्त कलाकार थे। उनके हाथो मे इतना माधुर्य था कि जब वे तबला वादन करते थे तब मानो कोई गा रहा हो ऐसा आभास होता था। इसीलिये निज़ाम को उनका तबला बहुत प्रिय था। निज़ाम के आदेशानुसार मियां हुसेन बख्श उनके शयनकक्ष के पास बैठकर पूरी रात तबला बजाया करते थे और उनका तबला सुनते-सुनते निज़ाम सो जाया करते थे।

खाँ साहब अत्यन्त भोले और अनपढ़ व्यक्ति थे, किन्तु ईश्वर के प्रति उनका अनुराग अनन्य था। कहते है कि रास्ते में चलते-चलते पैरों तले आने वाले प्रत्येक कागज के टुकड़े वे इसलिये उठा-उठा कर नदी में बहा देते थे कि पता नही किस पर अल्ला का नाम लिखा हो। अतः लोग उन्हे बावला समझते थे। निज़ाम को अपने इस फकीर कलाकार पर बड़ा नाज़ था। हुसेन बख्श ने अपने दामाद अल्लाउद्दीन खाँ (जिन्हें अल्लादिया खाँ भी कहा जाता है) को शिक्षा दी थी। वे भी अपनी कला में बहुत निपुण थे। हुसेन बख्श और अल्लाउद्दीन खाँ की शिष्य परम्परा से हैदराबाद में तबले का काफी प्रचार हुआ। आज भी यह परम्परा जीवित है। उ० अल्लादिया खाँ भी अपने ससुर की तरह निज़ाम के आश्रित कलाकार थे। उनके दोनों पुत्र उ० मोहम्मद खाँ तथा उ० छोटे खाँ ने तबले के क्षेत्र में काफी नाम कमाया। इन दोनों भाइयों के अनेक शिष्य आज भी हैदराबाद में हैं।

आजकल इस घरानें के शिष्य शेख दाऊद खाँ का नाम भारत भर में प्रसिद्ध है। शेख दाऊद खाँ ने लम्बे काल तक उस्ताद अल्लाउद्दीन खाँ, उस्ताद मोहम्मद खाँ, तथा उस्ताद छोटे खाँ से शिक्षा पायी है। उनके पुत्र शब्बीर निस्सार खाँ भी तबला वादन में दक्षता प्राप्त कर रहे हैं। उस्ताद दाऊद के प्रमुख शिष्यों में हैदराबाद म्यूज़िक कालेज के प्राध्यापक श्री नन्दकुमार भाटलोदे, जबलपुर के श्री किरण देशपाण्डे, मद्रास के श्री विश्वमूर्ति तथा श्री राम जाधव, विजयवाडा के श्री प्रभाकर, बंगलौर के श्री गौरग कोडीकल गुरु नन्दन, मैसूर के श्री पी० बालकिशन, औरंगाबाद के श्री विजयकुमार अहेरकर, लातुर के श्री रविन्द्र कुलकर्णी, हैदराबाद के सर्वश्री लक्ष्मैया, ओमकार प्रसाद, केसैया, देहरादून के विजय कृष्ण तथा अमेरिका के डेविड कोर्टनी आदि प्रमुख हैं।[१]

---

१. गवर्नमेन्ट कालेज ऑफ़ म्यूज़िक एन्ड डान्स, हैदराबाद के प्राचार्य, आचार्य एवं उस्ताद मोहम्मद खाँ, तथा उस्ताद छोटे खाँ के शिष्यों तथा उस्ताद शेख दाऊद खाँ की मुलाकातों के आधार पर।

राजस्थान की दरबारी परम्पराएँ

१२. जयपुर दरबार की परम्परा

राजस्थान की कलात्मक भूमि ने हमारी अनेक ललित कलाओं को सुविकसित होने का अवसर दिया है। वहाँ के राजा-महाराजाओं ने सदियों से कला और कलाकारों का पोषण किया है तथा उन्हें प्रोत्साहन देकर संगीत को जीवित रखने का उत्तरदायित्व निभाया है। वहाँ की राजधानी जयपुर का संगीत के क्षेत्र में महत्वपूर्ण स्थान है। गायन, वादन, नृत्य इन तीनों कलाओं का अभ्यास, विकास एवं संरक्षण वहाँ होता आया है। अतः संगीत के विकास में जयपुर घरानें का अपना महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

जयपुर दरबार का गुणीजन खाना

जयपुर राज्य के कलाकारों का एक दिलचस्प इतिहास है और वहाँ का 'गुणीजन खाना' उसकी एक महत्वपूर्ण कड़ी है। आज भी जयपुर दरबार के राजकीय पुस्तकालय में 'गुणीजन खाने' का इतिहास सुरक्षित है जो जयपुर घराने की परम्परा पर महत्वपूर्ण प्रकाश डालता है।[१०]

ऐतिहासिक तथ्यानुसार सन् १७२७ ई० में सवाई जयसिंह द्वारा जयपुर अथवा जयनगर की स्थापना हुई। इसके पूर्व वहाँ की राजधानी आमेर थी। राजा मानसिंह (सन् १५६० से सन् १६१५ तक) के राज्य काल में ध्रुपद गायकी एवं पखावज वादन का आमेर में काफी प्रचार था। उनके भाई राजा माधोसिंह भी कला संस्कृति के पोषक थे। महाराजा सवाई प्रतापसिंह के समय मे तो 'गुणीजन खाने' की अभूतपूर्व प्रगति हुई थी। महाराज स्वयं कवि एवं गायक थे। उनके गुरु उ० चाँद खाँ गुणीजन खाने के प्रधान कलाकार थे। सवाई प्रतापसिंह के उत्तराधिकारी सवाई रामसिंह का शासनकाल 'गुणीजन खाने' का स्वर्ण काल माना जाता है, वे उ० रजबअली खाँ के शिष्य थे।

जयपुर का ऐतिहासिक 'गुणीजन खाना' देश भर में अपने आप में एक था। देश के सैकड़ों कलाकार जयपुर दरबार के गुणीजन खाने में आदर-सम्मान पाते थे। मुगल साम्राज्य के पतन के पश्चात् मुख्यतः दिल्ली से बहुतेरे कलाकार जयपुर आये थे। राज दरबार में गुणीजन खाने के कलाकारों की महफिल तो होती ही रहती थी, साल भर में तीन-चार बड़े संगीत महोत्सव भी हुआ करते थे। इनके उपरान्त वहाँ के विद्वान् कलाकारो द्वारा संगीत विषयक पुस्तकों की रचनाएँ भी हुआ करती थी। राजा माधोसिंह के आश्रित खानदेशवासी संगीतज्ञ कवि पुंडरीक विट्ठल ने 'राग मंजरी' की रचना वहां पर ही की थी। सवाई जयसिंह के राज्यकाल में रागों की कई चित्रावलियाँ बनायी गयी थीं। महाराजा सवाई प्रतापसिंह ने अनेक ग्रंथो की रचना करवाई थी, जिनमें 'श्री राधा गोविन्द संगीतसार' (सात अध्याय) अनुपम कृति है। 'संगीत राग कल्पद्रुम' की रचना सवाई रामसिंह के समय में हुई थी। आज भी जयपुर के दरबारी पोथीखाने के खास मोहर विभाग में संग्रहीत संगीत शास्त्र की दुर्लभ पोथियाँ एवं पाडु-

---

१०. (क) गुणीजन खाना (लेख) डा० चन्द्रमणिसिंह, राजस्थान पत्रिका, १८ नवम्बर १६७७, पृष्ठ ६।

(ख) जयपुर दरबार के राजकीय दफ्तर में संग्रहित पुराने कागजातों पर आधारित।

लिपियाँ, वहाँ के राजाओं के संगीत प्रेम का प्रत्यक्ष प्रमाण प्रस्तुत करती हैं। सुप्रसिद्ध गायक उ० अल्लादिया खाँ ने अपनी आत्मकथा में जयपुर के 'गुणीजन खाने' की काफी प्रशंसा की है तथा वहाँ के अनेक आश्रित गायक वादकों के नाम भी गिनाये है।

'बहियो' के अनुसार रामसिंह द्वितीय के समय में गुणीजन खाने में ६२ कलाकार थे, उनमें ४ कथक नर्तक, २२ सारंगी वादक, ४५ गायिकायें तथा नर्तकियाँ, १७ पखावजी, ५ रसधारी मंडली वाले, ६ करताली तथा साजों को ठीक करने वालों का भी उल्लेख है।

महाराजा माधोसिंह द्वितीय के समय के गुणीजन खाने के कलाकारों की जो सूची हमें प्राप्त हुई है, उसमें १२४ कलाकारों के नाम गिनाये गये हैं। इनमें से १५ पखावजी के नाम मिलते हैं जो इस प्रकार हैं :[११] 'छुट्टन खा, हिम्मत खाँ, हिदायत अली, इनायत अली, मदत अली, कुतुब अली, किरूपे, मीरबख्श, भुवनो, चौथू, रामकँवर, सबलदास, अजीजुद्दीन, जगन्नाथ प्रसाद पारीक। इनमें से सुप्रसिद्ध पखावजी जगन्नाथ प्रसाद का देहान्त तो कुछ वर्ष पूर्व ही हुआ है। उनको राजस्थान संगीत नाटक अकादमी ने भी सम्मानित किया था।

जयपुर का पखावज घराना अर्थात् नाथद्वारा की पखावज परम्परा

जयपुर का पखावज घराना सदियों पुराना है जिसका प्रारम्भ आमेर से हुआ है। इस घरानें के वंशज श्री पुरुषोत्तम दास के अनुसार इसका प्रारम्भ दादाजी तुलसी दास के द्वारा हुआ था। उनके पौत्र हालुजी ने इस क्षेत्र में सविशेष कीर्ति अर्जित की थी। अतः हालुजी का नाम तथा इस परम्परा की प्रसिद्धि उनके समय में विशेष रूप से हुई। यद्यपि आमेर में हालुजी के नाम से बनी हालुजी की पोल आज खण्डहर बन चुकी है तथापि जयपुर शहर में आज भी हालुका मोहल्ला है, जिसमें इस घरानें के वंशज एवं दूसरे अनेक गायक-वादक रहते हैं। हालुका मोहल्ला में रहने वाले आज के प्रमुख कलाकारों में नारायणजी, मांगी जी, बद्री पखावजी, जोरावर सिंह (ग्वालियर वाले नहीं) आदि के नाम प्रमुख हैं।

जयपुर घरानें में अनेक कलाकार पीढ़ी दर पीढ़ी होते रहे, जिनमें हालुजी के पौत्र रूपराम का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वे अपने युग के उत्कृष्ट पखावजी थे। वे जोधपुर दरबार के आश्रित कलाकार के रूप में वर्षों तक वहाँ रहे। वहाँ पहाड़सिंह पखावजी से उनकी घनिष्ठ मित्रता हो गई। यही कारण है कि उनके पुत्र वल्लभदास को पहाड़सिंह जैसे समर्थ एवं विद्वान् पखावजी से शिक्षा ग्रहण करने का अवसर मिला था। जीवन के अन्तिम वर्षों में पं० रूपराम अपने युवा पुत्र वल्लभ दास के साथ जोधपुर छोड़कर नाथद्वारा आकर बस गये थे और भगवान् श्रीनाथजी की सेवा में जीवन के अन्तिम समय तक रत रहे। यहीं से इस घराने की परम्परा में नवीन मोड़ आया।

श्री रूपराम के बाद इस घरानें में जितने भी कलाकार हुए, वे सब के सब श्री ठाकुरजी के सेवक तथा नाथद्वारा के निवासी बने रहे। रूपराम के पुत्र वल्लभदास, पौत्र शंकरलाल तथा खेमलाल, प्रपौत्र घनश्याम दास तथा उनके पुत्र पुरुषोत्तमदास सभी वंश परम्परागत नाथद्वारा में ठाकुरजी की सेवा एवं पखावज कला की साधना करते आ रहे हैं। यही कारण है कि इस घरानें को जयपुर के साथ-साथ नाथद्वारा की पखावज परम्परा के नाम से भी सम्बोधित किया

११. जयपुर राज्य के विलय के पश्चात् वहाँ का 'गुणीजन खाना' बन्द हो गया और वह परम्परा वहीं समाप्त हो गई।

जाता है। आज भी पुरुषोत्तम दास के दो भानजे रामकृष्ण तथा श्यामलाल एवं नाती प्रकाश-चन्द्र नाथद्वारा में रहकर इस परम्परा को आगे बढ़ाने का उत्तरदायित्व निभा रहे हैं। पुरुषोत्तम दास पखावजी दिल्ली के कथक केन्द्र में भी अध्यापक रहे। अतः नाथद्वारा, दिल्ली तथा दूसरे शहरों में भी उनके अनेक शिष्य फैले हुये है।[१२]

जयपुर में तबला पखावज के अन्य कलाकार

जयपुर राज्य के गुणीजनखानें में सर्वश्री उस्ताद हिदायत अली, मदतअली, इनायत अली तथा कुतुबअली जैसे कुछ पखावजी थे, जो पखावज के साथ-साथ तबले में भी निपुण थे। मदतअली तथा कुतुबअली के विषय में विशेष जानकारी प्राप्त नहीं होती। किन्तु उस्ताद हिदायत अली के शिष्यों में जयपुर के मौलाबख्श तथा कल्लू खाँ के नाम मिलते हैं जिनके शिष्य भुल्लन खां वर्षों तक आकाशवाणी जयपुर के कलाकार थे। इनायत अली के पुत्र गमरू खाँ अच्छे तबला वादक थे जिनके पुत्र खुरशीद अली आजकल कराची रेडियो के कलाकार हैं।

टोंक (राजस्थान) के अमीर मोहम्मद खाँ जयपुर के उल्लेखनीय तबला वादक हैं। उनके परिवार में तबले की शिक्षा परम्परागत चली आ रही है। उनके पिता गुलाम मोहम्मद खाँ अच्छे कलाकार थे, जिन्होंने सोनीपतवाले उस्ताद गुलाम मोहम्मद करमबख्श से तथा नाना ममदु से दीर्घ शिक्षा पायी थी। गुलाम मोहम्मद करमबख्श दिल्ली घरानें के थे, जिनके पुत्र अब्बू खाँ जिलवानी तथा पौत्र बशीर खाँ भी अच्छे कलाकार माने गये। बशीर खाँ पाकिस्तान में रहे। जयपुर के आकाशवाणी केन्द्र में अमीर मोहम्मद खाँ कलाकार रहे। जयपुर के मूल चद तबला वादक वहाँ के एक अन्य कलाकार हैं। उनके पुत्र हरिनारायण पवार वहाँ के महाविद्यालय में अध्यापक हैं।[१३]

जयपुर घरानें की कत्थक-नृत्य परम्परा

जयपुर अपने कथक नृत्य के कारण देश भर में प्रसिद्ध है। कथक पण्डित हनुमान प्रसाद, उनके तीनों पुत्र पण्डित मोहनलाल, पण्डित चिरंजीलाल तथा पंडित नारायण लाल, एवं इसी घरानें से सम्बन्धित पण्डित जियालाल, पण्डित सुन्दर प्रसाद तथा पण्डित नारायण प्रसाद नृत्य में तो प्रवीण थे ही तबला वादन में भी अत्यन्त निष्णात माने जाते थे। कथक घरानें में नृत्य के साथ-साथ तबले की नियमबद्ध शिक्षा आज भी दी जाती है जिसके फलस्वरूप नृत्यकार तबलावादन में भी प्रावीण्य प्राप्त करते हैं। नृत्य की प्रधानता के कारण इस क्षेत्र में तबले का दीर्घ प्रचार एवं उसके प्रति विशेष रूचि देखने को मिलती है। आधुनिक समय में इस घरानें के कथक चिरंजीलाल के शिष्य हिदायत खाँ माने हुए तबलावादक हैं। हिदायत खाँ दिल्ली के मूल निवासी हैं। किन्तु उनके नाना उस्ताद मौलाबख्श घाऊसी जयपुर के गुणीजनखाने के गवैये थे अतः वे बचपन से ही जयपुर आकर बस गये, वहीं उनकी शिक्षा-दीक्षा हुई। हिदायत खाँ ने चिरंजीलाल के उपरान्त अपने ताऊ अशरफ खाँ, उस्ताद आजीम खाँ जावरेवाले तथा कथक के दूसरे गुणीजनों से भी तालीम ली है। कथक घरानें के उस्तादों से सीखकर अनेक कुशल

---

१२. मृदंगसागर : घनश्यामदास पखावजी, पृ० १ से १० तथा पुरुषोत्तमदास पखावजी की मुलाकात के आधार पर।

१३. जयपुर दरबार के राजकीय दफ्तर में संग्रहीत पुराने कागजातों पर आधारित तथा गुणीजन खाना (लेख) डॉ० चन्द्रमणि सिंह।

तबलावादक प्रसिद्ध हुए है जिनमें पंडित जियालाल के शिष्य प्रो० लालजी श्रीवास्तव (इलाहाबाद) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।[१४]

१३. जोधपुर दरबार की परम्परा

जयपुर की भाँति जोधपुर के राजाओं में भी कला के प्रति स्नेह था। हम नाथद्वारे की परम्परा में देख चुके है कि रूपराम पखावजी नाथद्वारे में स्थायी होने के पूर्व जोधपुर दरबार के आश्रित कलाकार थे। वे विशेष रूप से जोधपुर के राजा द्वारा जयपुर से आमंत्रित किये गये थे। रूपराम के समकालीन पहाड सिंह पखावजी का भी उल्लेख मिलता है। वे अपने युग के प्रखर विद्वान् पखावज वादक थे तथा दिल्ली की परम्परा से सम्बन्धित थे और जोधपुर के कलाप्रिय राजाओं के आमत्रण से वहाँ आकर बसे थे। उनके पुत्र जोहार सिंह भी अच्छे कलाकार माने गये जो मृत्यु पर्यन्त जोधपुर दरबार के आश्रित कलाकार बने रहे। इसी परम्परा के गुलाब सिंह तथा उनके पुत्र कुबेरसिंह एवं गोविन्द सिंह बड़ौदा दरबार के 'कलावन्त कारखाने' के कलाकार रहे।[१५]

१४. उदयपुर की परम्परा

राजस्थान के उदयपुर नगर मे उस्ताद अब्दुल हाफिज खाँ रहते थे। वे इन्दौर के उ० रहमात खाँ, उ० भूरे खाँ तथा उ० जहाँगीर खाँ के शिष्य थे। अपने आप मे वे तबला के भंडार थे। महफिलो को जीतने के उपरान्त उन्होंने मुक्त हृदय से विद्यादान भी किया था। आज उदयपुर शहर में जो कुछ तबला मौजूद है वह उ० हाफिज खाँ की देन है। उनके प्रमुख शिष्यों में सर्वश्री (स्व०) चतुरलाल, अजोज खाँ, योगेश नारायण दात्या, रामनारायण बानावत, जगदीशचन्द्र वर्मा, राखीलाल आदि प्रमुख है। उदयपुर के दूसरे कलाकारों में उ० हिदायत खाँ के शिष्य श्री हरिओम वर्मा का नाम भी आ जाता है।[१६]

गुजरात, सौराष्ट्र की दरबारी परम्परा

भारत में अंग्रेजों के शासन काल में अनेक छोटी-मोटी रियासतो के राजा-महाराजों, नवाब-ठाकुरों ने अपनी-अपनी रुचि के अनुसार संगीत एव संगीतकारों को आश्रय दिया, जिनमे गुजरात तथा सौराष्ट्र के रजवाड़ों का भी नाम आता है। सन् १८०० ई० से सन् १६४७ ई० तक के डेढ़ सौ वर्ष के काल में, इन देशी राज्यो में शिल्प, साहित्य, चित्र एवं संगीत कला का जो चतुर्मुख विकास हुआ है वह अनन्य है। यद्यपि कला के क्षेत्र में गायकवाड राजाओ का वड़ोदरा राज्य सिरमौर माना जाता है फिर भी जामनगर, जूनागढ़, भावनगर, पोरबन्दर, मोरवी, धरमपुर, लुणावाड़, बासदा, सथरामपुर, पालणपुर, ईडर, देवगढ़बारिया, गोधरा, वढ़वाण, मागलोर, चूड़ा, साणद, पाटण, कच्छ इत्यादि गुजरात सौराष्ट्र की छोटी-छोटी रियासतों के राजाओं ने भी संगीत कला तथा उसके कलाकारों को काफी प्रोत्साहन दिया था।

१५. गुजरात के वड़ौदा राज्य का सांगीतिक इतिहास

संगीत के प्रचार, प्रसार एवं सरक्षण में बड़ोदा राज्य का स्थान महत्वपूर्ण है। वहाँ के

१४. उ० हिदायत खाँ की मुलाकात पर आधारित।
१५. मृदगसागर : लेखक घनश्यामदास पखावजी पृष्ठ १ से १०।
१६. उदयपुर के तबलावादकों की मुलाकातों पर आधारित।

श्रीमन्त फतेहसिंह राव गायकवाड, श्रीमन्त खाडेराव गायकवाड तथा श्रीमन्त सियाजी राव गायकवाड जैसे कलाप्रेमी राजाओं ने संगीत तथा संगीतकारों को जो आदर-सम्मान दिया था, उसके कारण उनका दरबार, देश भर के संगीतकारों एवं विद्वानों का आकर्षण केन्द्र बन गया था।

कहते हैं कि खाडेराव जी महाराज के समय में वड़ोदा दरबार में सैकड़ों की संख्या में गायन, वादन, नर्तन तथा लोक संगीत के कलाकार विद्यमान थे।[१७]

संगीत के क्षेत्र में क्रांति कही जा सके ऐसी दो प्रमुख बातें वहाँ के दरबार में हुई थी, जो निम्नलिखित हैं—[१८]

(१) देश में शास्त्रीय संगीत का सर्वप्रथम विद्यालय की सन् १८८६ ई० में स्थापना।

(२) अखिल भारतीय संगीत परिषद का आयोजन।

शास्त्रीय संगीत विद्यालय की स्थापना

शास्त्रीय संगीत के शिक्षण के हेतु संगीत के प्रथम विद्यालय की वड़ोदा में सन् १८८६ ई० के फरवरी माह में, महाराजा सियाजी राव गायकवाड़ के द्वारा हुई। इसकी स्थापना के पश्चात् लाहौर का गांधर्व महाविद्यालय (सन् १९०१ ई०), ग्वालियर का माधव संगीत महाविद्यालय (सन् १९१८ ई०), लखनऊ का मोरिस म्यूजिक कॉलेज (सन् १९२५ ई०) तथा पुणे का भारत गायन समाज अस्तित्व में आया। इस संगीत विद्यालय में गायन, तंत वादन, पखावज एवं तबला आदि का प्रशिक्षण दिया जाता था। आरम्भ काल में विद्यालय का संचालन उस्ताद मौलाबख्श नामक एक विद्वान् को सौंपा गया था। उन्हीं दिनों वहाँ से संगीत की अनेक पुस्तकें प्रकाशित हुईं जिनमें तालवादन के क्षेत्र में उस्ताद उस्मान खां सुलतान खां कृत 'ताल पद्धति' (सन् १९८८ ई०) पुस्तक उल्लेखनीय है।

आज वड़ोदा का 'महाराजा सियाजी राव म्यूजिक कालेज' अपने ढंग का एक संगीत प्रशिक्षण केन्द्र है, जो सन् १८८६ में स्थापित प्रायमिक संगीत विद्यालय का विकसित रूप है। उस विद्यालय के प्रथम प्राचार्य का मानद स्थान विख्यात वीणा वादक एवं शास्त्रज्ञ पंडित हीरजी भाई आर० डाक्टर ने करीब पचीस वर्ष तक सुशोभित किया था।[१९]

नोट :—बड़ोदा का नाम परिवर्तित होकर वड़ोदरा हो गया है।

अखिल भारतीय संगीत परिषद् का आयोजन

अखिल भारतीय स्तर का सर्वप्रथम संगीत सम्मेलन सन् १९१६ ई० मे श्रीमन्त सियाजी राव गायकवाड़ की अध्यक्षता एवं संरक्षण में वड़ोदरा में आयोजित हुआ। संगीत के इतिहास में इस परिषद का आयोजन गौरवपूर्ण घटना है। इसे आधुनिक युग के संगीतोत्थान का प्रथम चरण कहा जा सकता है। इस परिषद् में देश भर के गुणीजन, विद्वान्, संगीतज्ञ, संगीत प्रेमी राजा-महाराजाओं एवं रसिक जनता ने भाग लिया था। इसका कुशल संचालन संगीत जगत्

१७. गुजरात अने संगीत (गुजराती लेख) 'संगीत चर्चा' नामक पुस्तक में संकलित, लेखक : प्रो. आर. सी. मेहता, पृ० ६।

१८. वही, पृ० ६-७।

१९. पंडित हिरजी भाई आर० डॉक्टर की मुलाकात के आधार पर।

के समर्थ विद्वान् पंडित विष्णु नारायण भातखंडे ने किया था। इस ऐतिहासिक संगीत परिषद् मे संगीत विषयक अनेक प्रश्नों पर महत्वपूर्ण चर्चा हुई थी। परिषद की योजना और ठहरावों का निर्देश करते हुए प्रो. आर. सी. मेहता लिखते हैं :

'छैल्ला सौ वर्ष नी प्रथम अखिल हिन्द परिषद, राजाश्रये बड़ोदरा मां १९१६ मां भराई ए संगीत ना इतिहास मा एक घणी ज महत्व नी वस्तु तरीके सामखी जरूरी छे। आ परिषद मा हिन्द भर मां थी गायक वादको आव्या हता, ने पंडित भातखंडे नी दोरवणी नीचे संगीत विषयक अनेक प्रश्नो छणाया हता। आज नी मध्यस्थ संगीत नाटक अकादमी (दिल्ही) ए पोताना कार्यप्रदेश विशे जे आदर्शो सन्मुख राख्या छे तेमा ना महत्व ना सघला, आ पहेली परिषद नी योजना ने ठरावो मां जोई शकाय छे।''[२०]

कलावन्त कारखाना

बड़ोदरा संगीत विभाग में राज्य की ओर से एक और भी महत्वपूर्ण विभाग चलता था जो 'कलावन्त कारखाने' के नाम से प्रसिद्ध था। इस कलावन्त कारखाने को आफताबे मूसिकी उ० फैयाज़ खाँ से लेकर भारत भर के करीब डेढ़ सौ कलारत्न सुशोभित करते थे। इस विभाग का संचालन सुप्रसिद्ध संगीतज्ञ पंडित हिरजी भाई डाक्टर करते थे। कलावन्त कारखाने के इन कलाकारों ने गायन, वादन के कार्यक्रमों को प्रस्तुत करने के उपरान्त अनेक शिष्य तैयार किये और इस तरह विद्या का यथेष्ट प्रचार किया।

कलावन्त कारखाने के तालवाद्य के कलाकारों में उ० नासिर खाँ पखावजी (बाँदा), पंडित गंगाराम जी मृदंगाचार्य (बृज), उ० करीमबख्श (इन्दौर), श्री गुलाब सिंह तथा उनके दो पुत्र कुबेर सिंह तथा गोविन्द सिंह (जोधपुर) के नाम विशेष उल्लेखनीय है।

उ० नासिर खाँ पखावजी (बाँदा) वर्षों तक बड़ोदरा दरबार के दरबारी कलाकार रहे। वे महाराज खान्डेराव तथा महाराज सियाजी राव के दरबार के उत्कृष्ट कलारत्न थे। उन्होने पखावज एवं तबले के अनेक शिष्य तैयार किये जिनमें सर्वश्री कान्ताप्रसाद, हिम्मतराम बख्शी, विष्णुपन्त जोशी, गणपतराव बसईकर, कृष्णराव लक्ष्मण शिलेदार तथा उनके पुत्र निसार हुसेन खाँ और पौत्र नजीर खाँ प्रमुख हैं। कान्ता प्रसाद जी की ख्याति भारत भर में प्रसिद्ध थी। श्री नरहर शंभुराव भावे ने उ० नासिर खाँ की वादन शैली पर एक कलात्मक पुस्तक मराठी भाषा में तैयार की थी, जिसका नाम है ''मरहुम नासिर खाँ याचा मृदंग बाज।''

१६. भावनगर

सौराष्ट्र के भावनगर राज्य के महाराजा भावसिंह जी भी संगीत के रसिक एवं ज्ञाता थे। अतः उनके दरबार मे भी कलाकारों का उचित सम्मान हुआ करता था। भावनगर के दरबारी कलाकार पंडित डाह्यालाल शिवराम ने सन् १९०१ में 'संगीत कलाधर' नामक एक बृहद ग्रंथ की गुजराती भाषा में रचना की थी, जिसमें गायन तथा तंतवादन के अतिरिक्त तालशास्त्र तथा विविध तालों का चक्र सहित विशद वर्णन मिलता है।

---

२०. गुजरात अने संगीत (गुजराती लेख) 'संगीत चर्चा' नामक पुस्तक में संकलित : लेखक : प्रो. आर. सी. मेहता, पृ० ६।

१७. जामनगर

जामनगर के पंडित आदित्यराम जी का नाम पखावज के क्षेत्र में विशेष महत्व रखता है। बलदेव सा परम्परा के इस लोकप्रिय कलाकार को आज भी लोग बड़ी श्रद्धा से याद करते हैं और उनको गुजरात सौराष्ट्र का 'स्वामी हरिदास' कहकर सम्मानित करते हैं। वैसे वे जूनागढ़ के निवासी थे और वहाँ के नवाब बहादुर खाँ के दरबारी कलाकार थे। पखावज वादन के साथ-साथ वे कुशल गायक तथा 'संगीतादित्य' नामक ग्रंथ के रचयिता भी थे। उन्होंने गिरनार के किसी सिद्ध योगी से पखावज वादन में अद्भुत योग्यता प्राप्त की थी।

सन् १८४१ ईस्वी में वे जूनागढ़ छोड़कर जामनगर चले आये और अन्त तक वहीं रहे। जामनगर के राजा जाम वीणमलजी संगीत के बड़े प्रेमी थे तथा आदित्यराम जी को बहुत चाहते थे। अतः उनको दरबार कलाकार के रूप में ही नहीं वरन् राजगुरु के रूप में सम्माननीय स्थान प्राप्त था। वे युवराज को संगीत शिक्षा देते थे।

आदित्य राम जी ने अनेक शिष्य तैयार किये थे जिनमें पं० बलदेव शंकर भट्ट प्रमुख हैं। बम्बई के पंडित चतुर्भुज राठौड़, बलदेव शंकर भट्ट के ही शिष्य हैं। गोवा के श्री सुब्बाराव अंकोलकर जो सुप्रसिद्ध तबलानवाज उस्ताद मुनीर खाँ के शिष्य थे अनेक वर्ष तक बलदेव सा घराने के भी शागिर्द रहे।

जूनागढ़ मे, उस्ताद मंगलू खाँ नाम के एक पखावजी का नाम भी वहाँ के दरबारी कलाकार के रूप में मिलता है।

गुजरात, सौराष्ट्र के मंदिरों में फैली संगीत परम्परायें

राज परम्परा के उपरान्त मन्दिर परम्परा में भी गुजरात सौराष्ट्र मे अनेक प्रतिभाशाली तालवादक हुये हैं। ध्रुपद गायकी और पखावज की कला को गौरवान्वित करने का प्रयास सदैव वैष्णव सम्प्रदाय में होता आया है। देश भर के सुविख्यात कलाकार वैष्णव मन्दिरों में कृष्ण मुरारी के समक्ष अपनी 'हाजिरी' लगाने में गौरव का अनुभव करते थे। इस क्षेत्र में सौराष्ट्र का पोरबन्दर महत्वपूर्ण स्थान माना जाता है। पोरबन्दर के गोस्वामी घनश्याम लाल जी तथा उनके दो पुत्र गोस्वामी द्वारकेशलाल तथा गोस्वामी दामोदरलाल संगीत के रसिक, आश्रयदाता एवं उच्च कलाकार थे। उन दिनों देश के सुप्रसिद्ध कलाकार पोरबंदर को कला का तीर्थ धाम मानते थे। आज भी वहाँ गोस्वामी द्वारकेशलाल के दो पुत्र गोस्वामी माधवराय तथा गोस्वामी रसिकराय संगीत एवं साहित्य के आश्रयदाता एवं स्वयं ज्ञाता के रूप में अपनी वंशपरम्परागत प्रतिष्ठा निभा रहे हैं।

हवेली परम्परा में भड़ौच के जगदीश मन्दिर वाले मंगु भाई पखावजी, हालोल के जीवणलाल पखावजी तथा डाकोर के ज्येष्ठराम पखावजी के नाम उल्लेखनीय हैं।

नाना पानसे घराने के उत्तराधिकारी स्वर्गीय श्री गोविन्द राव बुरहानपुरकर वर्षों तक अहमदाबाद के सुप्रसिद्ध साराभाई परिवार में रहे थे। श्री अम्बालाल साराभाई की सुपुत्री श्रीमती दुर्गा बहन पंडित बुरहानपुर से पखावज सीखा करती थीं।

तदुपरान्त अहमदाबाद के तबला वादक पंडित शंकरलाल नायक तथा भड़ौच के पंडित ओंकार नाथ ठाकुर के भाई श्री रमेशचन्द्र ठाकुर तबला तरंग में काफी प्रसिद्ध थे।[२१]

बंगाल के राज परिवारों की संगीत साधना

भारत के दूसरे देशी राज्यों की भाँति ही बंगाल के विविध राज घरानें भी संगीत, साहित्य एवं कला के आश्रयधाम बने रहे थे। बंगाल के राज परिवारों की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि वे मात्र संगीत प्रेमी या कलाकारों के आश्रयदाता ही नहीं थे वरन् उनमें से बहुतेरे स्वयं उच्च कोटि के कलाकार होते थे तथा उत्कृष्ट गुरुओं को अपने यहाँ रख कर वर्षोंपर्यन्त उनसे शिक्षा ग्रहण करते रहते थे। इस क्षेत्र में रामगोपाल पुर (मैमनसिंह) का राज घराना, नाटोर का राजवंश, गोरीपुर (आसाम) के राजा, नरजोली के नरेश, चौबीस परगना के छोटे-मोटे जमीनदार, ढाका के जमीनदार, मुर्शिदाबाद के नवाब, राजग्राम के जमीनदार, टैगोर का राजवंश इत्यादि के नाम उल्लेखनीय है।

१८. रामगोपालपुर का राजवंश

रामगोपालपुर की रियासत में मैमन सिंह के राजा योगिन्द्र किशोर राय चौधरी तथा उनके भाई व्रजेन्द्र किशोर राय चौधरी बड़े संगीत रसिक एवं कला प्रेमी व्यक्ति थे। भारत के उच्च कोटि के संगीतकार उनके समक्ष अपनी कला प्रस्तुत करने को लालायित रहते थे तथा ऐसे गुणी अन्नदाता की प्रशंसा प्राप्त करना अपना सौभाग्य समझते थे। इसीलिये रामगोपाल पुर में कलाकारों का सदैव मेला लगा रहता था। कोई कलाकार महीने भर, कोई साल भर तो कोई वर्षोंपर्यन्त वहाँ का आश्रय ग्रहण करके अपनी कला साधना तथा संगीत शिक्षा में निमग्न रहता था।

राजा योगिन्द्र किशोर राय चौधरी के भ्राता राय व्रजेन्द्र किशोर राय चौधरी सुप्रसिद्ध मृदंग वादक मुरारी मोहन गुप्त के शिष्य थे जिन्हें बंगाल का 'मृदंग केसरी' कहा जाता था।

राजा योगिन्द्र किशोर जी के चारो पुत्र उत्तम कलाकार थे। उनके ज्येष्ठ पुत्र नगेन्द्र किशोर राय चौधरी गायक पडित शिव सेवक जी के शिष्य थे। द्वितीय पुत्र यतीन्द्र किशोर राय चौधरी पडित दक्षिणाशंकर सेन के शिष्य थे। तृतीय सौरीन्द्र किशोर राय चौधरी पडित दीनबन्धु गोप, उस्ताद गुलाम कादर तथा उस्ताद मोहम्मद खाँ के शिष्य थे, तथा चौथे पुत्र हिरेन्द्र किशोर राय चौधरी हिन्दुस्तान में तबला क्षेत्र के अनन्य कलाकार माने जाते थे। उन्होने लखनऊ घराने के उस्ताद आबिद हुसैन खाँ से, दिल्ली घराने के उस्ताद नत्थू खाँ से, ढाका के प्रसन्नकुमार साहा वाणिक्य से, फरुखाबाद घरानें के मसीदुल्लाँ खाँ से तथा बनारस घरानें के पडित मौलवी राम मिश्र से, तबले की दीर्घ शिक्षा प्राप्त की थी। तबले के प्रकाण्ड पडित के रूप में बड़े-बडे कलाकार उनका लोहा मानते थे। इनके महल में भारत के सर्वश्रेष्ठ तबलावादक आते जाते रहते थे, जिनमें उनके गुरुओं के अतिरिक्त आज़ीम खाँ

---

२१. आधारित : (१) संगीत चर्चा (गुजराती) प्रो. आर. सी. मेहता
(२) भारतना संगीत रत्नो भाग १,२ (गुजराती) पंडित मूलजी भाई पी. शाह
(३) बड़ोदरा के पंडित हिरजी भाई डॉक्टर एस. एस. म्यूज़िक कालेज के आचार्यों तथा कुछ कलाकारों की मुलाकातों पर आधारित।

जावरेवाले, मौलाबख्श मुरादाबादवाले, गोपाल तथा महाराव ढाकावाले, करामतुल्ला फर्रुखाबाद वाले इत्यादि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

राजा योगिन्द्र किशोर राय चौधरी के सभी पौत्र भी अच्छे कलाकार एवं संगीतसाधक थे, जिनमें वीरेन्द्र किशोर, गिरीन्द्र किशोर, नृपेन्द्र किशोर, रणेन्द्र किशोर, अरुणेन्द्र किशोर तथा दामाद नगेन्द्रचन्द्र लाहिड़ी इत्यादि सबके सब संगीतकार थे। इन सब में सितार वादक उस्ताद इनायत खाँ के शिष्य वीरेन्द्र किशोर तथा तबला वादक अरुणेन्द्र किशोर के नाम उल्लेखनीय हैं। ऐसे कला प्रेमी, प्रोत्साहक एवं पूरा राजवंश ही कलाकार हो ऐसा अद्भुत दृष्टांत हिन्दुस्तान के इतिहास में दुर्लभ है।

१९. नाटोर का राजवंश

मैमनसिंह की भाँति नाटोर वंश की राजपरम्परा भी संगीत प्रेमी और साधक रही है। स्वयं महाराजा गोविन्दनाथ राय प्रसिद्ध सितार वादक मोहम्मद खाँ के शिष्य थे। उनके पुत्र महाराजा जगदीन्द्रनाथ राय, पौत्र महाराजा योगीन्द्रनाथ राय तथा प्रपौत्र कुमार जयन्तनाथ राय एवं कुमार इन्द्रजीत राय इत्यादि संगीत के ज्ञाता थे।

राजा साहब की पुत्री राजकुमारी शरत्सुन्दरी देवी चौधरानी, उनके नाती व्रजेन्द्र कान्त राय चौधरी तथा प्रनाती बिमलाकान्त राय चौधरी सब के सब संगीत के क्रियात्मक अभ्यासी एवं संगीत शास्त्र के उत्तम ज्ञाता थे। श्री विमलाकान्त राय चौधरी की बंगला पुस्तक 'भारतीय संगीत कोश' अपने ढंग की अनोखी कृति है, जो इस राजवंश की संगीत सुज्ञता का प्रत्यक्ष प्रमाण है। इस कोश का अनुवाद कई भाषाओं में हो चुका है।

२०. ढाका के जमीनदारों की परम्परा

ढाका के मुशपारा के जमीनदार श्री पुरनचन्द्र बनर्जी संगीत के परम भक्त थे। वे अच्छे गायक बादकों को अपने घर आमन्त्रित किया करते थे। ढाका के सुप्रसिद्ध तबलावादक श्री प्रसन्नकुमार साहा वाणिक्य का उनके परिवार के साथ गहरा सम्बन्ध था। अतः जमीनदार पुरनचन्द्र जी ने अपने पुत्र रायबहादुर केशवचन्द्र बनर्जी की तबला शिक्षा का भार श्री० प्रसन्नकुमार जी को सौंपा था। तदुपरान्त रायबहादुर केशवचन्द्रजी ने दिल्ली घराने के तबलानवाज उ० नत्थू खाँ को अपने घर में चार वर्ष रखकर उनसे भी दीर्घ शिक्षा प्राप्त की थी। रायबहादुर पूर्व बंगाल के उत्तम तबलावादक माने जाते थे। भारत के विभाजन के पश्चात् वे ढाका छोड़कर कलकत्ता में बस गये। वे इतने विद्याव्यसंगी थे कि ८१ वर्ष की वयोवृद्ध अवस्था पर्यन्त प्रतिदिन तीन घन्टे का नियमित अभ्यास किया करते थे।

२१. टागोर वंश

बंगाल के सुप्रसिद्ध टागोर वंश के प्रत्येक व्यक्ति कलाप्रेमी रहे हैं। संगीत के क्षेत्र में श्री रवीन्द्रनाथ टागोर का योगदान महत्वपूर्ण है, जो 'रवीन्द्र संगीत' के नाम से आज देश-विदेश में व्याप्त है। किन्तु उनके पूर्वज राजा सर सौरिन्द्रमोहन टागोर तथा राजा जोगिन्द्रमोहन टागोर का उल्लेख यहाँ विशेष आवश्यक है क्योंकि उन दोनों के महत्वपूर्ण कार्यों ने संगीत के इतिहास को एक उल्लेखनीय एवं सृजनात्मक मोड़ दिया है।

पथुरियाघाट के राजा जोगिन्द्रमोहन टागोर संगीत के आश्रयदाता ही नहीं वरन् नवीन

उद्यमान प्रतिभाओं को प्रोत्साहन देनेवाले सहृदयी व्यक्ति भी थे। उनके सहयोग से अनेक ज्ञानपिपासु विद्यार्थियों को विद्याभ्यास करने का सुअवसर प्राप्त हुआ था। बारह-तेरह वर्ष के किशोर विद्याभिलासी 'आलम' को (आलम, मैहर के सुप्रसिद्ध सरोदनवाज़ उ० अल्लाउद्दीन खाँ का बचपन का नाम) अपने दरबारी गायक पं० गोपाल चन्द्र भट्टाचार्य तथा पखावजी नन्दी भट्ट से शिक्षा दिलवाने का प्रबन्ध उन्हीं के द्वारा हुआ था। बाबा उ० अल्लाउद्दीन खाँ की महान् संगीत प्रतिभा तथा वाद्य संगीत के क्षेत्र में उनके क्रान्तिकारी पदार्पण के पीछे ऐसे अनेक सहृदय व्यक्तियों का योगदान छिपा है।

राजा जोगिन्द्रमोहन टागोर के अग्रज राजा सौरिन्द्रमोहन टागोर भी कलाप्रेमी व्यक्ति थे। वे स्वयं संगीत के प्रखर अभ्यासी तथा शास्त्रज्ञ थे। सन् १८७५ ई० में उनकी प्रथम पुस्तक 'हिन्दू संगीत' अंग्रेजी भाषा में प्रकाशित हुई थी। तत्पश्चात् सन् १८९६ ई० में उनकी दूसरी महत्वपूर्ण कृति 'युनिवर्सल हिस्ट्री ऑफ म्यूजिक' प्रकाश में आई। इन दोनो पुस्तकों का महत्व केवल राजा साहब की संगीतिक विद्वत्ता के प्रदर्शन तक ही सीमित नहीं है वरन् इनसे भारतीय सगीत के सौन्दर्य का गुप्त रहस्य सामने आ गया है। राजा सर सौरिन्द्रमोहन टागोर की इन पुस्तको से भारतीय संगीत के प्रति अंग्रेजों मे तथा सगीत को घृणित समझने वाले शिक्षित हिन्दी समाज मे रुचि उत्पन्न हो सकी, जिसके फलस्वरूप अंग्रेजो ने भारतीय सगीत को समझने का प्रयास आरंभ किया। उनकी पुस्तको से प्रभावित होकर श्री ए० जे० हेपकिन्स, श्री ब्रूनो नेत, श्री एलन डेनिलन, श्री ए० एच० फोक्सस्ट्रेंगवेज, श्री ई० क्लेमेन्टस, श्री हरबट पोपले, श्री इथल रोसेन्टल, श्री जुलिस कोम्बेरियन इत्यादि पाश्चात् विद्वानों ने भारतीय संगीत का सूक्ष्म अध्ययन किया एवं इस गहन विषय को यूरोपीय सगीत जगत् में स्पष्ट करने के हेतु इन विद्वानों ने भारतीय संगीत के विविध विषयों पर स्वयं अनेक पुस्तकों का निर्माण किया। भारतीय संगीत पर राजा सर सौरिन्द्रमोहन टागोर का यह ऋण अनन्य है।

२२. अगरतला का राज दरबार

संभवतः डेढ़ सौ वर्ष पूर्व अगरतला का राज दरबार संगीत का धाम था। श्री रामकन्हाई सील तथा श्री रामधन सील नामक दो प्रसिद्ध सगीतकार भ्राता उन दिनों अगरतला दरबार के राज कलाकार थे। उ० अल्लाउद्दीन खाँ के बड़े भाई उ० आफताबुद्दीन खाँ की सगीत शिक्षा श्री रामकन्हाई सील से हुई थी। उ० अल्लाउद्दीन खाँ ने बचपन में तबले की शिक्षा अपने बडे भाई उ० आफताबुद्दीन से ही पायी थी। उ० आफताबुद्दीन का नाती एवं शिष्य यार रसूल उर्फ फूलझड़ी खाँ तबले के उत्तम कलाकार थे, जो अगरतला की राजपरम्परा से सम्बन्धित थे। तत्पश्चात् वे मैहर के राजकलाकार हुए।

२३. मुर्शिदाबाद

मुर्शिदाबाद के संगीत प्रेमी नवाब के पास सुप्रसिद्ध तबलानवाज़ उ० आता हुसैन खाँ कुछ वर्ष तक रहे। प्राप्त जानकारी के अनुसार उ० आता हुसैन खाँ ने नवाब साहब के साथ इंगलैंड की यात्रा की थी। अतः लगभग सवा सौ वर्ष पूर्व इंगलैंड जैसे पाश्चात्य देश मे भारतीय ताल एवं तबला वाद्य को सर्वप्रथम प्रस्तुत करने का श्रेय उन्हीं को जाता है। इस कार्यक्रम का आयोजन मुर्शिदाबाद के नवाब द्वारा हुआ था। तबले के इतिहास मे यह घटना महत्वपूर्ण मानी जायेगी।

जावरेवाले, मौलाबख्श मुरादाबादवाले, गोपाल तथा महताब ढाकावाले, करामतुल्ला फरुक्खाबाद वाले इत्यादि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

राजा योगिन्द्र किशोर राय चौधरी के सभी पौत्र भी अच्छे कलाकार एवं संगीतसाधक थे, जिनमें वीरेन्द्र किशोर, गिरीन्द्र किशोर, नृपेन्द्र किशोर, रणेन्द्र किशोर, अरुणेन्द्र किशोर तथा दामाद नगेन्द्रचन्द्र लाहिड़ी इत्यादि सबके सब संगीतकार थे। इन सब में सितार वादक उस्ताद इनायत खाँ के शिष्य वीरेन्द्र किशोर तथा तबला वादक अरुणेन्द्र किशोर के नाम उल्लेखनीय हैं। ऐसे कला प्रेमी, प्रोत्साहक एवं पूरा राजवंश ही कलाकार हो ऐसा अद्भुत दृष्टांत हिन्दुस्तान के इतिहास में दुर्लभ है।

१९. नाटोर का राजवंश

मैमनसिंह की भाँति नाटोर वंश की राजपरम्परा भी संगीत प्रेमी और साधक रही है। स्वयं महाराजा गोविन्दनाथ राय प्रसिद्ध सितार वादक मोहम्मद खाँ के शिष्य थे। उनके पुत्र महाराजा जगदीन्द्रनाथ राय, पौत्र महाराजा योगीन्द्रनाथ राय तथा प्रपौत्र कुमार जयन्तनाथ राय एवं कुमार इन्द्रजीत राय इत्यादि संगीत के ज्ञाता थे।

राजा साहब की पुत्री राजकुमारी शरत्सुन्दरी देवी चौधरानी, उनके नाती व्रजेन्द्र कान्त राय चौधरी तथा प्रनाती विमलाकान्त राय चौधरी सब के सब संगीत के क्रियात्मक अभ्यासी एवं संगीत शास्त्र के उत्तम ज्ञाता थे। श्री विमलाकान्त राय चौधरी की बंगला पुस्तक 'भारतीय संगीत कोश' अपने ढंग की अनोखी कृति है, जो इस राजवंश की संगीत सुज्ञता का प्रत्यक्ष प्रमाण है। इस कोश का अनुवाद कई भाषाओं में हो चुका है।

२०. ढाका के जमीनदारों की परम्परा

ढाका के मुरापारा के जमीनदार श्री पुरनचन्द्र बनर्जी संगीत के परम भक्त थे। वे अच्छे गायक वादकों को अपने घर आमन्त्रित किया करते थे। ढाका के सुप्रसिद्ध तबलावादक श्री प्रसन्नकुमार साहा वाणिक्य का उनके परिवार के साथ गहरा सम्बन्ध था। अतः जमीनदार पुरनचन्द्र जी ने अपने पुत्र रायबहादुर केशवचन्द्र बनर्जी की तबला शिक्षा का भार श्री० प्रसन्नकुमार जी को सौंपा था। तदुपरान्त रायबहादुर केशवचन्द्रजी ने दिल्ली घराने के तबलानवाज उ० नत्थू खाँ को अपने घर में चार वर्ष रखकर उनसे भी दीर्घ शिक्षा प्राप्त की थी। रायबहादुर पूर्व बंगाल के उत्तम तबलावादक माने जाते थे। भारत के विभाजन के पश्चात् वे ढाका छोड़कर कलकत्ता में बस गये। वे इतने विद्याव्यसनी थे कि ८१ वर्ष की वयोवृद्ध अवस्था पर्यन्त प्रतिदिन तीन घन्टे का नियमित अभ्यास किया करते थे।

२१. टागोर वंश

बंगाल के सुप्रसिद्ध टागोर वंश के प्रत्येक व्यक्ति कलाप्रेमी रहे हैं। संगीत के क्षेत्र में भी रवीन्द्रनाथ टागोर का योगदान महत्वपूर्ण है, जो 'रवीन्द्र संगीत' के नाम से आज देश-विदेश में व्याप्त है। किन्तु उनके पूर्वज राजा सर सौरिन्द्रमोहन टागोर तथा राजा योगिन्द्रमोहन टागोर का उल्लेख यहाँ विशेष आवश्यक है क्योंकि उन दोनों के महत्वपूर्ण कार्यों ने संगीत के इतिहास को एक उल्लेखनीय एवं सृजनात्मक मोड़ दिया है।

पथुरियाघाट के राजा योगिन्द्रमोहन टागोर संगीत के आश्रयदाता ही नहीं वरन् नवीन

उदयमान प्रतिभाओं को प्रोत्साहन देनेवाले सहृदयी व्यक्ति भी थे। उनके सहयोग से अनेक ज्ञानपिपासु विद्यार्थियों को विद्याभ्यास करने का सुअवसर प्राप्त हुआ था। बारह-तेरह वर्ष के किशोर विद्याभिलासी 'आलम' को (आलम, मैहर के सुप्रसिद्ध सरोदनवाज उ० अल्लाउद्दीन खाँ का बचपन का नाम) अपने दरबारी गायक पं० गोपाल चन्द्र भट्टाचार्य तथा पखावजी नन्दी भट्ट से शिक्षा दिलवाने का प्रबन्ध उन्हीं के द्वारा हुआ था। बाबा उ० अल्लाउद्दीन खाँ की महान् संगीत प्रतिभा तथा वाद्य संगीत के क्षेत्र में उनके क्रान्तिकारी पदार्पण के पीछे ऐसे अनेक सहृदय व्यक्तियों का योगदान छिपा है।

राजा जोगिन्द्रमोहन टागोर के अग्रज राजा सौरिन्द्रमोहन टागोर भी कलाप्रेमी व्यक्ति थे। वे स्वयं संगीत के प्रखर अभ्यासी तथा शास्त्रज्ञ थे। सन् १८७५ ई० में उनकी प्रथम पुस्तक 'हिन्दू संगीत' अंग्रेजी भाषा में प्रकाशित हुई थी। तत्पश्चात् सन् १८९६ ई० में उनकी दूसरी महत्वपूर्ण कृति 'युनिवर्सल हिस्ट्री ऑफ म्यूजिक' प्रकाश में आई। इन दोनों पुस्तकों का महत्व केवल राजा साहब की संगीतिक विद्वत्ता के प्रदर्शन तक ही सीमित नहीं है वरन् इनसे भारतीय संगीत के सौन्दर्य का गुप्त रहस्य सामने आ गया है। राजा सर सौरिन्द्रमोहन टागोर की इन पुस्तकों से भारतीय संगीत के प्रति अंग्रेजों मे तथा संगीत को घृणित समझने वाले शिक्षित हिन्दी समाज में रुचि उत्पन्न हो सकी, जिसके फलस्वरूप अंग्रेजों ने भारतीय संगीत को समझने का प्रयास आरंभ किया। उनकी पुस्तकों से प्रभावित होकर श्री ए० जे० हेपकिन्स, श्री ब्रूनो नेत, श्री एलन डेनिलन, श्री ए० एच० फोक्सस्ट्रेंगवेज, श्री ई० क्लेमेन्टस, श्री हरबट पोपले, श्री इथल रोसेन्टल, श्री जुलिस कोम्बेरियन इत्यादि पाश्चात् विद्वानो ने भारतीय संगीत का सूक्ष्म अध्ययन किया एवं इस गहन विषय को यूरोपीय संगीत जगत् में स्पष्ट करने के हेतु इन विद्वानों ने भारतीय संगीत के विविध विषयों पर स्वयं अनेक पुस्तकों का निर्माण किया। भारतीय संगीत पर राजा सर सौरिन्द्रमोहन टागोर का यह ऋण अनन्य है।

२२. अगरतला का राज दरबार

संभवतः डेढ़ सौ वर्ष पूर्व अगरतला का राज दरबार संगीत का धाम था। श्री रामकन्हाई सील तथा श्री रामधन सील नामक दो प्रसिद्ध संगीतकार भ्राता उन दिनों अगरतला दरबार के राज कलाकार थे। उ० अल्लाउद्दीन खाँ के बड़े भाई उ० आफताबुद्दीन खाँ की संगीत शिक्षा श्री रामकन्हाई सील से हुई थी। उ० अल्लाउद्दीन खाँ ने बचपन में तबले की शिक्षा अपने बड़े भाई उ० आफताबुद्दीन से ही पायी थी। उ० आफताबुद्दीन का नाती एवं शिष्य यार रसूल उर्फ फूलझड़ी खाँ तबले के उत्तम कलाकार थे, जो अगरतला की राजपरम्परा से सम्बन्धित थे। तत्पश्चात् वे मैहर के राजकलाकार हुए।

२३. मुर्शिदाबाद

मुर्शिदाबाद के संगीत प्रेमी नवाब के पास सुप्रसिद्ध तबलानवाज उ० आता हुसैन खाँ कुछ वर्ष तक रहे। प्राप्त जानकारी के अनुसार उ० आता हुसैन खाँ ने नवाब साहब के साथ इंगलैंड की यात्रा की थी। अतः लगभग सवा सौ वर्ष पूर्व इंगलैंड जैसे पाश्चात्य देश में भारतीय ताल एवं तबला वाद्य को सर्वप्रथम प्रस्तुत करने का श्रेय उन्हीं को जाता है। इस कार्यक्रम का आयोजन मुर्शिदाबाद के नवाब द्वारा हुआ था। तबले के इतिहास में यह घटना महत्वपूर्ण मानी जायेगी।

२४. राजग्राम

बंगाल में विष्णुपुर के पास एक छोटी सी जागीर है जो राजग्राम के नाम से प्रसिद्ध है। इस राजग्राम के जमींदार वेचाराम पांजा तथा उनके पुत्र षष्ठिराम पांजा संगीत के विशेष तौर पर पखावज तथा खोल के बड़े प्रेमी थे। षष्ठिराम पांजा ने स्वयं पखवाज की तालीम पं० भैरव चक्रवर्ती से प्राप्त की थी। उन्हें अपने आश्रय में रखकर उनसे शिक्षा प्राप्त की।

२५. चौबीस परगना

त्रिपुरा तथा चौबीस परगना के अनेक जमींदार संगीत के रसिक थे तथा अपने यहाँ कलाकारों को बुलाकर संगीत का रसास्वादन करते थे। इनमें जयनगर मंजीलपुर के जमींदार रायबहादुर खगेन्द्रनाथ मित्र विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। खोल तथा पखावज के बड़े चाहक थे। सुप्रसिद्ध बंगाली खोलवादक पं० नवद्वीपचन्द्र बृजवासी के वे शिष्य थे। उनके वंशज प्रतापचन्द्र मित्र ने पखावज के क्षेत्र में अन्तरदेशीय ख्याति प्राप्त की थी। आकाशवाणी के प्राथमिक दिनों में वयोवृद्ध प्रतापचन्द्र मित्र का पखावज वादन रेडियो से प्रसारित हुआ करता था।

२६. गौरीपुर तथा नरजोली

गौरीपुर (असम) के राजा प्रतापनाथ बड़ुवा तबले के अनन्य भक्त थे। तबले की तालीम ढाका के सुप्रसिद्ध उस्ताद आता हुसैन खाँ से प्राप्त की थी। राजा बड़ुवा से आता हुसैन को बड़ा स्नेह था अतः वे गौरीपुर में भी काफी रहा करते थे।

नरजोली दरबार के जमींदार भी तबला तथा पखावज के शौकीन थे। सुप्रसिद्ध मृदंगाचार्य पं० वीजन चन्द्र हजारे उनके दरबारी कलाकार थे।[२२]

विहार के राजाओं एवं जमीनदारों का संगीत प्रेम

देश के अन्य भागों के भाँति बिहार के दरभंगा, अमता, गया, आरा, पचगछिया, मुजफ्फरपुर आदि जगहों के राजा एवं जमीनदार संगीत के बड़े प्रेमी, प्रोत्साहक एवं अभ्यासी रहे हैं।

२७. दरभंगा

दरभंगा नरेश महाराजा माधव सिंह ध्रुपद गायकी एवं पखावज वादन के रसिक थे। उन दिनों नवाब सुजाउद्दौला के अवध दरबार में पं० राधाकृष्ण एवं पं० कर्त्ताराम नाम के दो ध्रुपद गायक थे। दरभंगा के महाराजा माधव सिंह उनकी कला से प्रभावित थे। अतः सन् १८८५ ई० में वे इन दोनों भाइयों को नवाब सुजाउद्दौला से आग्रह पूर्वक माँगकर अपने राज्य में ले आये तथा राजगायक का स्थान देकर उन्हें अमता में बसाया। उनको साथ संगत के

---

२२. बंगाल के राजघरानों की परम्पराओं का इतिहास निम्नलिखित पर आधारित है :
भारतीय संगीत कोश : पं० विमलाकान्त राय चौधरी, अनुवादक मदनलाल व्यास
तबला कथा : (बंगाली) श्री सुबोध नन्दी
हिन्दू म्युजिक : (अंग्रेजी) राजा सर सौरिन्द्रमोहन टागोर
ढाका के जमींदार रायबहादुर केशवचन्द्र बनर्जी की व्यक्तिगत मुलाकात

लिये प्रसिद्ध पखावज वादक को भी नियुक्त किया गया। इन्हीं की परम्परा में आज के प्रसिद्ध ध्रुपदिये पं० रामचतुर मल्लिक आते हैं।

बलिया के निवासी पं० देवकीनन्दन पाठक कुदऊसिंह परम्परा के पं० मदनमोहन उपाध्याय तथा बाबा ठाकुरदास के शिष्य थे। दरभंगा दरबार में उनका पखावज वादन अनेक बार हुआ है। उनके शिष्य पं० विष्णुदेव पाठक भी अच्छे पखावजी थे तथा दरभंगा दरबार के कलाकार थे। उनके दौहित्र पं० रामाशिष पाठक इस परम्परा के सफल उत्तराधिकारी हैं तथा आकाशवाणी दरभंगा के कलाकार हैं।

पं० मदनमोहन के एक दूसरे शिष्य पं० केशो महाराज तबले के सिद्धहस्त कलाकार थे। बिहार के तबला वादकों में उनका स्थान महत्वपूर्ण था। वे गया तथा दरभंगा स्टेट में लम्बे काल तक रहे।

२८. आरा

आरा के ज़मीनदार श्री शत्रुंजय प्रसाद सिंह उर्फ लल्लन बाबू संगीत के अनन्य प्रेमी, आश्रयदाता तथा अभिजात संगीत के प्रचारक थे। वे तबला तथा पखावज के अत्यन्त प्रेमी थे। उन्होंने प्रसिद्ध पखावजी पं० देवकीनन्दन पाठक से नियमबद्ध शिक्षा पायी थी। उनकी विद्वत्ता का लोहा बड़े-बड़े गुणीजन माना करते थे।

२९. पचगछिया तथा मुज़फ्फ़रपुर

पचगछिया के विद्वान् संगीतप्रेमी ज़मीनदार रायबहादुर लक्ष्मीनारायण सिंह स्वयं अच्छे पखावजी थे। महाराज कुदऊसिंह घरानें के पं० मदनमोहन उपाध्याय के शिष्य श्री वासुदेव उपाध्याय की प्राथमिक शिक्षा ज़मीनदार रायबहादुर लक्ष्मीनारायण सिंह के द्वारा ही पचगछिया में हुई थी।

पं० वासुदेव उपाध्याय बिहार के उत्तम पखावजी माने जाते थे। अपने जीवन की उत्तरावस्था में वे मुज़फ्फ़रपुर के संगीतप्रेमी ज़मीनदार श्री उमाशंकर बाबू के आश्रित रहे। उपाध्याय जी के पुत्रों में श्री बलदेव तथा श्री रामजी उपाध्याय के नाम उल्लेखनीय हैं। श्री बलदेव के पुत्र श्री पन्नालाल उपाध्याय ने पखावज के क्षेत्र में तथा द्वितीय पुत्र श्री मदनमोहन ने तबला के क्षेत्र में अच्छा स्थान प्राप्त किया है। दोनों आकाशवाणी के कलाकार हैं।

बिहार के इन पखावजियों की वादन विशेषता उसमें गम्भीरता और अलंकारिकता का मेल है। वे विलम्बित लय में वादन की खुबियों को प्रस्तुत करते हैं। ऐसी वादन क्षमता कम पायी जाती है।[२३]

महाराष्ट्र की संगीत परम्परा

शिवाजी महाराज, उनके पुत्र-पौत्र तथा पेशवाई राज परम्परा से लेकर के गत सदी में हुए महाराष्ट्र के छोटे-मोटे सभी राज परिवारों मे संगीत एव साहित्य का महत्व तथा उसके

---

२३. बिहार के तबला एवं पखावज वादकों की व्यक्तिगत मुलाकातों पर आधारित
तथा
पटना के प्रो० सी० एल० दास से प्राप्त सूचनाओं के आधार पर।

प्रति आदर एवं कलाभक्ति की भावना देखने को मिलती है। महाराष्ट्र की जनता सदियों से कलाप्रेमी रही है। इस भूमि ने कलाकारों को तथा शास्त्रज्ञों को आश्रय दिया है।

देश के इस हिस्से को महाराष्ट्र का गौरवशाली नाम प्राप्त हुआ था। यहाँ बहुत पहले अर्थात् १३वीं शती में यादव वंश के राजाओं के प्रोत्साहन से काश्मीरी ब्राह्मण शार्ङ्गदेव ने देवगिरि में स्थायी होकर के 'संगीत रत्नाकर' जैसे अमूल्य ग्रंथ की रचना की थी।

१४ वीं शताब्दी के पश्चात् महाराष्ट्र के संगीत पर बीजापुर की आदिलशाही का प्रभाव रहा जिसके फलस्वरूप महाराष्ट्रीय राजाओं के दरबार में शास्त्रीय गायन-वादन को प्रधानता रही।

मुगल युग के उत्तरकाल में जहाँ उत्तर भारत की राजकीय एवं सांस्कृतिक परिस्थिति अस्थिर हो गयी थी तथा संगीत का स्त्रोत जहाँ ऐयाशी में डूबाकर मलिन होने लगा था, वहाँ महाराष्ट्र में संगीत का शुद्ध एवं भक्तिमय स्वरूप देखने को मिलता था। वहाँ के कलाकार संगीत को व्यवसाय नहीं वरन् विद्या और संस्कृति का माध्यम समझते थे। तदुपरांत भक्ति संप्रदाय के महाराष्ट्रीय संतों ने अपने भजन, कीर्तन अभंग की धुन से इस भूमि को भक्तिमय बना दिया था। महाराष्ट्र का भक्ति संगीत शास्त्रीय संगीत पर आधारित है अतः भजन, कीर्तन अभंग के साथ भारतीय संगीत का अभिजात स्वरूप महाराष्ट्र के घर-घर में फैल करके जन जीवन का आवश्यक अंग बन गया।

३०. शिवाजी तथा पेशवाई दरबारों में संगीत

१७वीं शती के पश्चात महाराष्ट्र के इतिहास में शिवाजी महाराज के आविर्भाव के साथ स्वातंत्र्य एवं देश प्रेम की एक नयी लहर फैल गयी। आज तक महाराष्ट्रीय जनता में जो संगीत भक्ति स्वरूप से घुलमिल गया था वह अब राज दरबारों में भी सम्मानित स्थान प्राप्त करने लगा। अभिजात संगीत के कलाकारों को राजाश्रय प्राप्त होने लगे। शिवाजी के राज्याभिषेक के उत्सव में एक सप्ताह तक गायन, वादन, नृत्य का एक महोत्सव हुआ था, जिसमें देश के नामांकित कलाकार आमंत्रित किये गये थे, ऐसा उल्लेख इतिहास में उपलब्ध है।[२४]

शिवाजी के पश्चात् पेशवाओं के दरबार में भी संगीत तथा संगीतकारों को आदरणीय स्थान मिला। पेशवाई दफ्तर से प्राप्त जानकारी के अनुसार बाजीराव पेशवा (द्वितीय) संगीत के अनन्य प्रेमी एवं साधक थे। बाजीराव-मस्तानी की प्रेम गाथा एवं संगीत साधना आज भी इतिहास में आकर्षण का केन्द्र है। बाजीराव के राज दरबार को देश के उत्कृष्ट कलाकार सुशोभित करते थे। श्रीमंत पेशवा स्वयं उन कलाकारों के साथ बैठकर संगीत के क्रियात्मक एवं शास्त्रीय पहलुओं पर चर्चा किया करते थे। गायकों एवं तंतवादकों के उपरान्त अनेक पखावजी भी उनमें शामिल होते थे जिनमें पखावजी नागु गुरव तथा पखावजी देवदास बहीरजी के नाम उल्लेखनीय है।[२५]

नाना साहब श्रीमंत के पेशवाई दरबार में मृदंगवादक धर्मा गुरव राज कलाकार थे।

---

२४. "म्यूज़िक इन महाराष्ट्र" जी० एम० रानाडे, पृष्ठ २८।
२५. वही।
२६. संगीत शास्त्रकार व कलावन्त यांचा इतिहास (मराठी) लक्ष्मण दत्तात्रय जोशी, पृष्ठ १६७।

पेशवाई के अनेक छोटे-मोटे राज्यों का महाराष्ट्र में उदय हुआ जिनमें कोल्हापुर, सागली, इचलकरंजी, सतारा, औंध इत्यादि प्रमुख हैं।

३१. सतारा

महाराष्ट्र के राज परिवारों मे सतारा के महाराज श्रीमंत भाऊसाहेब का उल्लेख विशेष महत्वपूर्ण है। संगीत के चाहक एवं कलाकारों के आश्रयदाता के साथ-साथ वे स्वयं उच्च कोटि के मृदगाचार्य थे। उन्होंने सुप्रसिद्ध मृदंगकेसरी नाना पानसे से शिक्षा पायी थी। अपने गुरु पानसे जी को साल में कई महीने वे अपने वहां बुला लेते थे और उनसे गंभीरता पूर्वक नियमबद्ध शिक्षा ग्रहण करते थे। उस अवधि में आसपास के दूसरे कलाकार भी पानसे जी से सीखने के हेतु सतारा चले आते थे।

श्रीमंत भाऊसाहब को पखावज के प्रति इतनी भक्ति थी कि देश के उत्कृष्ट कलाकारों को तो वे अपने यहाँ आमंत्रित करते ही थे, जहाँ कोई अच्छे कलाकार को सुनने का मौका मिले वहाँ स्वयं बिना संकोच चले जाते थे। कुदऊसिंह परम्परा के वयोवृद्ध साधक पडित अनतबुवा साधले का पखावज सुनने के हेतु भाऊसाहेब की कोल्हापुर यात्रा का उल्लेख कई जगह प्राप्त होता है जो उनकी अनन्य संगीत भक्ति का उदाहरण है।

श्रीमंत भाऊसाहब ने तासगांव के श्री धर्माजी गुरव को तथा सतारा के श्री गोविन्द सिंह चौहाण को मृदग की शिक्षा दी थी। इन दोनों कलाकारों ने अपने-अपने क्षेत्र में काफी प्रसिद्धि प्राप्त की थी।

३२. कोल्हापुर

कोल्हापुर के श्रीमत छत्रपति शाहु महाराज सगीत के बड़े रसिक थे। उस्ताद अल्ला-दिया खां को वे अपने राज दरबार में बड़े आदर के साथ ले आये थे। तब से मरण-पर्यन्त वे कोल्हापुर में ही रहे थे। उस्ताद के अतिरिक्त अनेक उत्कृष्ट कलाकार उनके राज दरबार को सुशोभित करते थे, जिनमें उनके पुत्र उस्ताद मंजी खां, विश्वनाथ बुवा जाधव, उस्ताद भूरजी खां, पडित बापूराव दिंडे इत्यादि प्रमुख है। श्री बापूराव दिंडे तबला तथा पखावज दोनो के कुशल कलाकार थे तथा नगाड़ा वादन में भी पटु थे।

३३. इचलकरंजी

दूसरी रियासतों की तरह इचलकरजी भी संगीत रसिकों का धाम रहा। यहाँ के नरेश बड़े संगीतप्रेमी थे। युग संगीतकार पडित विष्णु दिगम्बर पलुस्कर जी के गुरु पडित बालकृष्ण इचलकरंजीकर वहीं के निवासी थे। कलाकारों को आश्रय देने के साथ-साथ इचलकरंजी नरेश ने अनेक उदीयमान विद्यापिपासु विद्यार्थियों को संगीत शिक्षण के लिये व्यवस्था कर दी थी जिनमे से कुछ नामी कलाकार बन सके।

मराठी राजदरबारों के उपरान्त देश के दूसरे राज्यो में भी अनेक महाराष्ट्रीय कला-कारो को सम्मानीय स्थान प्राप्त हो सका था, जिनमें मैसूर, वडोदरा, इन्दौर, ग्वालियर, हैदराबाद इत्यादि प्रमुख हैं।

महाराष्ट्र की नाट्य संस्थाओं में संगीत का विकास

महाराष्ट्र के संगीत एवं संगीतकारों के इतिहास का अवलोकन करते समय यदि हम महाराष्ट्रीय नाट्य संस्थाओं का उल्लेख करना भूल जायें तो संगीत का यह इतिहास अधूरा ही रह जायेगा। महाराष्ट्र में नाट्य कला, अभिनय तथा नाट्य संगीत का जो बहुमुखी विकास हुआ है वह बंगाल को छोड़कर देश के किसी भी हिस्से में नहीं देखने को मिलता। नाटक, मराठी जनता के दैनिक जीवन का मात्र मनोरंजन ही नहीं, आवश्यक अंग भी है जिसका श्रेय उन नाटक कम्पनियों को जाता है जिन्होंने महाराष्ट्र के छोटे-छोटे गाँवों तथा शहरों में घूम कर उच्च कोटि के कलाकारों को सामान्य जनता के समक्ष प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। इन नाटक कम्पनियो की सफलता मुख्यतः उनके नाट्य संगीत पर आधारित थी जो पूर्णतः शास्त्रीय संगीत पर अवलम्बित थी।

गत सदी की ऐसी अनेक सुप्रसिद्ध नाटक कंपनियों में कुशल गायक एवं नाट्यकार बालगंधर्व की "बालगंधर्व नाटक कंपनी," केशवलाल भोंसले की "ललित कला दर्शक मंडली", किर्लोस्कर की "किर्लोस्कर नाटक कंपनी" तथा विश्वनाथ बुवा की "नाट्य कला प्रवर्तक मंडली" इत्यादि प्रमुख हैं। इन नाटक कंपनियों की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि इनमें देश के महान् गायक वादक काम करते थे जिनमें पंडित भास्कर बुवा बखले, मीराशी बुवा, सवाई गांधर्व, पंडित गणपति बुवा, नटसम्राट् बालगंधर्व, श्रीमती ज्योत्स्ना भोले, उस्ताद अहमदजान थिरकवा, उस्ताद बलवन्तराय एकडीकर, पंडित भास्कर बुवा चौघुले इत्यादि जैसे कलावन्तों के नाम अग्रगण्य हैं। इन कलाकारो को सुनने के लिए लोगो की भीड़ लग जाती थी। नाटक में उनका नाम अंकित किया जाता था। अतः लोग उनको सुनने के लिये बेचैन हो जाते थे। यही कारण है कि नाट्य संगीत के बहुमुखी प्रचार ने उनमें प्रयुक्त राग-रागिनियो एवं तालो के शुद्ध रूपों को महाराष्ट्र के घर-घर तक पहुँचा दिया।

मराठी राजा-रजवाड़ो ने यद्यपि अभिजात संगीत एवं उसके कलाकारो को सदैव आश्रय दिया तथापि इसके विपुल प्रचार एवं प्रसार का श्रेय इन नाटक कंपनियों तथा उनके कलाकारों को जाता है। महाराष्ट्र की रसिक जनता अपनी सांस्कृतिक, कलात्मक एवं आध्यात्मिक जागृति के लिये, भक्ति संप्रदाय के उन संतो, नाटक कंपनियों के मालिकों एवं कलाकारो की सदैव ऋणी रहेगी।

••

अध्याय ११

तबले की कुछ विशेष परम्परायें

१. गोमान्तक (गोवा) की तबला परम्परा

प्रकृति ने जिसे अपने चारों हाथों से सौंदर्य और कला से समृद्ध किया है, ऐसा गोमान्तक (गोवा) प्रदेश ने भारतीय संगीत की युगों पुरानी परम्परा को अपने आँचल में संभाले रखा है। यहाँ सैकड़ों कलाकार हुए हैं, जिन्होने सम्पूर्ण देश में प्रसिद्धि प्राप्त की है। गोवा ने जहाँ एक ओर शास्त्रीय गायन संगीत में सुर श्री केसरबाई केलकर तथा सुगम संगीत में लता मंगेश्कर जैसी संगीत सम्राज्ञियाँ दी हैं वहाँ दूसरी ओर लय भास्कर खाप्रुमामा (सन् १८८० ई० से सन् १९५३ ई०) जैसा लय का स्वामी भी दिया है। इसकी परम्परा में एक विशेष महत्वपूर्ण बात यह देखने को मिलती है कि जब सारे भारत में संगीत कला पर मुसलमान कलाकारो का प्राधान्य रहा, तब गोवा में हिन्दू कलाकारों ने संगीत को संभाला तथा उसे गौरवान्वित किया। यही विशेषता हमें बनारस घरानें में भी देखने को मिलती है।

तबला वादन के क्षेत्र में गोवा का अपना पृथक् अस्तित्व है। वहाँ तबले के बहुत से उत्कृष्ट कलाकार हो गये हैं। विशेषतः लयकारी के क्षेत्र में पं० खाप्रुमामा पर्वतकर जी ने जो अद्वितीय स्थान प्राप्त किया, वह आज भी संगीत जगत में रिक्त है। वे लयकारी के ऐसे प्रकाण्ड पंडित थे कि उनके असाधारण लय चमत्कारों ने बड़े-बड़े उस्तादों और तालज्ञों को स्तब्ध कर दिया था। एक हाथ से झपताल, दूसरे हाथ से आडा चौताल, एक पैर से एकताल, दूसरे पैर से सवारी और मुंह से तीनताल बोलकर सबका सम एक साथ में ले आने की अप्रतिम कला उन्हें सहज साध्य थी, जो विश्व में दुर्लभ है। लयकारी के अनेक ऐसे चमत्कार वे सरलता से किया करते थे जिन्हें करना तो दूर, एक बात सोचना या समझना भी असम्भव सा है। आज के 'तैयारी' के युग में जहाँ केवल 'धरधर फरफर' को ही तबला समझकर तालियो से उसका स्वागत किया जाता है, जहाँ सस्ती प्रसिद्धि को पाने के लिए तबलिया उधम मचाने में जी नहीं चुराता, जहाँ तबले पर रेलगाड़ियाँ चलाने को कलाकारी समझी या समझायी जाती है जहाँ हमारे पुराने उस्तादो की अप्रतिम बन्दिशों को सुनना शनैः-शनैः दुर्लभ होता जा रहा है वहाँ खाप्रुमामा जैसी असाधारण लयकारी की बातों के लिए सोचना दुष्कर नहीं तो क्या है ?

'लय' तबले का प्राण है। लयकारी अपने आप में एक विद्या है। वह गणित है। इस गणित के महत्व को यदि तबले से निकाल दिया जाये तो हमारा तबला दरिद्र हो जायेगा। किन्तु यह भी उतना ही सत्य है कि केवल गणितशास्त्र की सूक्ष्मताओं और विचित्रताओं की अभिव्यक्ति ही तबला वादन नही है। तबले में घरानेंदार बन्दिशों का समावेश, तैयारी, स्पष्टता एवं माधुर्य का सुमेल तथा अभिव्यक्ति की मौलिकता अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं आवश्यक अंग है। अतः वही कलाकार उच्चकोटि का तबला वादक कहलाया जा सकता है जिसके वादन में बोल-बन्दिश, स्पष्टता, मधुरता, लयकारी, तैयारी तथा आकर्षक प्रस्तुतीकरण की मौलिक शैली जैसे सभी अंगों का विवेकबुद्धि से सुमेल हुआ हो।

खाप्रूमामा के पदचिह्नों पर चल करके उनके सुपुत्र पं० रामकृष्ण पर्वतकर ने भी तबला वादन में, विशेषतः लयकारी के क्षेत्र में काफी प्रगति की थी। वे काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के प्राध्यापक थे और अपने पिता की तरह ही लयकारी में निष्णात थे। दुर्भाग्य से उनकी मृत्यु युवावस्था में ही सन् १९५६ ई० में काशी में हुई। खाप्रूमामा के शिष्यों में श्री विश्वम्भरनाथ पर्वतकर तथा डॉ० मलबाराव सरदेसाई के नाम आते हैं। डॉ० मलबाराव सरदेसाई ने तबले तथा गोमान्तक की कला पर अनेक पुस्तकें लिखी हैं।

गोवा के गत पीढ़ी की दूसरे सुप्रसिद्ध तबला वादकों में सर्वश्री मुरारबा पेडणेकर, रामचन्द्र गोवेकर, घनश्यामराव गुरव पर्वतकर, लक्ष्मणराव काले, हरिश्चन्द्र जांबावलीकर, रामाराव फातर्पेकर, रघुनाथ माशेलकर, यशवन्त विट्ठल नाईक (वल्लेमामा), दत्ताराम नान्दोडकर, रघुनाथ पेन्टर, शंकर गुणीजन, कामुराव मगेश्कर, घुंडी कालकर, मनोहर शिरगांवकर इत्यादि अनेक नाम उल्लेखनीय हैं जिनमें पं० यशवन्त विट्ठल नाईक (वल्लेमामा), पं० कामुराव मगेश्कर, श्री दत्तात्रय नान्दोडकर तथा श्री शंकर गुणीजन अपने समय के प्रतिभावान कलाकार माने जाते हैं। श्री शंकर गुणीजन के अनेक शिष्यों में अमरावती के श्री शकरराव मूर्तिजापूरकर तथा प्रशिष्य लड्डू खाँ के नाम उल्लेखनीय हैं। पं० कामुराव मगेश्कर की अद्भुत संगत की प्रशंसा करनेवाले अनेक रसिकजन आज भी उपस्थित हैं।

गोमान्तक के बहुतेरे कलाकार अपनी जीविका हेतु गोवा छोड़कर महाराष्ट्र, मैसूर, उत्तर प्रदेश इत्यादि राज्यों में तथा बम्बई, पूणे, बेलगांव, धारवाड़, हैदराबाद तथा दूसरे अनेक बड़े शहरों में जा बसे हैं।

आधुनिक काल में गोवा के कुछ प्रतिष्ठित कलाकारों में सर्वश्री परशुराम कामुलकर, गोपीनाथ मगेश्कर, यशवन्त केलकर, संभाजी पर्वतकर, विट्ठल आचरेकर, अण्णा आमोणकर, डी० एम० पर्वतकर, पंढरीनाथ नागेश्कर, यशवन्त नागेश्कर, श्रीपाद नागेश्कर, प्रभाकर च्यारी इत्यादि के नाम लिये जाते हैं।

उ० मुनीर खाँ के सुप्रसिद्ध शिष्य पंडित सुब्बाराव अंकोलकर गोवा के ही थे, जो ग्रामनगर के बलदेव सा परम्परा से भी सम्बन्धित थे। हुबली के श्री० एस० वाय० नागवेकर, पेण के पंडित विनायकराव घांग्रेकर तथा गोवा-बम्बई के पंडित पंढरीनाथ नागेश्कर ने उनसे सीखा था। पंडित पंढरीनाथ के अनेक शिष्य हैं जिनमें श्री सुरेश तलवलकर, श्री नाना मूले, तथा उनके सुपुत्र श्री विभव नागेश्कर प्रमुख हैं।

तबले में गोमान्तक का अपना एक स्वतन्त्र बाज है। वहीं एक अलग प्रकार के ठेके बजाने की प्रथा भी देखी जाती है जो गोवा के बाहर कम दिखाई देती है। उदाहरण के रूप में झपताल का ठेका प्रस्तुत किया जाता है।[1]

ताल झपताल

ठेका

धा क्ड	धागे नधा गेन	धा क्ड	धागे नधा गेन
×	२	०	३

१. गोमान्तका ची प्रतिभा (मराठी) श्री वा० द० सातोस्कर, पणजी, गोवा
तथा
श्री मनवाराव सरदेसाई सहित गोवा के कुछ तबला वादकों की मुलाकातों पर आधारित।

२. मुरादाबाद की परम्परा

तबले के क्षेत्र में मुरादाबाद की कोई अपनी विशेष परम्परा या बाज नहीं है। वहाँ जन्में प्रायः सभी सुप्रसिद्ध कलाकारों ने किसी न किसी परम्परागत घरानेंदार उस्तादों से ही शिक्षा पायी जिनकी अविरत साधना और सिद्धि ने इस शहर को एक पृथक् महत्व प्रदान किया तथा एक ऐसा वातावरण उत्पन्न किया जिसके कारण मुरादाबाद का नाम तबले के क्षेत्र में सविशेष विख्यात हुआ।

मुरादाबाद के कलाकारों पर पूरब के लखनऊ तथा फरुक्खाबाद घरानें का सविशेष प्रभाव है। उन्नीसवी शती के अन्त में मुरादाबाद में उ० मोहम्मद हुसेन खाँ नाम के एक तबला वादक हुए जो देश भर में प्रसिद्ध थे। वे लखनऊ घरानें के सुविख्यात कलाकार उ० मोहम्मद खाँ के शिष्य थे। उ० मोहम्मद हुसेन खाँ के प्रमुख शिष्यों में उ० मौलाबख्श का नाम आता है जो गत पीढ़ी के श्रेष्ठ तबलानवाजों में से एक थे। उ० मौलाबख्श फरुक्खाबाद घरानें के प्रसिद्ध कलाकार उ० रहीमबख्श के पुत्र थे। यही कारण है कि पिता की ओर से फरुक्खाबाद घरानें की तथा गुरु की ओर से लखनऊ घरानें की विद्या का विपुल भंडार उन्हे कंठस्थ था। रामपुर के नवाब उनके वादन पर इतने मुग्ध थे कि उनको दरबारी कलाकार का सम्मानीय स्थान देकर उन्हे रामपुर ले गये थे। उनके प्रमुख शिष्यों में गोपालजी तथा कालीबाबू के नाम उल्लेखनीय हैं।[२]

मुरादाबाद शहर उ० अहमदजान थिरकवा का ननिहाल रहा है और थिरकवां खाँ का बचपन मुरादाबाद में बीता। उस्ताद के नाना करम इत्तल बख्श तथा उनके भाई उ० इलाही बख्श दोनों उत्कृष्ट तबलावादक थे। वे फरुक्खाबाद के हाजी विलायत अली के शिष्य थे। इन दोनों भाइयो ने हाजी साहब का शिष्यत्व उनके युवा काल में ग्रहण किया था। फलतः मरते समय हाजी विलायत अली ने अपने अंतिम शिष्य छुन्नु खाँ बरेली वाले का हाथ उ० इलाही बख्श के हाथों में सौंप कर छुन्नु खाँ की अधूरी तालीम को पूरा करवाने का वचन उनसे लिया था, जिसे उ० इलाहीबख्श ने अपने अंतिम समय तक निभाया।[३]

उ० करम इत्तलबख्श के तीन पुत्र थे—उ० फैयाज हुसेन खाँ, उ० बसुवा खाँ तथा उ० चाँद खाँ। यह तीनों भाई अपने पिता तथा चाचा से सीख करके छोटी उम्र में ही अच्छे तबलावादक हो गये, जिनमें उ० फैयाज हुसेन खाँ का नाम विशेप उल्लेखनीय है। उ० फैयाज हुसेन ने मियाँ सालारी खाँ के प्रमुख शिष्य गुलाम हुसेन खाँ से भी तबले की दीर्घकालीन शिक्षा प्राप्त की थी फलतः तबला के क्षेत्र में आज भी उ० फैयाज हुसेन खाँ मुरादाबाद वाले का नाम काफी प्रसिद्ध है। ये तीनो भाई उ० अहमदजान थिरकवां के मामा लगते थे अतः उ० थिरकवा को प्राथमिक शिक्षा मुरादाबाद में उनके मामाओं द्वारा विशेषतः उ० फैयाज हुसेन खाँ द्वारा हुई थी। उ० अहमदजान के एक चाचा उ० शेर खाँ भी मुरादाबाद के रहनेवाले थे। वे विद्वान् तबलावादक थे तथा फरुक्खाबाद के उपरान्त दिल्ली घरानें के तबले के भी उत्तम ज्ञाता थे। उ० शेख अब्दुल करीम खाँ उन्हीं के शिष्य हैं।[४] उ० अहमदजान थिरकवा ने अपने चाचा

२. ध्यान रहे कि इन्दौर वाले उ० मौलाबख्श तथा मुरादाबाद वाले उ० मौलाबख्श दो पृथक् व्यक्ति हैं।

३. प्रो० रमावल्लभ मिश्र (बरेली) की मुलाकात पर आधारित।

४. शेख अब्दुल करीव खाँ (अब्दुल ऐग) की मुलाकात पर आधारित।

उ० शेर खाँ से भी सीखा था। उनके ममेरे भाई लंगड़े अहमद अली खाँ भी अच्छे तबलावादक थे जिन्होंने अपने पिता उ० चाँद खाँ तथा मामा उ० फैयाज़ हुसेन खाँ तथा उ० वसुवा खाँ से शिक्षा प्राप्त की थी।

सुप्रसिद्ध तबला वादक स्व० शमशुद्दीन खाँ का बचपन मुरादाबाद में ही बीता। कहते हैं कि अहमदजान और शमशुद्दीन दोनों एक साथ बैठकर उ० फैयाज़ हुसैन से तालीम लिया करते थे। इसके पश्चात् दोनों एक साथ बम्बई आये तथा उ० मुनीर खाँ साहब के गंडाबद्ध शिष्य बन गये।

मुरादाबाद की परम्परा में उ० मुस्तफा हुसेन खाँ तथा उनके पुत्र उ० गुलाम हुसेन खाँ के नाम भी आते है। वे दोनों मियाँ सलारी खाँ के शिष्य थे। उ० गुलाम हुसेन खाँ अपने समय के उच्चकोटि के कलाकार माने जाते थे। उन्होंने अनेक नामी शिष्य तैयार करके तबले का विपुल प्रचार किया। तदुपरान्त मुरादाबाद के उ० नज़ीर खाँ से पंडित जगन्नाथ प्रसाद भट्ट ने शिक्षा पायी थी और उ० नन्हे खाँ मुरादाबाद वाले से उ० आज़ीम खाँ जावरावाले ने शिक्षा पायी थी। खेद है कि उ० नन्हे खाँ तथा उ० नज़ीर खाँ के गुरुओं के नाम प्राप्त नहीं हो सका, किन्तु ये दोनों मुरादाबाद के ही निवासी थे।

३. उ० मुनीर खाँ की परम्परा

श्री अरविन्द मुलगावकर कृत मराठी पुस्तक 'तबला' के पृष्ठ ३११ में उ० मुनीर खाँ की परम्परा को बम्बई घरानें के नाम से सम्बोधित किया गया है। उ० मुनीर खाँ देश के समर्थ तबलानवाज थे। उनकी शिष्य परम्परा अत्यंत विशाल है। सर्वश्री अहमद जान थिरकवा, अमीर हुसेन खाँ तथा गुलाम हुसेन खाँ जैसे समर्थ कलाकारों के वे प्रणेता थे। ऐसे महान् कलाकार तथा उनकी शिष्य परम्परा की चर्चा यद्यपि दिल्ली तथा फरुक्खाबाद घरानें के इतिहास में हो चुकी है तथापि तबले के क्षेत्र में उनके व्यक्तिगत योगदान पर पुनः विचार कर लेना यहाँ आवश्यक होगा।

उ० मुनीर खाँ के जीवन का बहुत बड़ा भाग बम्बई मे बीता। उनका जन्म दिल्ली के पास मेरठ में हुआ था। केवल नौ-दस वर्ष की अल्पायु में विद्योपार्जन के हेतु वे बम्बई आये और वर्षोंपर्यन्त वहीं रहे। उनकी संपूर्ण तालीम बम्बई में हुई थी। तबला के अतिरिक्त वे पखावज के भी अच्छे जानकार थे। मेरे पूज्य गुरु उ० अमीर हुसेन खाँ कहा करते थे कि उ० मुनीर खाँ ने अलग-अलग घरानों के चौबीस गुरुओं से शिक्षा प्राप्त की थी जिसके फलस्वरूप उनके पास प्रत्येक घरानें की अनमोल विद्या का विपुल भण्डार था।

यह उस समय की बात है जब कि संगीत में घराने का महत्व चरमोत्कर्ष पर था। घरानेंदार कलाकार अपने घरानें की विद्या को छोड़कर दूसरे घरानें का बाज त्याज्य समझते थे। ऐसे समय में पुरातनवादियों के बीच में रहते हुए भी उ० मुनीर खाँ अपने युग से सौ वर्ष आगे थे। उन्होंने अपने विशाल ज्ञान के आधार पर घरानों की शैलियों का सम्मिश्रण करके एक अनोखी नवीन शैली को जन्म दिया जब कि उस समय की परिस्थिति में इसकी कल्पना भी दुर्लभ थी। उ० मुनीर खाँ ने विविध बाजों की पृष्ठभूमि पर अनेक नवीन रचनाएँ की तथा अपनी इस ज्ञान संपत्ति को उदार मन से अपने विशाल शिष्य समुदाय में बाँटकर आने वाले नवीन पथ के प्रति निर्देशित किया था। महाराष्ट्र में आज जो तबला बज रहा है

उसका अधिकाश श्रेय उ० मुनीर खाँ तथा उनके महारथी शिष्य उ० अहमदजान थिरकवा एवं उ० अमीर हुसेन खां को जाता है।

श्री अरविन्द मुलगांवकर ने उनकी शैली को 'वम्बई घराना' कहा है।[५] घरानें का अर्थ अलग होता है।[६] उ० मुनीर खाँ की शैली घरानें की परिधि में नहीं बैठती, किन्तु तबले के क्षेत्र में उनके अनन्य योगदान को देखते हुए उनकी परम्परा को यदि 'वम्बई परम्परा' के नाम से सम्बोधित किया जाम तो उचित होगा किन्तु वम्बई घराना अथवा बम्बई परम्परा के नाम का समर्थन मुझे कही किसी भी कलाकार अथवा सगीतज्ञ से प्राप्त नहीं हुआ। किसी भी तबलावादक को बम्बई घराने के पृथक् अस्तित्व की जानकारी नही है अतः अनुमान है कि यह श्री मुलगांवकर की अपनी निजी धारणा होगी। आज जब घरानें का सूर्य अस्तांचल पर पहुँच चुका है तब एक नवीन घराने के उद्भव की कल्पना करना कहाँ तक उचित है वह तो आनेवाला कल ही बतायेगा।

निसंन्देह उ० मुनीर खां ने सैकड़ों शिष्यों को तैयार करने के साथ-साथ स्वतंत्रवादन के प्रस्तुतीकरण की नवीन शैली का प्रारभ करके इस क्षेत्र में नवीन चेतना का संचार किया है। आज के स्वतत्र तबलावादन में पिछले पचास वर्षों से काफी अंतर दिखाई देता है। आज का तबला सभी घरानो के मेल मिलाप का तबला है। 'हम केवल दिल्ली बाज ही बजाते है।' या 'हमारे तबले में पूरब बाज के सिवा और कुछ भी सुनायी नहीं देगा।' ऐसा अधिकार पूर्वक कहने वाले कलाविद् उँगलियों पर गिने जा सकें, उतने भी कदाचित् ही शेष बचे हैं।

५ उड़ीसा की तबला परम्परा

तबले के क्षेत्र में उड़ीसा की अपनी कोई परम्परा नहीं है। वहाँ तबले का प्रचार बाहर से आये हुए अन्य प्रात के कलाकारों द्वारा हुआ जिनमें ग्वालियर के पं० रामप्रसाद मिश्र तथा जयपुर के उ० बशीर खां तथा उ० नजीर खां प्रमुख है। इनके उपरान्त मिदनापुर के पडित द्विजेन बाबू तथा पंडित पचानन सन्याल ने भी वहाँ तबले के प्रचार में महत्वपूर्ण योग दिया। दुर्भाग्य से इन सबकी शिष्य परम्परा प्राप्त नही होती।

भुवनेश्वर, पुरी और कटक के कलाकारों में पं० जगमोहन नायक एक कुशल तबला वादक माने जाते थे। उनके प्रमुख शिष्यों में श्री कनाईलाल घोष तथा श्री क्षेत्रमोहन कौर प्रमुख हैं। श्री क्षेत्रमोहन कौर के शिष्यों में सर्वश्री देवेन दत्त, भगवती आचार्य तथा उनके सुपुत्र उमेशचन्द्र कौर उल्लेखनीय हैं। कनाईलाल घोष के शिष्यों में राधा गोविन्द घोष, जयकृष्ण कहाली तथा भागवत दत्त प्रमुख हैं।[७]

४ पखावज के घरानों की तबला परम्परा

नाना पानसे घरानें की तबला परम्परा

एक युग था जब भारतीय संगीत के तालवाद्यों पर मृदंग तथा उसके कलाकारों का

---

५. तबला (मराठी) : श्री अरविन्द मुलगांवकर, पृष्ठ ३११

६. देखिये इस पुस्तक का प्रथम अध्याय

७. श्री क्षेत्रमोहन कौर की जगन्नाथपुरी में ली गयी मुलाकात तथा : गवोध पर आधारित।

एकतंत्री राज्य था, किन्तु आज समय के चक्र ने सब कुछ परिवर्तित कर दिया है। आज संगीत के हर क्षेत्र में तबले का बोलवाला है। अतः पखावज के अनेक कलाकार तबले के प्रति आकर्षित होकर जीवन निर्वाह हेतु उसे अपनाने लगे हैं। इसे समय के साथ किये गये समझौता का प्रतीक कहा जा सकता है।

नाना पानसे का घराना मूलतः पखावज का घराना है। पखावज की परम्परागत विद्या इस घरानें में पिछली दो सदियों से चली आ रही है। किन्तु नाना पानसे स्वयं बड़े बुद्धिमान तथा समयसूचक व्यक्ति थे। उन्होंने समय की परिवर्तनशील धारा को उन दिनों पहचान लिया था जब पखावज की परम्परा का सूर्य पूर्णतः मध्याह्न में था। आनेवाले युग में तबले का प्रभुत्व होगा इस बात को समझकर उन्होने अपने जीवन काल में ही पखावज के साथ-साथ तबले की वादन शैली पर भी गंभीरता से विचार किया। पखावज की अपनी वादन शैली तथा बोल-बन्दिशों में आवश्यक परिवर्तन करके उन्होंने तबले के एक नवीन बाज का आविष्कार किया और उसे अपने शिष्यो को सिखाकर उसका प्रचार किया। पं० वामनराव चांदवडकर जैसे अनेक व्यक्ति उनके प्रमुख तबले के ही शिष्य थे। इस प्रकार इनसे तबले की एक नवीन परम्परा प्रारम्भ हुई जो उनके शिष्यो-प्रशिष्यों में फैलकर नाना पानसे घरानें की तबला परम्परा के नाम से भारत में प्रसिद्ध हुई। पखावज की तरह ही तबले के क्षेत्र मे भी नाना पानसे जी के शिष्य परिवार की सूची बहुत लम्बी है।

वादन शैली की विशेपताएँ

पखावज के बोल तबले में परिवर्तित किये जाने के कारण इस बाज पर पखावज का गहरा प्रभाव है। तबले के सर्वसाधारण सुप्रसिद्ध घरानों के बाजो से वह सर्वथा भिन्न है तथा उसकी बन्दिशो एव बोल निकास मे भी अन्तर दिखायी देता है। उसकी गत तथा परनो में हमें कविता की पंक्तियो सा आनन्द मिलता है। महाराष्ट्र तथा मध्यप्रदेश में इस बाज का विशेष प्रचार है। महाराष्ट्र के छोटे-छोटे गाँवों या शहरो में कही किसी न किसी से यह बाज सुनने को मिल जाता है।

मंगलवेढेकर घरानें की तबला परम्परा

नाना पानसे की तरह मंगलवेढेकर घरानें में भी तबले का प्रचार हुआ। पण्डित केशव-बुवा जोशी मगलवेढेकर के समय तक मगलवेढेकर घरानें में तबले का प्रचार नही था। पिछले पचास-साठ वर्षों से इस घराने में भी तबले का प्रवेश हुआ और आज तो यह हालत है कि मृदगा-चार्य पण्डित दत्तोपन्त तथा पण्डित शकरराव मंगलवेढेकर जैसे कुछ इने-गिने प्रमुख कलाकारो को छोड़कर इस घराने में तबले का ही प्रचार विशेष रूप से देखने को मिलता है।

सम्भवतः पचास वर्ष पूर्व मृदगाचार्य पण्डित दत्तोपन्त व मगलवेढेकरजी ने जब तबले के प्रचार को दिन प्रतिदिन बढ़ते हुए देखा तो उन्होंने भी तबले की वादन शैली एव विशेषताओ पर ध्यानपूर्वक मनन किया। अपने पखावज घरानें की शैली में बन्द बाज का प्रयोग करके एक नवीन शैली का आविष्कार किया और उसका प्रचार किया।

आज मगलवेढेकर घरानें में पखावज की ही भांति तबला वादन का भी प्रचार है। दत्तोपन्त एव पण्डित शकरराव के बहुतेरे शिष्य तबला वादक ही है। इस प्रकार

महाराष्ट्र मे पखावज एवं तबला इन दोनो ताल वाद्यो के प्रचार एवं प्रसार में मगलवेढेकर घराने का महत्वपूर्ण योगदान है।

५. कथक नृत्य के घरानों में तबले का प्रचार

तबला तथा पखावज से कथक नृत्य का घनिष्ट सम्बन्ध रहा है। लखनऊ, जयपुर तथा बनारस जैसे नृत्य घरानों के कथक नृत्यकार नृत्य के साथ-साथ भजन, ठुमरी, होरी इत्यादि गायन तथा तबला एवं पखावज वादन में भी दक्ष होते है क्योकि नृत्य की पूर्णता के हेतु इन कलाओं से परिचित होना आवश्यक होता है। नृत्य से सबधित होने के कारण इनके वादन पर तबले की मूल "तकनीक" के साथ ही नृत्य के तोड़े, टुकडे, चक्रदारों की झलक विशेष देखी जाती है।

लखनऊ के पण्डित कालकादीन-बिन्दादीन, पण्डित अच्छन महाराज, पण्डित शंभु महाराज, पण्डित लच्छू महाराज, जयपुर के पण्डित नारायण प्रसाद, पण्डित सुन्दरलाल, पण्डित चिरजीलाल, पण्डित जियालाल इत्यादि अनेक श्रेष्ठ नृत्यकारों के उपरान्त आज के युग के पण्डित बिरजू महाराज, श्रीमती सितारादेवी, महाराज कृष्ण कुमार, नटराज गोपीकृष्ण तथा दूसरे अनेक नृत्यकार तबलावादन के कुशल ज्ञाता हैं। इनमें से कई नृत्यकारों ने तो केवल तबले के ही शिष्य तैयार किये हैं जिनमें सुप्रसिद्ध कथक पण्डित जियालालजी के शिष्य प्रो० लालजी श्रीवास्तव (इलाहाबाद), पण्डित नारायण काली (पखावज) तथा उस्ताद हिदायत खाँ (जयपुर) आदि तबला वादकों के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

● ●

प्रकीर्ण

तबले के विभिन्न घरानें तथा परम्पराओं का विस्तृत विश्लेपण कर देने के पश्चात् अन्त में अब ऐसे कलाकारों का उल्लेख शेष रह जाता है जिनके विषय में पूर्ण जानकारी के अभाव में, घराने की परम्पराओ मे जिनके नाम सम्मिलित नहीं हो सका है किन्तु अच्छे तबला वादक के रूप में जिनका व्यक्तिगत योगदान महत्वपूर्ण रहा है।

हकीम मोहम्मद करम इमाम की पुस्तक मअदन-उल-मूसिकी में उन्नीसवीं शताब्दी के कलाकारों की जानकारी प्राप्त होती है। लेखक ने अपनी पुस्तक में अनेक तबला वादक तथा नक्कारा वादकों का परिचय दिया है।

ओनाम निवासी अघावन उन्नीसवी शताब्दी में हुए थे। तबला तथा नक्कारा वादन में वे कुशल थे। वे लखनऊ घरानें से सम्बन्धित थे, किन्तु उनके गुरु का नाम प्राप्त नहीं होता।

ओनाम निवासी घूरन खाँ प्रसिद्ध कलाकार अहमद खाँ के दामाद थे। वे तबला तथा नक्कारा वादन में कुशल थे। वे वाजिदअली शाह के युग में हुए।

छिद्दा खाँ तबला वादक रामपुर के नवाब कल्वे अली खाँ (ई. स. १८६४ से ई. स. १८८७) के दरबार के आश्रित कलाकार थे।[१]

इनके उपरान्त रहीम खाँ, हसन खाँ ढाढ़ी, अमीर खाँ आदि तबला वादक तथा कासिम खाँ, मखदूम बख्श, घसीट खाँ, बनारस के सुजान खाँ, झाँसी के रघुनाथ सिंह, ओनाम के झब्बू खाँ आदि नक्कारा वादक उन्नीसवी शती के प्रख्यात कलाकार थे।[२]

बीसवी शताब्दी के विगत वर्षों में तबले के क्षेत्र मे सैकड़ों हजारों ऐसे नाम मिलते हैं जो घरानों की वंश परम्पराओ में सम्मिलित नहीं किये जा सके है। इनमें से कुछ तो अपने आप में अद्वितीय रहे हैं। इन सबके मात्र नामोल्लेख से भी अनेक पृष्ठ भर सकते हैं। संभव है कि इस चर्चा में कुछ महत्वपूर्ण विद्वानों एवं कलाकारों के नाम छूट गये हों। मैं इसके लिये क्षमा प्रार्थी हूँ।

●●

---

१. मुसलमान और भारतीय संगीत : आचार्य बृहस्पति, पृ० ८६ से ६२।
तथा
खुसरो, तानसेन तथा अन्य कलाकार : सुलोचना-बृहस्पति : पृ० २४२-२५०।

२. मअदन-उल-मूसिकी : हकीम मोहम्मद करम इमाम पृ० २३ से ५०।
तथा
मुसलमान और भारतीय संगीत एवं खुसरो तानसेन तथा अन्य कलाकार : आचार्य बृहस्पति एवं सुलोचना बृहस्पति तथा भातखडे संगीत शास्त्र—भाग चौथा : वि० न० भातखंडे पृष्ठ १११।

संदर्भित ग्रन्थों की सूची

आईन-ए-अकबरी : अबुलफजल
अनुवाद हरिशंकर राय शर्मा
महामना प्रकाशन मंदिर, इलाहाबाद : १९६६

कीर्तन संग्रह, भाग २

खुसरो, तानसेन तथा अन्य कलाकार : श्रीमती सुलोचना बृहस्पति तथा आचार्य बृहस्पति
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली : १९७६

गोमान्तका ची प्रतिभा (मराठी) : श्री वा० द० सातोस्कर, पणजी, गोवा

तबला (मराठी) : श्री अरविन्द मुलगांवकर
साधना प्रकाशन, पुणे : १९७५

तबला कथा, भाग १, २ (बंगाली) : श्री सुबोध नन्दी

तबला शास्त्र : श्री मधुकर गणेश गोडबोले
अशोक प्रकाशन मंदिर, इलाहाबाद : १९५२

तबला शास्त्र प्रभाकर (बंगाली) : श्री जयकृष्ण महन्ती

तबले पर दिल्ली और पूरब : श्री सत्यनारायण वशिष्ठ
संगीत कार्यालय, हाथरस : १९६९

तबलार इतिहास (बंगाली) : श्री शम्भुनाथ घोष

तबला व्याकरण (बंगाली) : श्री प्रशान्त कुमार बन्दोपाध्याय

ताल अंक : विशेषांक 'संगीत' हाथरस, उ. प्र.

ताल प्रकाश : पं० भगवत शरण शर्मा
संगीत कार्यालय प्रकाशन, हाथरस : १९७७

ताल मार्तण्ड : श्री सत्यनारायण वशिष्ठ
संगीत कार्यालय प्रकाशन, हाथरस : १९६७

ताल दीपिका : श्री मन्नू जी मृदंगाचार्य
वाराणसी

ताल परिचय भाग १, २ : श्री गिरीश चन्द्र श्रीवास्तव
संगीत सदन प्रकाशन, इलाहाबाद : १९६५

ध्वनि और संगीत : श्री ललित किशोर सिंह

नृत्य अंक : विशेषांक 'संगीत' हाथरस : १९६१

प्राचीन महाराष्ट्र च्या राजकीय आणि सांस्कृतिक इतिहास (मराठी) : श्री श्रीधर व्यं० केतकर
महाराष्ट्र ग्रंथ मण्डल, १९३५

बृहद् सूरसागर : महाकवि सूरदास
प्रभात प्रकाशन, दिल्ली : १९६६

बृहद् हिन्दी कोश : श्री कालिका प्रसाद
वाराणसी ज्ञान मण्डल, वाराणसी

भरत कोश : पं० रामकृष्ण राय कवि : १९५१

भरत नाट्य शास्त्र (संस्कृत) : भरत मुनि : अनुवाद श्रीकृष्ण दत्त वाजपेई
भातखण्डे संगीत विद्यापीठ, लखनऊ : १९५९

भरत का संगीत सिद्धान्त : आचार्य कैलाशचन्द्र देव बृहस्पति
उत्तर प्रदेश प्रकाशन ब्यूरो : १९५९

भारत ना संगीत रत्नो (गुजराती) भाग १, २ : डॉ० मूलजी भाई पी० शाह
हीमा प्रकाशन, अहमदाबाद

भारतीय ताल मंजरी : पं० गोविन्द राव बुरहानपुरकर

भारतीय संगीत का इतिहास : उमेश जोशी
मानसरोवर प्रकाशन, फिरोज़ाबाद : १९५७

भारतीय संगीत का इतिहास : पं० भगवत शरण शर्मा
संगीत कार्यालय, हाथरस

भारतीय संगीत का इतिहास : डॉ० शरद्चन्द्र पराजपे
चौखंबा संस्कृत सिरीज, वाराणसी : १९६९

भारतीय संगीत कोश : श्री विमलाकांत राय चौधरी :
अनुवाद श्री मदनलाल व्यास

भारतीय तालो का शास्त्रीय विवेचन : डॉ० अरुण कुमार सेन
मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल : १९७३

भारतीय वाद्यां चा इतिहास (मराठी) : डॉ० ग० ह० तारलेकर
महाराष्ट्र विद्यापीठ ग्रंथ निर्मिति राणे प्रकाशन,
पुणें : १९७३

भारतीय संगीत वाद्य : डॉ० लालमणि मिश्र
भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली : १९७३

भातखण्डे संगीत शास्त्र, भाग ४ : प० वि० ना० भातखण्डे
अनुवाद प्रभुलाल गर्ग, संगीत कार्यालय, हाथरस

मअदन उल मूसिकी (उर्दू) : हकीम मोहम्मद करम इमाम
संगीत कार्यालय, हाथरस

मध्य प्रदेश के संगीतज्ञ : श्री प्यारेलाल श्रीमाल
मध्य प्रदेश शासन साहित्य परिषद भोपाल : १९७३

मृदंग अंक : विशेषांक 'संगीत', संगीत कार्यालय हाथरस : १९६५

मृदंग सागर : घनश्याम दास पखावजी
नाथद्वारा, राजस्थान संवत् १९६८

मृदंग तबला वादन : पं० गोविन्द राव बुहरानपुरकर

मुसलमान और भारतीय संगीत : आचार्य कैलाशचन्द्र देव बृहस्पति
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

महाराष्ट्र चे संगीतातील कार्य (मराठी) : श्री वामन हरि देशपाण्डे
महाराष्ट्र राज्य साहित्य आणि सांस्कृतिक मण्डल, मुम्बई : १९७४

महाराष्ट्र परिचय अर्थात् संयुक्त महाराष्ट्र चा ज्ञानकोश (मराठी) : श्री चिं० ग० कर्वे
परिचय प्रकाशन, पुणे : १९६०

ये कोठेवालियाँ (उपन्यास) : श्री अमृतलाल नागर
लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद : १९७६

राग दर्पण : फकीरुल्लाह

वैदर्भीय संगीतोपासक (मराठी) : डॉ० नारायण मांगरुलकर
नागपुर : १९७४

संगीतांतील घराणीं (मराठी) : डॉ० ना० र० मारुलकर, पुणें

संगीता चे सौन्दर्य शास्त्र (मराठी) : डॉ० अशोक रानाडे, बम्बई

संगीत शास्त्र : श्री के० वासुदेव शास्त्री

संगीत का संक्षिप्त इतिहास : श्री कोकड़नी

संगीत शास्त्र और आधुनिक संगीतज्ञ : आचार्य कैलाशचन्द्र देव बृहस्पति
पद्मजा प्रकाशन, कानपुर : १९५५

संगीत रत्नाकर (संस्कृत) : शार्ङ्गदेव
अनुवाद पं० एस० सुब्रह्मण्यम् शास्त्री : मद्रास

संगीत रत्नाकर (संस्कृत) : शार्ङ्गदेव
अनुवाद : श्री लक्ष्मी नारायण गर्ग, संगीत कार्यालय, हाथरस

संगीत शास्त्रकार व कलावन्त यां चा इतिहास (मराठी) : श्री लक्ष्मण दत्तात्रेय जोशी
पुणे, १९३५

संगीत चिन्तामणि : आचार्य कैलाशचन्द्र देव बृहस्पति
संगीत कार्यालय, हाथरस : १९७६

संगीत चर्चा (गुजराती) : प्रो० आर० सी० मेहता
हीमा प्रकाशन, अहमदाबाद : १९६३

संगीत कलाधर (गुजराती) : पं० डाह्यालाल शिवराम
भावनगर संस्थान का प्रकाशन : १९०१

संगीत रजत जयंति अंक	: विशेषांक 'संगीत', संगीत कार्यालय : १९६०'
सरमाय : इशरत (उर्दू)	: सादिक अली सितार खाँ
हमारे संगीत रत्न	: श्री लक्ष्मी [illegible] जी [illegible] संगीत कार्यालय, हाथरस
अप्रकाशित ग्रंथ (जिसे प्रस्तुत पुस्तक में पोथी के नाम से सम्बोधित किया गया है)	: पं० छिदाराम, [illegible] मथुरा.
Ain-I-Akbari	: Abu-l-Fazl Translation by : H. Blockmann Aadiesh Book Depot, Delhi, 1965.
The Akbar Nama	: Abu-l-Fazl Translation by : H. Beveridge Vols. 1, 2,3, Rare Books Publication 1972
A History of Indian Music	: Swami Prajnanananda. Ramkrishna Vedanta Math Publication Department, Calcutta.
A Historical Study of Indian Music	: Swami Prajnanananda. Anandadhara Prakashan, Calcutta, 1965
Banaras School of Tabla Playing	: Dr. K. N. Bhowmick, The Journal of the Music Academy of Madras. Volume XLIV-1973.
The History of Musical Instruments	: Curt Sachs J. M. Dent & Sons, Ltd. London.
Historical Development of Indian Music	: Swami Prajnanananda
Hindustani Music: An outline of its physics and aesthetics	: Shri G. H. Ranade, Popular Book Depot, Bombay:1971.
Hindu Music	: Raja Sourindra Mohan Tagore Chaukhamba Sanskrit Series office, Varanasi-1965.
Indian Musical Traditions	: Shri V. H. Deshpande Translation by Shri S. H. Deshpande Popular Book Depot, Bombay, 1973.
The Journal of American Oriental Society Part 50	: Anand Swami

The Major Traditions of North Indian Tabla Drumming Part I & II	: Robert S. Gotlieb Musikverlag Emil Katzbichler, Munchen-Salzburg, West Germany-1977.
Maharashtra's contribution to Music	: Shri. Vaman Hari Deshpande, Maharashtra Information Centre, New Delhi-1972.
Music In Maharashtra	: Prof. G. H. Ranade Chief Information Office, New Delhi-1967.
Musical Instruments of India	: Dr. B. C. Deva National Book Trust, New Delhi.
Musical Instruments in Indian Sculpture	: Prof. G. H. Tarlekar & Smt. Nalini G. Tarlekar. Pune Vidyarthi Griha Prakashan, Poona 1972.
Music in Primitive Culture	: Brune Nett Oxford University Press, London.
Musical Instruments (Chaptar : Indian Drums)	: A. J. Hapkins
Natya Sastra	: Bharatmuni, (Sanskrit) With the commentary Abhinavabharati, Abhinava Guptacharya Vol. IV Chaptars 28, 31, 34. Gaekwad's Oriental Series. Oriental Institute : Baroda, 1964.
The Natya Sastra Vol II, Chapters 31-33	: Dr. Manamohan Ghosh
The New Oxford History of Music Vol. 1, 6, 10	
Universal History of Music	: Raja Sourindra Mohan Tagore Sen Press, Calcutta : 1896

● ●

संदर्भित लेखों की सूची

कुदऊसिंह परम्परा में पागलदास पखावजी : श्री उमेश माथुर
धर्मयुग २ मई १९६५

गुणी जन खाना : डॉ० चन्द्रमणि सिंह
राजस्थान पत्रिका १८ नवम्बर १९७७

गुरुवर्य लय भास्कर खाप्रु जी पर्वतकर या ना आर्घ्य प्रदान (मराठी) : डॉ० मलबाराव सर देसाई
विद्या, मार्च १९५७, गोवा

भाजा गुफा का इन्द्र शिल्प : श्री प्रदीप कुमार शालिग्राम मेश्राम
संगीत कला विहार, जनवरी १९८२

मअ्दन-उल-मूसीकी में संगीत चर्चा : अनुवाद, मधुसूदन शरण बेदिल
संगीत रजत जयंति अंक, १९६०

विन्ध्य प्रदेश की विभूति : मृदंग सम्राट् कुदऊसिंह : श्री बाबूलाल गोस्वामी
विन्ध्य प्रादेशिक हिन्दी साहित्य सम्मेलन, रीवा, मध्य प्रदेश द्वारा संपादित व बाबू शारदा प्रसाद अभिनन्दन ग्रंथ में संकलित

वाद्य संगीत में काशी का स्थान : संगीत कला विहार
अक्टूबर १९५७

संगीतांतील घराणी (मराठी) : प्रो० बी० आर० आठवले
सत्यकथा मासिक, सितम्बर १९६२

आभार

पखावज एवं तबला के कलाकार, इतर संगीतकार, शास्त्रकार तथा संगीत रसिको की सूची, जिनके सहयोग से प्रस्तुत पुस्तक के लिये अमूल्य जानकारी प्राप्त हो सकी। लेखिका उनकी अत्यंत आभारी है।

अमरावती : श्री दत्तु ताम्बे, उस्ताद लड्डू खाँ,

अम्बाजोगाई : श्री शंकर राव शिन्दे अप्पेगाँवकर,

अयोध्या : श्री रामशंकर दास 'पागलदास',

अहमद नगर : श्री बापू राव गुरव, श्री बाला साहेब दीक्षित, श्री चित्तरंजन पारखे, श्री रुस्तम काका हाथीदारू,

अहमदाबाद : श्री जमाल खाँ,

आगरा : श्री रघुनाथ तलेगाँवकर, श्री लल्लू सिंह, श्री सत्य नारायण वशिष्ठ,

इन्दौर : उस्ताद जहाँगीर खाँ, श्री शरद खरगोनकर, श्री चुन्नीलाल पवार, राज वैद्य बन्धु, श्री सुलेमान खाँ, डॉ० आर० वी० पंडया,

इलाहाबाद : प्रो० लालजी श्रीवास्तव, श्री गिरीश चन्द्र श्रीवास्तव,

उदयपुर : श्री नारायण स्वामी,

औरंगाबाद : श्री नाथ बुवा नेरलकर, श्री सतीश चौधरी,

कानपुर : श्री केशव आनन्द शर्मा,

कलकत्ता : उस्ताद करामत उल्ला खाँ, पंडित ज्ञान प्रकाश घोष, पंडित रायचन्द बोराल, राय बहादुर केशव चन्द्र बनर्जी, पंडित हिरेन्द्र कुमार गांगुली, स्वामी प्रज्ञानन्द, श्री राजीव लोचन दे, श्री मोण्टु बनर्जी, श्री ध्यानेश खाँ, श्री वी० बलसारा,

कटक : श्री श्रीकान्त दास, पं० केलु चरण महापात्र,

कर्हाड (महाराष्ट्र) : श्री रमाकान्त देवलेकर,

कोल्हापुर : श्री अप्पा साहेब देशपाण्डे, श्री केशव राव,

खैरागढ़ (म. प्र.) : धर्माधिकारी, श्री बाबा साहेब मिरजकर, श्री गजानन ताडे,

ग्वालियर : पंडित रामचन्द्र अग्निहोत्री, पंडित कृष्ण राव शंकर पंडित, श्री नारायण प्रसाद रतोनिया,

चंडीगढ़ : श्री एच० एस० दिलगिर,

जयपुर : श्री अमीर मोहम्मद खाँ, श्री हिदायत खाँ, श्री आशिक अली खाँ, श्री कौशल भार्गव, श्री बद्रीनाथ पारीक,

जगन्नाथपुरी : श्री क्षेत्र मोहन कौर,

जलगाँव : श्री बाला भाऊ गुरव, श्री बबन राव भवसार, श्री जयन्त एवं श्री रमेश ओक, श्री वी० के० पुराणिक,

झाँसी : राजा छत्रपति सिंह जू देव (बिजना)

दिल्ली : पंडित विनय चन्द्र मौदगल्य, श्री इनाम अली खाँ, श्री मुन्नु खाँ, श्री दासमल, श्री हीरालाल, डॉ॰ श्रीमती शन्नो खुर्राना,

धारवाड : श्री आर॰ एच॰ आई॰ श्री बसवराव भेडिगिरि,

धुलिया : श्री मधुकर गुरव, प्रो॰ जी॰ एच॰ तारलेकर, श्री बशीर पटेल,

नागपुर : श्री बाबा साहेब उत्तरवाल, श्री प्रह्लाद भजनी, श्री कोलबाजी पिंपलघरे, श्री नीलकंठ राव मूर्वे,

नाथद्वारा : गोस्वामी कल्याण राय, गोस्वामी गोकुलोत्सव, पंडित पुरुषोत्तम दास, श्री मूलचन्द,

नादेड : श्री अन्ना साहेब गुंजकर, रागी शार्दूल सिंह,

नासिक : श्री हैदर शेख, श्री वेजन देसाई,

पेण (महाराष्ट्र) : श्री विनायक राव घांघरेकर

पुणें : श्री बसन्त राव घोरपडकर, श्री एम॰ वी॰ सोलापुरकर, श्री जी॰ एल॰ सावंत,

पटना : श्री गंगा दयाल पाण्डे, प्रो॰ सी॰ एल॰ दास, श्री रामप्रवेश सिंह,

पंढरपुर : पंडित दत्तोपन्त जोशी, पंडित शंकर राव जोशी मंगलवेढेकर,

पणजी (गोवा) : डॉ॰ श्रीमन्त माली, श्री विनायक खेडेकर, डॉ॰ मलबा राव सरदेसाई,

बरेली : डॉ॰ रमा वल्लभ मिश्रा,

बम्बई : श्रीमती अन्नपूर्णा देवी, शेख अब्दुल करीम खाँ, उस्ताद अल्लारखा खाँ, उस्ताद अहमद जान थिरकवा, श्री नारायण राव इन्दूरकर, पंडित तारानाथ, श्री वामन राव ह॰ देशपाण्डे, श्री पंढरीनाथ नागेश्कर, श्री निजामुद्दीन खाँ, उस्ताद फकीर मोहम्मद उर्फ पापा खाँ, उस्ताद फकीर मोहम्मद उर्फ पीरू खाँ, श्री बशीर अहमद खाँ, श्री यशवन्त डी॰ आठवले, श्री अर्जुन सजेवाल,

बुहरानपुर : श्री श्रीकृष्ण बालाजीवाले, श्री कृष्णदास बनातवाले, श्री एकनाथ तथा श्री पांडुरंग बुहरानपुरकर,

बडोदरा : प्रो॰ सुधीर कुमार सक्सेना, पंडित भरतजी व्यास, श्री हिरजी भाई डाक्टर, श्री प्रभाकर दाते,

भोपाल : पंडित कार्तिक राम,

भुसावल : श्री रमेश बापट,

मद्रास : श्री बी॰ के॰ मिश्रा,

मिरज : श्री गणपत राव कोठेकर, श्री भानुदास गुरव,

मथुरा : श्री गोविन्द राव पखावजी,

मालेगांव : श्री मधुकर पाण्डे,

रामपुर : श्री रामजी लाल शर्मा,

रायगढ़ : ठाकुर जगदीश सिंह 'दीन', श्री फिरतु महाराज, श्री लक्ष्मण सिंह शेखावत, ठाकुर वेदमणि सिंह,

रायपुर : श्री राम धुर्वे, श्री कन्हैया लाल भट्ट, श्री सम्पत लाल, श्री उमेश शर्मा,

रत्नागिरि : श्री जी॰ एल॰ सोहनी, श्री हिरेमठ,

लखनऊ : उस्ताद आफाक हुसैन खाँ, पंडित लच्छू महाराज,

वाराणसी : ठाकुर जयदेव सिंह, पडित किशन महाराज, पडित सामता प्रसाद, श्री नागेश्वर प्रसाद मिश्र उर्फ पांचु महाराज, पडित शारदा सहाय, श्री नन्द-लाल मिश्र,

सोलापुर : श्री भीम राव कनक धर, पंडित नारायण राव जोशी मंगलवेढेकर,

सतारा : श्री डी० एच० देवधर,

सांगली : प्रो० बी० सी० देवधर, प्रो० श्रीखण्डे, प्रो० नन्द कुमार असनारे,

हैदराबाद : उस्ताद शेख दाऊद खाँ,

विविध संगीत संस्थाएँ

इन्दौर : शासकीय संगीत महाविद्यालय के भूतपूर्व प्राचार्य प्रो० पी० एन० चिचोरे एवं आचार्य गण,

ग्वालियर : शासकीय माधव संगीत विद्यालय के भूतपूर्व आचार्य श्री बाला साहेब पुछवाले,

जयपुर : राजस्थान संगीत सस्थान के भूतपूर्व प्राचार्य श्री विद्याधर व्यास एवं आचार्य गण,

दिल्ली : कथक केन्द्र के सचिव श्री केशव कोठारी एवं कलाकार गण,
दिल्ली विश्वविद्यालय के संगीत विभाग की अध्यक्षा श्रीमती डॉ० सुमति मुटाटकर एव आचार्य गण,
संगीत नाटक अकादमी के सगीत विभाग के भूतपूर्व सचिव श्री मोहन खोकर, डॉ० बी० सी० देव, श्री प्रताप पवार, श्री एस० डी० बसल एव सहकारी वर्ग,

पणजी (गोवा) : कला अकादमी के मंत्री श्री विनायक खेडेकर तथा आचार्य गण,

पुणे : भारत गायन समाज के भूतपूर्व प्राचार्य श्री एस० बी० केलकर एवं आचार्य गण,

बड़ोदरा : महाराज सियाजी राव संगीत महाविद्यालय के भूतपूर्व प्राचार्य श्री भट्ट एवं आचार्य गण,

भोपाल : ललित कला अकादमी भोपाल के निर्देशक श्री अशोक बाजपेई एवं अन्य अधिकारी गण,

लखनऊ : भातखण्डे संगीत महाविद्यालय के प्राचार्य डॉ० एस० एस० अवस्थी एवं अन्य आचार्य गण,

हैदराबाद : शासकीय संगीत एवं नृत्य महाविद्यालय के भूतपूर्व कार्यवाहक प्राचार्य श्री टी० केशव नारायण एवं अन्य आचार्य गण।

मैंने यथा सम्भव सभी सज्जनों और संस्थाओं के नाम के उल्लेख का प्रयत्न किया है। यदि भूल से कोई नाम छूट गया हो तो इसका अभिप्राय यह नहीं होना चाहिये कि वे मेरे लिये कम महत्वपूर्ण हैं। मैं इस भूल के लिये क्षमा प्रार्थी हूँ।

●●